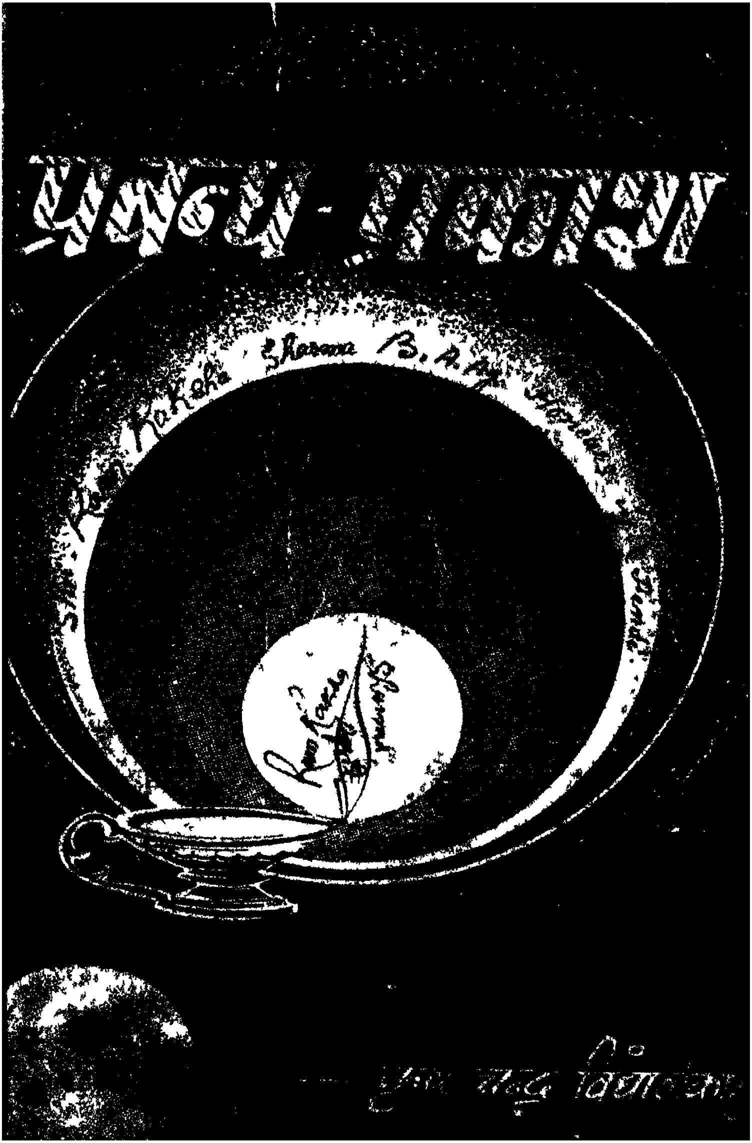


प्रबन्ध-प्रकाश

(हिन्दी के उच्चकोटि के साहित्यिक, सामाजिक तथा राजनीतिक लेख)

लेखक
श्री कृष्णचन्द्र विद्यालंकार

प्रकाशक
नव - साहित्य - मण्डल
प्रकाशक तथा पुस्तक विक्रेता
घंटाघर, सब्जीमंडी, दिल्ली।

प्रकाशक—
नव - साहित्य - मण्डल,
घंटाघर, सब्जीमंडी, दिल्ली ।

मूल्य : तीन रुपये चार आने

मुद्रक
राजकमल प्रेस,
दिल्ली ।

प्रारम्भिक वक्तव्य

हिन्दी-साहित्य के विद्यार्थियों के लिए निबन्धों की अनेक पुस्तकें सुलभ होने पर भी यह पुस्तक लिखने की आवश्यकता क्या है, यह प्रश्न सहज ही किया जा सकता है। यह प्रश्न मेरे हृदय में भी यह पुस्तक लिखने से पूर्व उत्पन्न हुआ था। मैं स्वयं हिन्दी-साहित्य के विशेषज्ञ होने का दावा नहीं करता, किन्तु पिछले दस वर्षों से एक हिन्दी-विद्यालय के प्रधानाध्यापक के नाते मुझे साहित्य की चर्चा बहुत बार करनी पड़ी है, बहुत बार सुननी भी पड़ी है। इस प्रसंग में मैंने बहुधा यह अनुभव किया है कि अनेक निबन्धकार योग्य होते हुए भी विद्यार्थियों की आवश्यकता और योग्यता से अपरिचित रहकर निबन्ध लिखते हैं। अनेक निबन्ध संग्रह तो विविध अवसरों पर पत्रों में लिखे गये अथवा सभाओं में दिये गये भाषणों का संकलन मात्र होते हैं। विद्यार्थियों की सुविधा और आवश्यकताएं उनका प्रमुख लक्ष्य नहीं रहा।

साहित्य को एक गंभीर शास्त्र का रूप देकर रहस्यवाद की तरह उसे भी दुरूह और पारिभाषिक शब्दों के आवरण में आवृत करके उपस्थित करने की शैली मुझे न पसन्द आई है और न मैं बहुत समझ ही पाया हूं। उस शैली से बचकर मैं सरल शैली में विषय को प्रस्तुत करने के पक्ष में रहा हूँ। फिर भी मैं स्वीकार करता हूं कि मेरी कार्यव्यस्तता के कारण यह पुस्तक न लिखी जा सकती और इतनी जल्दी तो कभी नहीं) यदि पुस्तक के प्रकाशक बार-बार अनुरोध करके यह पुस्तक लिखने के लिए मुझे विवश न करते।

दो शब्द इन निबन्धों के सम्बन्ध में भी। मुझे इनके लिखने के लिए काफ़ी कुछ पढ़ना पड़ा है और मुझे जो कुछ अच्छा प्रतीत हुआ, उसे मैंने यथास्थान देने का प्रयत्न किया है, जिससे विद्यार्थी का सामान्य ज्ञान बढ़े,

वह विविध विषयों पर विविध दृष्टियों से विचार करने में समर्थ हो। अनेक लेख इसी कारण कुछ लम्बे भी हो गये हैं। स्थल स्थल पर साहित्यकारों के उद्धरण देने की प्रथा शायद नई है. किन्तु उसे देने का एक विशेष प्रयोजन है, उन उद्धरणों में एक ऐसा सत्य या भाव रहता है, जिसकी व्याख्या की जा सकती है, जो प्रस्तुत विषय पर निबन्ध लिखते हुए प्रारम्भ में दिये जा सकते हैं अथवा जिनमें विषय का सार रहता है। ये उद्धरण विविध दृष्टियों से विविध लेखकों ने दिये हैं, उन सबको पढ़ने से विद्यार्थी बहुत कुछ जान जाता है। संस्कृत उद्धरणों से भी निबन्ध ज्यादा रोचक व उपयोगी हो जाते हैं।

संक्षिप्त निबन्धों में भी बहुत कुछ संकेत देने की शिकायत संभवतः की जायगी, किन्तु मैं तो श्री रवीन्द्र के इस विचार से सहमत हूं, कि 'बालक के सामने विविध भोजन सामग्री रखने में कोई ऐतराज नहीं है। वह अपने लिए आवश्यक वस्तु स्वयं ले लेगा।'

सामाजिक और सामयिक या राजनीतिक व आर्थिक प्रश्न आज के युग में बहुत आवश्यक हैं, वस्तुतः उनके लिए एक पृथक् पुस्तक लिखने की आवश्यकता है। अनुकूल समय और परिस्थिति मिलने पर ऐसे निबन्ध कुछ अधिक संख्या में लिखने का विचार भी है। फिर भी वस्तुतः पुस्तक में उनकी चर्चा विद्यार्थियों की दृष्टि से कर दी गई है, जिससे आधुनिक प्रश्नों से भी उनकी जानकारी हो जाय। कुछ लेख तो इसीलिए आलोचनात्मक की अपेक्षा सूचनात्मक जानबूझ कर रखे गये हैं।

प्रस्तुत पुस्तक लिखने के लिए जिन ज्ञात या अज्ञात लेखकों से सहायता ली गई है. उनके निकट मैं कृतज्ञ हूँ। मेरे मित्र श्री गणेश शर्मा समय-समय पर विद्यार्थियों के हितार्थ सुझाव देते रहे हैं, किन्तु उन्हें धन्यवाद देना उनके मेरे साथ सम्बन्ध का अपमान होगा। यदि कोई मित्र इन निबन्धों के सम्बन्ध में कोई सुझाव देने की कृपा करेंगे, तो मैं उनका सहर्ष स्वागत करूंगा और भावी संस्करण में उनका उपयोग करने का प्रयत्न करूंगा।

कार्तिकी पूर्णिमा २००८ वि०
दिल्ली।

—कृष्णचन्द्र विद्यालंकार

विषय सूची

साहित्यिक निबन्ध

कुछ महत्त्वपूर्ण साहित्यिक निबन्धों की रूपरेखा

सामाजिक निबन्ध

कुछ महत्त्वपूर्ण सामाजिक निबन्धों की रूपरेखा

राजनीतिक निबन्ध

प्रबन्ध-प्रकाश

निबन्ध - लेखन
तथा
साहित्यिक निबन्ध

निबन्ध-लेखन

गद्य को साहित्यकारों की कसौटी कहा जाता है और गद्य-लेखकों की कसौटी निबन्ध को माना जाता है। सचमुच आधुनिक साहित्य में उत्कृष्ट निबन्ध लेखक बहुत आदर की दृष्टि से देखे जाते हैं, परन्तु यह निबन्ध कहते किसे हैं, वह क्यों लिखा जाता है, वह कितने प्रकार का है, उसके विभिन्न अंश कौन कौन से हैं और निबन्ध लिखते समय किन किन दोषों से बचना चाहिए आदि प्रश्न एक विद्यार्थी के सामने उत्पन्न होते हैं। इन सब पर एक विहंगम दृष्टि डाल लेने से निबन्ध लिखने में हमें बहुत सुविधा हो जायेगी।

निबन्ध है क्या ?

निबन्ध संस्कृत भाषा का एक शब्द है, जिसका अर्थ है बन्धन। संभवतः पहले अलग अलग भोजपत्र या कागज़ लिखे जाकर बांधे जाते थे। बांधने की यह क्रिया ही बन्धन थी। एक कल्पना के अनुसार वही निबन्ध शब्द पीछे से एक विषय पर लिखे गये अनेक शृङ्खलाबद्ध विचारों के संग्रह के लिए प्रयुक्त होने लगा। हिन्दी शब्द सागर में इसका अर्थ यह किया गया है "बन्धन, वह व्याख्या जिसमें अनेक मतों का संग्रह हो।" निबन्ध से किसी एक विषय के सम्बन्ध में सभी ज्ञातव्य बातों का समावेश होता है और इस प्रकार उसका क्षेत्र बहुत व्यापक हो जाता है। श्री श्यामसुन्दर-दास के शब्दों में निबन्ध उस लेख को कहना चाहिए, जिसमें किसी गहन विषय पर विस्तार और पाण्डित्यपूर्वक विचार किया गया हो।

निबन्ध का उद्देश्य

निबन्ध रचना का उद्देश्य किसी विषय पर उसके सभी अंगों के साथ प्रकाश-डालना है। कविता, कहानी नाटक और उपन्यास में किसी समस्या पर

विचार तो किया जा सकता है, परन्तु इन सब में काव्य, कथानक या नाटक रचना मुख्य समस्या के सर्वाङ्गीण विचार को गौण कर देती है। काव्य कहानी या नाटक की विशेषताओं की उलझन में न जाकर निबन्धकार केवल अपने विषय के विविध अंगों पर व्यापक दृष्टि डालता है। वस्तुतः निबन्ध का उद्देश्य किसी विषय के सम्बंध में ज्ञातव्य और विचारणीय सभी पहलुओं को एक क्रम और सुन्दर शैली से प्रस्तुत करना है। पुस्तक में किसी विषय का बहुत विस्तार से विवेचन होता है, किन्तु निबंन्ध में उसे संक्षेप से प्रस्तुत किया जाता है।

एक लेखक के शब्दों में कवि, नाटककार या उपन्यासकार जीवन के विविध रूपों का यथार्थ चित्र मात्र खींचता है। एक आदर्श की ओर ले जाते हुए भी उनका मुख्य कार्य समाज का चित्रण ही है, परन्तु निबन्धकार जीवन की व्याख्या करते हुए जीवन के निर्माण और उत्थान को भी प्रेरणा देता है। "एक लीक पर चलते आये राष्ट्रीय जीवन का कांटा बदल कर उसे नये मार्ग पर आरूढ़ करना या नई विचार धारा में प्रवाहित करना प्रायः निबन्धकारों का ही काम रहा है।" साहित्यकारों को भी निबन्धकार अमर कर देते हैं। कलाकार को वही तो प्रकाश में लाता है और विशेषतः आलोचनात्मक निबन्धों के लेखक। "भाषा की भी पूर्ण शक्ति का विकास निबन्धों में ही सबसे अधिक संभव है," श्री रामचन्द्र शुक्ल की इस सम्मति में पर्याप्त सचाई है। अपने भाव प्रकाशन के लिए लेखक का भाषा पर पूर्ण अधिकार आवश्यक है। एक बात और। काव्य, नाटक, कथा आदि का सम्बन्ध मानव के हृदय से अधिक है, निबन्ध का मस्तिष्क से। इस तरह निबन्ध मानव-जीवन का पथ प्रदर्शन करते हैं।

हिन्दी में निबन्ध

आजकल के से निबन्ध लिखने की प्रथा प्राचीन काल में बहुत कम थी। संस्कृत साहित्य में तो गद्यसाहित्य कुछ उपन्यासों या आख्यायिकाओं में ही मिलता है, शेष साहित्य छन्दों में या सूत्रों में बंधा हुआ है।

दार्शनिक, राजनैतिक व्यावहारिक तथा अन्य सभी विषयों पर जो विचार किये गये हैं, वह प्रायः पद्यबद्ध हैं। आयुर्वेद और ज्योतिष तक के विद्वत्तापूर्ण ग्रन्थ भी छन्दोबद्ध हैं। इसलिए यह भी बहुत स्वाभाविक था कि रामायण या महाभारत जैसे चरित भी काव्य के रूप में ही लिखे जाते। केवल भारत ही नहीं, अन्य भी प्रायः सभी देशों में गद्य की अपेक्षा पद्य का प्रादुर्भाव और विकास पहले हुआ।

हिन्दी पर भी संस्कृत की इस परम्परा का प्रभाव पड़ा। विविध प्रान्तों में विविध रूप लेकर हिन्दी सामने आई और प्रायः सभी प्रान्तों में काव्य रूप में ही साहित्य का अभ्युदय हुआ। समय बदला, विविध प्रान्त एक दूसरे से अधिक निकट होने लगे, एक देशीयता की भावना के साथ एक ऐसी भाषा का विकास हुआ, जो अपना प्रान्तीय संकोच छोड़कर अखिल देशीय रूप धारण करती गई। हिन्दी अपने नये रूप में शिक्षित समुदाय की भाषा बन गई। साहित्य द्वारा मनोरंजन तो पद्य में संभव था, किन्तु यथार्थ जीवन के संघर्ष की समस्याओं पर गंभीर विचार गद्य में ही हो सकता था। अंग्रेजों के इस देश में आगमन के बाद तो गद्य का प्रचार बढ़ता गया। इसका मुख्य कारण था अंग्रेज सरकार और पादरियों की अपनी आवश्यकता।

अंग्रेजी साहित्य का प्रभाव—एक ओर हिन्दी गद्य का विकास होने लगा, दूसरी ओर अंग्रेजी साहित्य का प्रभाव हिन्दी पर पड़ने लगा। अंग्रेजी कहानियों, नाटकों और उपन्यासों के साथ साथ निबन्ध लेखन की दीक्षा भी हिन्दी लेखकों ने अंग्रेजी साहित्य से ली। यह स्वाभाविक भी था। अंग्रेजी का गद्य साहित्य बहुत विकसित था। कविता और नाटक आदि में तो हमारी अपनी संस्कृत भाषा भी बहुत कुछ दे सकती थी, किन्तु निबंध की दृष्टि से तो हमारा भारतीय साहित्य शून्यप्राय था।

हिन्दी निबन्ध के तीन युग—भारतेन्दु युग में निबंध रचना का प्रारंभ हुआ। इसी समय हिन्दी समाचार पत्रों के आविर्भाव के साथ विविध विषयों पर प्रतिदिन लेख लिखे जाने की आवश्यकता विशेष रूप से अनुभव

की गई। निबंध देश की आवश्यकता थी। राजनैतिक, धार्मिक सभी क्षेत्रों में देश अभ्युदय की ओर जा रहा था और इन सभी क्षेत्रों में सैंकड़ों विषयों पर निबंध लिखे गये। भारतेन्दुयुग के बाद द्विवेदीयुग और द्विवेदी युग के बाद वर्तमानयुग में साहित्य के सर्वाङ्गीण विकास के साथ साथ निबन्ध साहित्य का भी विकास हुआ। इस दृष्टि से श्री भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, श्री प्रतापनारायण मिश्र, पं० बालकृष्ण भट्ट, आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी, श्री बालमुकन्द गुप्त, पं० माधवप्रसाद मिश्र, श्री पद्मसिंह, श्री रामचन्द्र शुक्ल, श्री श्यामसुन्दरदास, श्री इन्द्र विद्यावाचस्पति, श्री जयशंकरप्रसाद, श्री जैनेन्द्र, श्री गुलाबराय, श्री हरिभाऊ उपाध्याय, श्रीमती महादेवी वर्मा, श्री हजारी-प्रसाद द्विवेदी आदि ने क्रमशः निबन्ध साहित्य को विकसित करने में सहयोग दिया है। समय के साथ साथ निबन्ध विषय, भाषा तथा दृष्टिकोण सभी में निरन्तर विकास हुआ है।

निबन्ध के भेद

हिन्दी के निबन्ध-साहित्य का क्षेत्र बहुत विस्तृत रहा है। इसमें कुत्ता, बिल्ली और गौ से लेकर सामाजिक, ऐतिहासिक और आलोचनात्मक सभी विषयों पर निबन्ध लिखे गये हैं। निबन्धों का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक है और उसके भेद भी बीसियों किये जा सकते हैं, फिर भी विषय क्रम से स्थूल विभाजन निम्न रूप से किया जा सकता है—

(१) वर्णनात्मक।
(२) चरितात्मक या विवरणात्मक।
(३) विचारात्मक।
(४) साहित्यिक या आलोचनात्मक।

ऐसे निबन्ध, जिनमें पशुओं, पक्षियों, नगरों, नदियों, पर्वतों, प्राकृतिक दृश्यों, विभिन्न पदार्थों तथा संस्थाओं आदि का वर्णन किया जाता है, वर्णनात्मक निबन्ध कहे जाते हैं। रेल, तार, जहाज आदि सभी वैज्ञानिक आविष्कारों के लेख इसी कोटि में आते हैं। प्रदर्शनी, दिनचर्या, त्योहार आदि भी इसी श्रेणी के निबन्ध हैं।

विवरणात्मक या चरितात्मक निबन्धों में बीती हुई घटनाओं का वर्णन रहता है। ऐतिहासिक घटनाओं, महापुरुषों की जीवनियों, यात्राओं आदि से सम्बन्ध रखने वाले सभी लेख इस कोटि में आते हैं। वर्णनात्मक लेखों से विवरणात्मक लेखों में एक अन्तर होता है। वर्णनात्मक निबन्ध में केवल किसी पदार्थ, नगर, दृश्य आदि का चित्रण किया जाता है, जब कि विवरणात्मक निबन्धों में घटनाक्रम का परिचय दिया जाता है। पहले क्या हुआ, फिर क्या हुआ और इसके बाद क्या हुआ, आदि।

विचारात्मक निबन्ध में किसी अमूर्त विषय पर—समस्या या जीवन-तत्व आदि पर विचार किया जाता है। दया, क्रोध, करुणा, परोपकार, सत्य, ग्राम्य-जीवन, स्त्री-शिक्षा, दरिद्रता, बेकारी, देश-प्रेम, जनतन्त्र आदि सैकड़ों अमूर्त विषयों पर लेखक विचार करता है, इनके गुण-दोष और हानि-लाभ की आलोचना करता है।

आलोचनात्मक निबन्ध प्रायः साहित्यिक होते हैं। साहित्य की किसी रचना अथवा साहित्य के किसी 'वाद' पर जब लेखक आलोचनात्मक दृष्टि डालता है, तो वे लेख इसी कोटि में आते हैं।

ये विभाग ऐसे नहीं हैं, जो एक दूसरे से बिलकुल अलग किये जा सकें। एक प्रकार के लेख में दूसरी कोटि के लेख की थोड़ी-बहुत सामग्री आ ही जाती है। वर्णनात्मक लेख में थोड़ा-बहुत विचार रहता ही है और विचारात्मक लेख में थोड़ा-बहुत विवरण या वर्णन रहता ही है। 'गो॰ तुलसीदास का काव्य-सौष्ठव' साहित्यिक लेख है, किन्तु इसमें उनके जीवन का संक्षिप्त विवरण दिया जा सकता है। करुणा पर विचारात्मक निबन्ध लिखते हुए किसी विधवा या दलित का चित्र खींचा जा सकता है। कुछ लेखकों ने निबन्धों की सिर्फ दो श्रेणियाँ मानी हैं—बहिरंग और अन्तरंग। स्थूल वस्तुओं या घटनाओं का वर्णन बहिरंग निबन्ध की कोटि में और अमूर्त भावों का विवेचन अन्तरंग कोटि में समाविष्ट होता है।

निबन्ध लिखने से पहले

सामग्री—कोई भी निबन्ध लिखने से पहले यह आवश्यक है कि हमें मालूम हो कि हम क्या लिखने जा रहे हैं। लेख की सामग्री क्या है और हम सब कुछ लिख कर पाठक को क्या विचार देना चाहते हैं ? सामग्री का चयन निबन्धकार की सबसे बड़ी आवश्यकता है। वर्णनात्मक और विवरणात्मक लेखों में तो अपने साक्षात् अनुभव तथा कुछ पुस्तकों के अध्ययन से काम चल जाता है। ऐतिहासिक या चरित-सम्बन्धी लेखों के लिये पुस्तकों का आश्रय लेना ही होगा, परन्तु विचारात्मक या साहित्यिक लेखों के लिये अध्ययन के साथ-साथ पर्यटन, सत्संग, निरीक्षण और मनन भी आवश्यक हैं। तर्क और आलोचना की शक्ति न होगी, तो विचारात्मक लेख लिखना सम्भव न होगा। जितना अधिक अध्ययन होगा और जितनी अधिक चिन्तन शक्ति होगी, उतना ही निबन्ध उत्कृष्ट लिखा जायगा।

लेखन शैली

कहानी, उपन्यास या नाटक की भांति निबन्ध के भी दो पक्ष होते हैं—अन्तरंग और बहिरंग। निबन्ध में हम जो कुछ लिखते हैं, जो कुछ कहना चाहते हैं, वह सब सामग्री लेख का अन्तरंग पक्ष है। किन्तु जिस तरह भोजन केवल पेट भरने की दृष्टि से तैयार नहीं किया जाता, उसे स्वादु और आकर्षक रूप से भी प्रस्तुत किया जाता है, इसी तरह आप जो कुछ कहना चाहते हैं, उसे भी आकर्षक व मनोरंजक रूप से रखना आवश्यक है अर्थात् लेखन शैली भी सुन्दर आकर्षक व प्रभावोत्पादक होनी चाहिए। शैली को सुन्दर, आकर्षक तथा प्रभावोत्पादक बनाने के लिए उसमें निम्नलिखित गुण होने चाहिए—

(१) सामग्री में क्रम ठीक हो।

(२) भाषा का प्रवाह और ओज गुण हो। इसके लिए अलंकारों, मुहावरों व लोकोक्तियों का प्रयोग अच्छा रहता है।

(३) विषय और पाठक के अनुरूप भाषा हो।

(४) भाषा व्याकरणसम्मत हो।

एक अंग्रेज़ी कहावत है कि दर्ज़ी मनुष्य का निर्माण करता है अर्थात् बढ़िया सिले हुए कपड़े मनुष्य को प्रभावोत्पादक रूप में प्रस्तुत करते हैं। उसी तरह निबन्ध की शैली ही उसे पठनीय व प्रभावोत्पादक बनाती है।

भाषा

शब्द—शैली में सबसे अधिक महत्व भाषा का है और भाषा में शब्दों का। शब्दों का ठीक और शुद्ध प्रयोग नहीं होगा, तो भाषा विश्रृंखल बन जायगी,।

१—हर एक शब्द में अपनी अपनी भाव-प्रकाशन शक्ति होती है। एक ही अर्थ के विभिन्न शब्दों में भी सूक्ष्म भेद होता है। श्रृंगार रस में नायिका के लिए रमणी का प्रयोग उचित होगा। पीड़ित दयनीय स्त्री के लिए महिला या कामिनी की अपेक्षा अबला ठीक रहेगा। लेनिन महापुरुष था, पर महात्मा नहीं। गांधी जी के लिए दोनों शब्द प्रयुक्त हो सकते हैं। भयंकर ग्रीष्म के वर्णन में सूर्य के लिए भास्कर का प्रयोग अच्छा होगा, सविता या रवि का नहीं।

२—समानार्थक प्रतीत होने वाले शब्दों में भेद रहता है। अस्त्र और शस्त्र में, अहंकार तथा गर्व में, मंत्रणा तथा परामर्श में, उत्साह और उद्योग में, कष्ट तथा व्यथा में अन्तर होता है। इन शब्दों की एक संक्षिप्त सूची पृथक् दी गई है।

३—बहुत से शब्द अशुद्ध लिखे जाते हैं। उनका अक्षरक्रम (स्पैलिंग) ठीक नहीं होता।

४— इसी तरह कुछ ऐसे शब्द होते हैं, जिनका रूप प्रायः समान होते हुए भी उनके अर्थ में भेद रहता है। ऐसे शब्दों का प्रयोग सावधानी से करना चाहिए। अन्त और अन्त्य एक-से शब्द दीखते हैं, किन्तु दोनों के अर्थ बिलकुल भिन्न हैं—समाप्त और नीच। अनल और अनिल के अर्थ क्रमशः अग्नि और वायु हैं। प्रसाद का अर्थ प्रसन्नता है, किन्तु प्रासाद का अर्थ है भवन। ऐसे कुछ शब्द भी एक पृथक् सूची में गिनाये गये हैं।

५—परस्पर विरोधी अर्थ देने वाले शब्दों का ज्ञान भी लेखक को होना चाहिये और पर्यायवाची शब्दों का भी। एक प्रसंग में एक शब्द का बार-बार

प्रयोग बुरा लगता है। पर्यायवाची शब्द और भिन्न वाक्य-रचना के द्वारा यह दोष दूर किया जा सकता है।

६—उपसर्गों के प्रयोग से शब्दों के अर्थ बिलकुल बदल जाते हैं, यह भी लेखक को ध्यान में रखना चाहिये।

७—सन्धि और समास के नियमों का भी पालन नहीं किया गया, तो भाषा विशृंखल हो जाती है। संस्कृत के तत्सम शब्दों का प्रयोग ठीक होना चाहिये। उनके विकृत रूप ब्रजभाषा में तो चल जाते थे, किन्तु खड़ी बोली में उनका रूप अशिष्ट हो गया है।

भाववाचक संज्ञाओं में भाववाचक प्रत्यय नहीं लगाने चाहिये। ऐक्य या एकता ही ठीक है, ऐक्यता नहीं। आलस्यता और शैशवत्व अशुद्ध रूप हैं, आलस्य और शैशव ठीक हैं। लिंग और वचन सम्बन्धी अशुद्धियों से भी बचना चाहिये।

वाक्य—शब्दों की तरह वाक्य-रचना में भी बहुत सी अशुद्धियाँ हो जाती हैं। वाक्य के सम्बन्ध में निम्नलिखित बातों का ध्यान रखना चाहिये।

१—वाक्य छोटे-छोटे हों, उलझे हुए न हों। संयुक्त एवं मिश्रित वाक्य और विशेषकर लम्बे-लम्बे वाक्य निबन्ध रचना के लिये अच्छे नहीं होते। नौसिखिये लम्बे वाक्य लिखने में कई भूलें कर देते हैं। वाक्य कर्मवाच्य से प्रारम्भ होता है और क्रिया कर्तृवाच्य की हो जाती है। फिर बड़े वाक्य पाठक के मस्तिष्क पर जोर डालते हैं। जो, जिससे, जहाँ आदि का प्रयोग बहुत अधिक नहीं होना चाहिये।

२—वाक्यों में क्रिया और कर्म का अन्वय ठीक रहना चाहिये।

३—मुहावरों और कहावतों के प्रयोग से भाषा बहुत सजीव हो उठती है, इसलिये वाक्य में मुहावरों का प्रयोग रहे तो अच्छा रहता है।

४—मिश्र और संयुक्त वाक्यों में विरामों के चिन्ह अवश्य लगाने चाहिये। प्रत्येक वाक्य की समाप्ति पर पूर्णविराम, विस्मयादिबोधक या प्रश्नचिन्ह लगाने चाहिये।

अलंकार और मुहावरे

शब्द-चयन और वाक्य रचना के उक्त नियमों पर ध्यान देने के अनन्तर शैली की दृष्टि से दो-एक और बातों का ध्यान रखना चाहिये। भाषा आलंकारिक और साहित्यिक होनी चाहिये, किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि साहित्यिक छटा या शब्द-जाल से आपका विषय ढक जाय। यह स्मरण रखना चाहिये कि निबन्ध की आत्मा उसकी सामग्री है, भाषा नहीं। भाषा तो उसे कलेवर मात्र प्रदान करती है। कुछ नौसिखिये विद्यार्थी साहित्यिक व आलंकारिक भाषा बनाने के लिये रूपक और उपमा अलंकारों की भरमार कर देते हैं, अथवा प्राकृतिक दृश्यों के वर्णन, महापुरुषों की प्रशंसा, किसी स्थिति के चित्रण से ही लेख आरम्भ करते हैं और ऐसे प्रसंगों को व्यर्थ शब्दजाल से पूर्ण करने में निबन्ध श्रेष्ठता की समझते हैं। किसी समय नारी बीसियों आभूषण पहनती थी, आज तो वह दो-एक हल्के-हल्के, परन्तु परिष्कृत रुचि के आभूषण पहनकर ही अधिक सुन्दर प्रतीत होती है, बहुत-से गहनों की भरमार से फूहड़ दीखती है। इसी तरह भाषा की सजीवता उसकी साहित्यिक शब्दच्छटा के बाहुल्य में नहीं होती। सीधी-सादी पर मुहावरेदार भाषा अधिक सजीव होती है, कठिन शब्दों के प्रयोग से वह अधिक बोझीली और दुर्गम हो जाती है। उसमें प्रसाद गुण नष्ट हो जाता है।

निबन्ध के अंग

निबन्ध के तीन भिन्न-भिन्न अंग होते हैं—भूमिका, प्रसार और उपसंहार—इन तीनों का परस्पर उचित अनुपात शैली की एक बड़ी विशेषता है। यदि इनका परस्पर अनुपात ठीक नहीं रहेगा, तो निबन्ध बिलकुल बिगड़ जायगा। साधारणतः भूमिका, प्रसार और उपसंहार में १ : ४ : १ का अनुपात होना चाहिये। भूमिका में विषय से या उसकी पृष्ठभूमि से परिचय होता है, अथवा प्रतिपाद्य वस्तु के लक्षण और स्वरूप का उल्लेख होता है। प्रसार में विषय का पूर्ण विवेचन, युक्तितर्क, प्रमाण, भेद आदि का विवेचन रहता है। उपसंहार में

समस्त लेख का सारांश अथवा मुख्य विचार का उल्लेख और समारोप रहता है। इन तीनों पर कुछ अधिक विस्तार से विचार की आवश्यकता है।

भूमिका कैसे प्रारम्भ की जाय, इस सम्बन्ध में कोई नियम नहीं बताये जा सकते। फिर भी कुछ संकेत दिये जाते हैं, जिससे विद्यार्थी लाभ उठा सके।

(क) किसी कवि, महात्मा, शास्त्र या लेखक का प्रभावोत्पादक उद्धरण।

(ख) किसी कहानी अथवा ऐतिहासिक घटना का संक्षिप्त उल्लेख।

(ग) निबन्ध के विषय की परिभाषा और स्वरूप।

(घ) निबन्ध के प्रतिकूल विषय लेकर (तुलनात्मक व विचारात्मक लेखों में)।

(ङ) निबन्ध के विषय की आवश्यकता का प्रतिपादन।

(च) एकदम विषय को लेकर।

किसी विषय की भूमिका या प्रस्तावना कैसे प्रारम्भ की जाय, यह लेखक को स्वयं सोचना चाहिए, परन्तु उसे इतना स्मरण रखना चाहिए कि इसी पर लेख की सफलता निर्भर है।

प्रसार या विवेचन—लेख का मुख्य भाग यही होता है। लेखक की विद्वत्ता, योग्यता और प्रतिभा आदि का ज्ञान इसी भाग से होता है। लेखक को यह स्पष्ट होना चाहिए कि उसे क्या कहना है, दो भिन्न पक्षों में वह किस पक्ष का समर्थन करना चाहता है, अपने विचार की पुष्टि में उसके पास क्या तर्क है और क्या प्रमाण। यह सब सामग्री उसे एक काग़ज़ पर नोट कर लेनी चाहिए, फिर उसे क्रमबद्ध करना चाहिए। हर बात के लिए अलग अलग परिच्छेद होना चाहिए। अच्छा हो कि शीर्षक बीच बीच में लगाये जावें। विभिन्न परिच्छेदों, शीर्षकों तथा उपशीर्षकों से लेख कुछ

रोचक हो जाता है, बीच-बीच में पड़ाव आ जाने के कारण थका देने वाला नहीं बनता।

कभी-कभी हम किसी विवादास्पद विषय पर लेख लिखते हैं। ऐसे लेखों में पहले पूर्व पक्ष और पीछे उत्तर पक्ष देना चाहिये। जो बात आप कहना चाहते हैं, वही उत्तर पक्ष है। बार-बार दोनों को लाने से पाठक गड़बड़ा जाता है।

लेख में प्रमाण और आप्त पुरुषों के उद्धरण देने चाहिये, किन्तु वे सब प्रसंग के अन्दर ही रहने चाहिये। कहानी या ऐतिहासिक घटना का भी संकेतमात्र करना चाहिये, न कि उसे लिखने में ही एक बड़ा अंश ले ले। सत्य पर लिखते हुए राजा हरिश्चन्द्र या झूठे गड़रिये की पूरी कहानी की अपेक्षा उसका निर्देशमात्र करना ठीक रहेगा।

उपसंहार—प्रस्तावना की भांति उपसंहार लिखने में भी कुशलता की आवश्यकता है। उसकी भांति उपसंहार भी छोटा होना चाहिये। इसमें युक्तिक्रम की अपेक्षा भावुकता का अधिक आश्रय लेना चाहिये, क्योंकि उसका प्रभाव देर तक रहता है। उपसंहार में समस्त लेख का सारांश भी प्रकट किया जा सकता है। समस्त लेख का निष्कर्ष भी अन्त में लिखा जा सकता है।

इस तरह निबन्ध लेखन की शैली के अन्तर्गत हमने निम्नलिखित विषयों की चर्चा की—

शब्द, वाक्य, भाषा में सरलता, प्रवाह आदि के गुण, प्रस्तावना, प्रसार और उपसंहार—इन तीनों भागों में परस्पर अनुपात।

समानरूप शब्द

नीचे कुछ ऐसे शब्द दिये जाते हैं, जो एक से दीखते हैं, किन्तु वस्तुतः उनके अर्थों में बहुत भेद है। विद्यार्थियों को उनमें भेद जानकर ठीक शब्द का प्रयोग करना चाहिए।

शब्द	अर्थ	शब्द	अर्थ
अर्घ	जलदान, मूल्य	अर्घ्य	पूजनीय, पूजा द्रव्य
अनल	आग	अनिल	हवा
अवलम्ब	आश्रय	अविलम्ब	शीघ्र
अपेक्षा	इच्छा	उपेक्षा	निरादर
अभिज्ञ	जानने वाला	अनभिज्ञ	न जानने वाला
आकर	खान	आकार	शक्ल
केसर	शेर की गर्दनके बाल	केशर	कुंकुम
द्विप	हाथी	द्वीप	टापू
परुष	कठोर	पुरुष	आदमी
प्रकार	रीति	प्राकार	किले का परकोट
प्रसाद	प्रसन्नता	प्रासाद	महल
परिणाम	नतीजा	परिमाण	मात्रा
मनोज	कामदेव	मनोज्ञ	सुन्दर
लक्ष	लाख	लक्ष्य	निशाना
वसन	कपड़ा	व्यसन	बुरी आदत
शकल	खण्ड	सकल	सम्पूर्ण

अर्थों का सूक्ष्म भेद

कुछ ऐसे शब्द होते हैं, जिनके अर्थों में कोई भेद नहीं दीखता, किन्तु वस्तुतः अर्थभेद होता है। ऐसे शब्दों के प्रयोग में बहुधा लेखक भूल कर जाते हैं।

अज्ञ	जिसे ज्ञान न हो	मूर्ख	जड़ बुद्धि
अलौकिक	इस लोक में दुर्लभ	अस्वाभाविक	प्रकृति से प्रतिकूल
अस्त्र	दूर से वार करने का हथियार	शस्त्र	पास रहकर मारने का हथियार

अर्पण	छोटों की ओर से बड़ों को देना	प्रदान	बड़ों की ओर से छोटों को देना
वेदना	पीड़ा, विशेषतः हार्दिक या मानसिक	यातना	शारीरिक कष्ट
क्लेश	शारीरिक पीड़ा	दुःख	मानसिक दुःख
निन्दा	सच्चा दोष लगाना	अपवाद	झूठा दोष लगाना
प्रेम	समान आयु वालों की प्रीति	स्नेह	बड़ों की छोटों पर प्रीति
श्रद्धा	सद् विषय में निष्ठा	भक्ति	छोटों की बड़ों में प्रीति
पूजा	बड़ों के प्रति सम्मान	अर्चना	देव मूर्ति का धूप आदि से सत्कार
प्रार्थना	किसी को कुछ देने या करने के लिए नम्रता पूर्वक कहना	निवेदन	नम्रता पूर्वक किसी से कहना
मंत्रणा	गुप्त बातचीत या सलाह	परामर्श	सलाह
विलाप	रोकर दुःख प्रकट करना	प्रलाप	पागलों की तरह कही हुई व्यर्थ की बातें
लज्जा	वह मनोभाव जो स्वभावतः अथवा संकोच, दोष आदि के कारण दूसरों के सामने सिर उठाने या बोलने नहीं देता।	ग्लानि	अपनी दशा या दोष आदि देखकर मन में होने वाला खेद।
सहानुभूति	किसी का दुःख देखकर उससे दुःखी होना	करुणा	मन का वह दुःखद भाव जो दूसरों के दुःख देखने से उत्पन्न होता है, वह दुःख दूर करने की प्रेरणा करता है।
स्पर्धा	दूसरों से बढ़ने की इच्छा	ईर्ष्या	दूसरेकी उन्नति देखकर जलना
सेवा	बड़ों की परिचर्या	शुश्रूषा	रोगी की सेवा

साहित्य का स्वरूप

रूपरेखा—

१—साहित्य का लक्ष्य—विद्वानों में मत भेद—विविध लक्ष्य।

२—सीधे साधे शब्दों में—जो शब्द-रचना पाठक का मनोरंजन करती है, उन्हें रस देती है और लेखक के हृदय के भाव दूसरे व्यक्ति पर प्रकट करती है, वह साहित्य है।

३—साहित्य में एक प्रकार की रागात्मकता या संवेदना का अनुभव।

४—रागात्मकता का रहस्य—स्थायी सत्यों का अनुभव।

५—बाह्य जगत के साथ आत्मीयता या सहकारिता ही साहित्य का प्रमुख कार्य।

६—केवल साहित्यकार के मनोभाव नहीं, समाज का प्रतिनिधित्व भी साहित्य करता है।

विविध लक्षण—बहुत प्राचीनकाल से जिन प्रश्नों पर विद्वानों में घोर मतभेद रहा है, उनमें से एक यह भी है कि साहित्य क्या है? भारतीय विद्वान् हों या विदेशी विद्वान्, साहित्य की परिभाषा पर वे एक मत नहीं हुए। एक भारतीय विद्वान् ने शब्द और अर्थ के सहित होने को साहित्य कहा, तो दूसरे आचार्य ने अलंकार या रीति को ही साहित्य माना है। विश्वनाथ ने "रसात्मक वाक्य" को साहित्य कहा तो श्री जगन्नाथ ने "रमणीयार्थ प्रतिपादक शब्द" को साहित्य या काव्य का नाम दिया। भारतीय विद्वानों की तरह विदेशी विद्वानों में भी साहित्य के लक्षण पर बहुत मतभेद रहता है। एमर्सन "सत्य विचारों के आकलन" को साहित्य कहते हैं, तो दूसरे विद्वान मनोरंजक रीति से मनोवेगों के चित्रण को साहित्य कहना चाहते हैं। एक फ्रांसीसी लेखक उन रचनाओं को साहित्य का नाम देते हैं,

जिससे चारित्रिक सत्य तथा मनुष्य के मनोवेगों को व्यापक, गम्भीर उत्तेजना मिलती है और जो एक युग की निधि होने पर सार्वभौमिक हो। फ्रोर्ड-मैडक्स आनन्द अथवा सुरुचिपूर्ण सभ्यता संस्कृति की प्राप्ति के लिये पढ़ी जाने वाली रचनाओं को साहित्य का नाम देते हैं। रामायण या महाभारत काव्य सैकड़ों हजारों सालों से लाखों करोड़ों नर-नारियों को आनन्द प्रदान करते रहे हैं, इसीलिये उन्हें साहित्य कहा जाता है। मानव की संवेदनाओं, अनुभूतियों और मनोवेगों के प्रकाशन को कुछ विद्वान् साहित्य मानते हैं, तो कवि वर्ड्सवर्थ हृदय की अनुभूतियों के उद्गार को साहित्य का नाम देते हैं और प्रसिद्ध कलाकार टालस्टाय कला का जन्म तब मानते हैं जब एक व्यक्ति अनुभूति के आवेग को दूसरों तक पहुँचाने में समर्थ होता है। साहित्य के लक्षण को अत्यन्त कठिन मानते हुए ही डाक्टर जानसन ने तो यहाँ तक कहा कि कविता के शुद्ध लक्षण करने की अपेक्षा यह कहना अधिक सरल है कि साहित्य क्या-क्या नहीं है।

साहित्य हृदय तक पहुंचता है

भारतीय और विदेशी विद्वानों ने जितने भी लक्षण किये हैं, यदि उनकी भूलभुलैया में न पड़कर सीधी-सादी भाषा में साहित्य का अर्थ बताना चाहें, तो कह सकते हैं कि जब कोई शब्द-रचना दूसरे का मनोरंजन करती है, उसे रस देती है और लेखक के अपने हृदय के भाव को दूसरे पर अभिव्यक्त करती है, तो वह साहित्य है। ज्योतिष, विज्ञान, भूगोल आदि जनता का ज्ञानवर्धन करते हैं, किन्तु उनसे पाठक या श्रोता का हृदय तृप्त नहीं होता, वे रस-लाभ नहीं करते। साहित्य हृदय को उत्तेजना देता है, तो विविध विज्ञान मस्तिष्क को। साहित्य के द्वारा लेख सीधे पाठक या श्रोता के हृदय तक पहुँचता है। तुलसीदास, कालिदास या जयशंकरप्रसाद की कविता पढ़कर हम कवि के हृदय के साथ आत्मीयता अनुभव करते हैं। इनकी रचनाओं में एक प्रकार की रागात्मकता या संवेदना होती है, जो हृदय को छूती है और वही रागात्मकता ही उसे साहित्य का स्वरूप प्रदान करती है। विज्ञान की

पुस्तक में प्रदर्शित सत्य अधिक स्थायी होते हैं, किन्तु न्यूटन के गुरुत्वाकर्षण का सिद्धान्त पढ़ने के लिये स्वयं उसकी पुस्तक पढ़ने की आवश्यकता नहीं होती, इसके विपरीत तुलसीदास की रामायण का आनन्द लेने के लिये उसी की रचना पढ़नी पड़ती है। इसका एक कारण है कि वैज्ञानिक की रचना में उसका अपना व्यक्तित्व कहीं प्रतिबिम्बित नहीं होता, जब कि कविता की प्रत्येक पंक्ति में कवि की छाया स्पष्ट रहती है।

जीवन के स्थायी सत्य—सैकड़ों हजारों साल बाद भी रामायण और महाभारत के महाकाव्य या कालिदास व भवभूति की रचनाएँ हमें रसलाभ कराती हैं। इसका रहस्य क्या है ? इसका मुख्य कारण यह है कि साहित्यकार जीवन के स्थायी सत्यों का अनुभव करता है, जो आदिकाल से आज तक सत्य चले आते हैं, आजसे हज़ार साल पूर्व जिन कारणों से मानवों के मनोवेग तरंगित होते थे, आज भी उन्हीं कारणों के उपस्थित होने पर वह तरंगित होते हैं। इसीलिए एक हज़ार वर्ष पुरानी कविता भी आज हमें प्रसन्न करती है। कविता पुरानी होते हुए भी कवि के भाव पुराने नहीं होते। अनादि काल से पुरुष किसी सुन्दर स्त्री को देखकर मुग्ध होता आया है, अपने प्रिय के वियोग में रोता आया है। मनोवेगों का यह अनुभव ही जीवन का प्रमुख है। मनोवेग ही मनुष्य की इच्छाओं को जन्म देते हैं, उन्हीं से मनुष्य के क्रिया कलाप की उत्पत्ति होती है। जीवन के इस रहस्यमय चित्र को आकर्षक व मनोरंजक रीति से प्रकाशित करने का नाम ही साहित्य है। मानव जाति के इस जीवन को शाश्वत माना जाता है। इसीलिए हम रामायण में दशरथ का विलाप पढ़कर स्वयं रोने लगते हैं। जो जीवन और आत्मा दशरथ में थे वही जीवन आज हममें है। साहित्य शब्द सहित शब्द में भाववाचक प्रत्यय लगाने से बनता है और इसका अर्थ होता है समन्वय या साहचर्य अर्थात् किन्हीं दो तत्वों का परस्पर सहयोग या मेल। वस्तुतः साहित्य में भी जब हमारे मनोवेग तरंगित होते हैं, तब हम बाह्य जगत के साथ अपना ऐक्य स्थापित कर लेते हैं—उससे आत्मीयता या अपनापन

कायम कर लेते हैं। यही सहकारिता साहित्य का आधार है। इसी तादात्म्य सम्बन्ध को 'रस' कहा जाता है और रस वाले वाक्य को भारतीय आचार्यों ने काव्य या साहित्य का नाम दिया है।

साहित्य में समाज का प्रतिबिम्ब

जब साहित्यकार चाहता है, तब अपने यथेष्ट मनोवेग को पाठक के हृदय में तरंगित कर देता है। करुणा, क्रोध, प्रेम, निर्वेद और शान्त के मनोभाव जब साहित्यकार के हृदय में उत्पन्न होते हैं, तब वह पाठक के हृदय में भी उन्हें जागृत कर देता है, किन्तु यह समझना भ्रमपूर्ण है कि साहित्य केवल अपने स्रष्टा के मनोवेगों या संवेदनाओं का प्रकाशन है। साहित्यकार साहित्य की रचना करते समय अपने चारों ओर के समाज से भी सम्पर्क रखता है, उसका प्रतिनिधित्व करता है, उसका चित्रण करता है। वह समाज का यथार्थ चित्रण करता है। गो० तुलसीदास सन्त थे, किन्तु रावण, कुम्भकर्ण और कैकेयी या मंथरा का भी चित्रण उन्होंने किया है। प्रेमचन्द के रंगभूमि, गबन, गोदान आदि उपन्यासों का प्रधान विषय समाज के विविध दृश्यों—किसान, मजदूर, मिलमालिक और जमींदार आदि सबका चित्रण है। साथ ही यह कहना भी असत्य है कि लेखक अपने हृदय के मनोभावों को अपनी रचना में नहीं लाता। वस्तुतः उसके हृदय के मनोवेग ही साहित्य में रस घोलते हैं। समाज का चित्रण करते हुए भी लेखक अपने व्यक्तित्व को प्रकट किये बिना नहीं रहता। रामचरितमानस और रामचन्द्रिका दोनों में रामायण की एक ही कथा है, किन्तु उनके लेखकों के दृष्टिकोण, हृदय और मनोवेगों की भिन्नता से ही दोनों में आकाश-पाताल का अन्तर आ गया है। दोनों मानव-जीवन के प्रति भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण रखते हैं और इसलिए दोनों ने जीवन के पृथक्-पृथक् अंग का ही आलोचन किया है। जो कवि जितना अधिक दूरदर्शी, उदार, सच्चरित्र होगा, वह उतना ही अधिक जीवन के सात्विक रूप को पाठक के सामने उपस्थित करके सृष्टि के आदि से चले आये सत्-भाव को उसमें जागृत करेगा।

साहित्य का उद्देश्य

रूपरेखा

१—कला कला के लिए—कला की सार्थकता मनोरंजन और रसलाभ में—रसलाभ ही चरम उद्देश्य।

२—आदर्श आदि बन्धनों से स्वतंत्र व निर्मर्याद कला—यथार्थ का सुन्दर चित्रण साहित्य का उद्देश्य—नैतिकता और कला के पृथक क्षेत्र।

३—कला जीवित मानव के लिए है, अतः जीवन से उसे असम्बद्ध नहीं किया जा सकता।

४—क्या कला केवल उपदेश बन जाय?

५—आदर्श के साथ कला का—यथार्थ और आदर्श का समन्वय।

६—सत्यं शिवं सुन्दरम् का आदर्श, पर कला की स्वतंत्रता की रक्षा।

कला कला के लिए

जब विवेकशील मनुष्य का प्रत्येक कार्य किसी उद्देश्य को लेकर होता है, तब यह आश्चर्य की बात ही है कि कुछ साहित्यकार साहित्य का जीवन के लिए मनोरंजन के अतिरिक्त कोई प्रयोजन नहीं समझते। इस श्रेणी के साहित्यकार कहते हैं कि कला का मानव जीवन से या समाज के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। कला का अपना क्षेत्र है और वह है उसका काल्पनिक संसार। कवि कविता करता है ताकि हम उसमें रस ले सकें। एक लेखक नाटक या उपन्यास लिखकर समाज का एक यथार्थ चित्र खींच देता है, उसका उद्देश्य पूर्ण हो गया, भले ही उससे समाज को ऊंचा उठने की प्रेरणा मिले या न मिले। वे कला को, सौंदर्य को, रस को या आनन्दानुभूति को ही चरम उद्देश्य समझते हैं। कला को वे किसी बन्धन में बांधना उसकी आत्मा की हत्या समझते हैं, भले ही वह बन्धन सत्य अथवा आदर्श का बंधन हो। उनका कहना है कि आदर्श के बन्धन में बांधना तो उपदेशक और धार्मिक वक्ता

का क्षेत्र है। कला की सार्थकता स्वच्छन्दता और मुक्त वातावरण ही में है। साहित्य का उद्देश्य समाज का पूर्ण चित्र खींच देना है। कलावादी साहित्य का क्षेत्र ही इस संघर्षमय संसार से दूर कल्पना के मनोराज्य में समझते हैं और कहते हैं कि कला संसार में हमारा सम्बन्ध बढ़ाती नहीं, बल्कि इसकी स्थूलता से मुक्ति का मार्ग बताती है। कला का उद्देश्य सांसारिकता नहीं, अलौकिकता है। यह जीवन को आगे ले चलने का साधन नहीं है। संक्षेप में कविता का—साहित्य का साम्राज्य संसार में नहीं, बल्कि उस मनोदेश में हैं, जो हमारे दुःखों से बहुत दूर है। इसी धारणा से साहित्यकार समाज के अच्छे और बुरे का यथार्थ चित्र खींच देता है। हम उसमें रस तो ले लेते हैं, किन्तु उससे हमारे जीवन को कोई सत्प्रेरणा नहीं मिलती। एक नग्न स्त्री का कामुकता-वर्धक चित्र खींचने में उसे कोई आपत्ति नहीं है, यदि वह चित्र कलापूर्ण हो। वह उच्छृङ्खल और अमर्याद समाज का सुन्दर चित्र खींचने में भी अपनी कला की सफलता समझता है, भले ही इससे राष्ट्र की आत्मा पतन की ओर प्रवृत्त हो। वह तो स्पष्ट कहता है कि मुझे तुम्हारे जीवन से कोई प्रयोजन नहीं, यह कार्य तो धर्मोपदेशक का है, मैं तो उस कला का पुजारी हूं, जो निर्द्वन्द्व स्वच्छन्द होकर सौंदर्य में—रसानुभूति में ही—अपनी सार्थकता समझती है। रीतिकाल का अधिकांश साहित्य इसी दृष्टिकोण से लिखा गया है और आज का भ्रष्ट कामुकतापूर्ण कहानी साहित्य भी इसी धारणा का परिणाम है। आदर्श के बंधन में बांधने से कला निर्जीव और मृत हो जायेगी, ऐसा मानकर कलावादी साहित्यकार स्वच्छन्द वातावरण में विचरता है। 'कला कला के लिए' यह उसका मूल मंत्र है।

यूरोप में

यूरोप में आदर्श के बन्धन से कला को स्वतंत्र देखने वाले अनेक विचारक हुए हैं। स्पिनगार्न नामक एक साहित्यिक की सम्मति में "साहित्य का एक ही उद्देश्य है सौन्दर्यबोध, क्योंकि सौंदर्य की प्राप्ति स्वयं एक उद्देश्य है। हम सुन्दरता की प्राप्ति किसी अन्य उद्देश्य को पूर्ण करने के

लिए नहीं करते। सौन्दर्य का नैतिक शिक्षा से न विरोध है और न मेल। नैतिकता और सौन्दर्य परस्पर इसी तरह असंबद्ध वस्तुएं हैं, जिस तरह एक मकान और नैतिकता।" श्री ब्रैडले भी कविता को धर्म, संस्कृति, नैतिक-शिक्षा आदि प्राप्त करने का साधन नहीं समझते, वे उसे केवल रस प्राप्ति का साधन समझते हैं। छायावादी और रहस्यवादी कवि भी जब संघर्षमय और दुःखमय संसार को छोड़कर काल्पनिक आकाश और कृत्रिम आध्यात्मिक वातावरण में विचरने लगे थे, तब वे भी कला को वर्तमान भौतिक जीवन के साथ नत्थी करने का विरोध करते हुए इसी प्रकार का युक्तिक्रम देते थे।

आदर्श के साथ सम्बन्ध

तब क्या कला और साहित्य का इस लोक के साथ—मानव के सुख-दुःख, कठोर जीवन की समस्याओं और नैतिक विकास के साथ—कोई सम्बन्ध नहीं? क्या कला कलामात्र—मनोरंजनमात्र के लिए है? क्या साहित्य मानवजाति को उन्नत करने में प्रेरणा नहीं देता?

इन प्रश्नों का उत्तर 'नहीं' में तो नहीं दिया जा सकता। जब कला है ही जीवित मानव के लिए, तब उसकी उपयोगिता भी उसके लिए अनिवार्य है। निर्जीव शरीर के लिए कला का कोई अर्थ नहीं। वह है ही सजीव मनुष्य के लिए। यदि वह उसको उठाने के स्थान पर नीचे गिरा देती है, उसकी समस्याओं को सुलझाने की बजाय उलझा देती है, नैतिक विकास में सहायक न होकर बाधक बनती है, तो वह अत्यन्त सुन्दर होने पर भी, सर्वथा अनुपयोगी और त्याज्य है।

मनुष्य में पशुत्व अवश्य है, किन्तु वह देवत्व से ऊपर नहीं है। यह ठीक है कि वह समय-समय पर देवत्व को दबा कर ऊंचा उठने का प्रयत्न करता है, देवत्व सो जाता है, निश्चेतन हो जाता है, किन्तु वह नष्ट नहीं होता। उत्कृष्ट साहित्य उसी देवत्व को जागृत करने और अपने स्थान पर प्रतिष्ठित करने का प्रयत्न करता है। यह काम वह उपदेश देकर, शिक्षा देकर, वेद-स्मृति से मन्त्र और श्लोक सुनाकर नहीं करता। वह तो पाठक या श्रोता के मनोभाव

को स्पन्दित करके, मन के कोमल तारों पर चोट लगाकर प्रकृति से सामञ्जस्य उत्पन्न करके देवत्व को जागृत करता है। 'टाम काका की कुटिया' नामक उपन्यास ने अमरीकन गोरों के देवत्वभाव को जागृत करने का कार्य किया। साहित्य समाज के आदर्शों की सृष्टि करता है। व्यास और बाल्मीकि के आदर्श आज भी भारत का सिर ऊंचा किये हैं। उन्होंने जीवन की उपेक्षा नहीं की थी, जीवन उनके साहित्य का उद्देश्य था। बुराइयों का नग्न चित्र खींचने में नहीं, जीवन को असत् से सत् की ओर ले जाने में ही कला की सफलता है।

तब क्या कवि या साहित्यकार को आदर्श का ही प्रचार करना होगा? क्या उसे उपदेशक की भांति प्रवचन करना होगा? क्या समाज का यथार्थ चित्र खींचने की अपेक्षा उसे केवल वेद और गीता की कथा कहनी होगी? समाज का यथार्थ चित्रण न करके वह एकांगी चित्र को ही सामने रखेगा? क्या कला को आदर्श के बन्धनों में बांधकर वह निर्जीव बना देगा? क्या जीवन में प्रत्येक प्रश्न का उपयोगिता की दृष्टि से ही विचार होगा? क्या कला, मनोरंजन और रस का साहित्य में कोई स्थान नहीं है? क्या कवियों और कलाकारों ने जो सौन्दर्य अपनी रचनाओं में भर दिया है, वह सब धर्म-ग्रन्थों के सामने फेंक देने योग्य है? क्या बाल्मीकि, कालिदास, सूर और तुलसी, रवीन्द्र या जयशंकरप्रसाद की रचनाओं का कोई महत्त्व नहीं?

आदर्श और यथार्थ का समन्वय

नहीं, ऐसा भी तो नहीं है। कला या सौन्दर्य का जीवन में असाधारण स्थान है। उसकी किसी तरह उपेक्षा नहीं की जा सकती, किन्तु हम उसी कला को आदर देंगे, जो सुन्दर हो, पर हानिकारक न हो। हम आदर्शवाद का समर्थन करने वाली कला को ग्रहण करेंगे। हम सर्दियों में सुन्दर कपड़े तो पहनेंगे, किन्तु ऐसा नहीं, जो शीत से रक्षा में असमर्थ, केवल सुन्दर हों। हम स्वादु भोजन पसन्द करेंगे, किन्तु ऐसा नहीं, जो केवल स्वादिष्ट हो और लाभ की बजाय हमारे लिए अस्वास्थ्यकर हो। स्वादु भी हो, लाभकारी भी

हो, सुन्दर भी हो और आवश्यकताओं की पूर्ति भी करता हो। कड़वी कुनैन की जगह मीठा चढ़ी कुनैन लेंगे, परन्तु मीठा विष नहीं लेंगे। हम नग्न रमणी के उत्तेजक चित्र की अपेक्षा गोद में सुन्दर बच्चे को लिए माता का वात्सल्यपूर्ण चित्र देखना चाहेंगे। इसी तरह सुन्दर रसोद्रेककारी अलंकारपूर्ण साहित्य मे भी हम आदर्श, स्फूर्ति और प्रेरणा की आशा करेंगे। सत्य बोलो, यह उपदेश है, परन्तु एक सुन्दर कथा द्वारा सत्य की प्रेरणा कला है। हम साहित्य या कला में भी जीवन का सत्य देखेंगे, आदर्श की झलक देखेंगे।

सत्यं शिवं सुन्दरम्

गोस्वामी तुलसीदास और रूस के कलाकार टालस्टाय इस दृष्टि से हमारे आदर्श कलाकार हैं। दोनों की रचना में कला है, हृदय रस की विशुद्ध अनुभूति है, साहित्य के कलापक्ष का पूर्ण चमत्कार है, किन्तु दूसरी ओर दोनों जीवन को—मानव को, आदर्श की ओर—पवित्रता की ओर ले जाते हैं। तुलसी ने रावण, मारीच या ताड़का का भी वर्णन किया है, सीता-हरण का सजीव चित्र खींचा है। किन्तु राम, लक्ष्मण, भरत और सीता जैसे ऊंचे पावन चरित्र पाठक को असत् से सत् की ओर ले जाते हैं। रावण और अन्य राक्षसों से युद्ध हृदय में अन्याय के प्रति क्रोध का संचार करते हैं। रामायण में सौन्दर्य के साथ सत्य और कल्याण की भावना है। यही 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' का आदर्श ही उत्कृष्ट कला की कसौटी है। वह कला जो आदर्श का विरोध करती है, जीवन का ही विरोध करती है। कला का उद्देश्य श्रेय और हेय दोनों को निरपेक्ष भाव से सामने रखना नहीं है। सच्चा कवि जीवन के प्रति उपेक्षा दिखा ही नहीं सकता। वह तो त्याज्य पर उपादेय की विजय दिखाकर मानव को श्रेय मार्ग पर चलने की प्रेरणा देता है। रावण, कंस या दुर्योधन की दुर्गति यही शिक्षा देती है।

स्व० प्रेमचन्द ने अपने उपन्यासों में कला और सत्य का, यथार्थ और आदर्श का सुन्दर समन्वय किया है। उनमें यथार्थ का चित्रण है, ग्राम का, समाज में होने वाले पाप, शोषण और अत्याचार का चित्रण है, किन्तु वह

उपन्यास पर हावी नहीं हो जाता। वे जिस आदर्श की शिक्षा देना चाहते हैं, उपन्यास का घटना क्रम पाठक को उधार ही ले जाता है। प्रसाद के नाटक भी आदर्श की ओर ले जाते हैं। उनके कामायनी काव्य में—जो उत्कृष्ट कला का एक सुन्दर उदाहरण है—स्वेच्छाचारी निरंकुश मनु नहीं, कामायनी या श्रद्धा एक विशेष सन्देश देती है। वस्तुतः "कविता ने संसार की बड़ी सेवा की है। वह दुःख में आंसू, सुख में हँसी और समर में तलवार बनकर मनुष्यों के साथ रहती है। मनुष्य की चेतना को ऊर्ध्वमुखी रखने में कविता का प्रबल हाथ रहा है।" बिहारी के एक दोहे ने महाराज जयसिंह को जागृत कर दिया था। चारणों के वीर काव्य से योद्धा सदा प्रेरणा पाते रहे हैं। कविता ने एक ओर जागृत पौरुष का रूप धारण किया है, तो दूसरी ओर कबीर, तुलसी, मीरा और नानक के पद आज भी मानव को सत्पथ का निर्देश करते हैं। मानव को आदर्शपथ पर अग्रसर करती हुई कला ही उपयोगी और ग्राह्य है।

कला की स्वतन्त्रता

तब क्या साहित्य में केवल भावपक्ष ही की प्रधानता है, कलापक्ष सर्वथा गौण है? नहीं, ऐसा करने से तो साहित्य साहित्य न रहेगा। कला की अपनी सत्ता है, आदर्श का लक्ष्य रखते हुए भी उसे अपने स्वरूप में स्वतन्त्रता का अधिकार है? नित्य बदलने वाले फैशन की तरह साहित्य को भी कला के रूप बदलने का अधिकार है। अभिव्यंजना, भाषा, छन्द, शैली और अलंकार आदि के लिए उसे काव्यशास्त्रियों द्वारा शिकंजे में कस देना कला की हत्या है और उसी बन्धन से मुक्ति ही कला की रक्षा है।

साहित्यकार हमारा पथ-प्रदर्शक होता है, वह हमारे मनुष्यत्व को जगाता है। हममें सद्भावों को भरता है और हमारी दृष्टि को फैलाता है। केवल मन बहलाना तो भाटों और मदारियों, विदूषकों और मसखरों का काम है।

—प्रेमचन्द

कविता के स्वरूप में भावों के ढांचों में ढालने के पूर्व भाषा को हृदय के ताव में गलाकर कोमल, करुण, सरस तथा प्राञ्जल कर लेना पड़ता है।

पन्त

कविता हमें सूक्ष्म और स्थूल से हटाकर अलौकिक तथा मधुर आनन्द के देश में पहूँचाती है। हम गद्य की नियमित शुष्कता से जितना अधिक ऊपर उठ सकें, कवि कला की सफलता उतनी ही अधिक मानी जानी चाहिए।

—दिनकर

नीतिशास्त्र और साहित्य शास्त्र का लक्ष्य एक ही है—केवल उपदेश की विधि में अन्तर है। नीतिशास्त्र तर्क और उपदेश के द्वारा मन और बुद्धि पर प्रभाव डालने का प्रयत्न करता है, साहित्य ने अपने लिए मानसिक अवस्थाओं और भावों का क्षेत्र चुन लिया है।

—प्रेमचन्द

"पंकज में यथार्थ और आदर्श, शरीर और चैतन्य, मृत और अमृत का एकत्व है। पंकज—पंक से उत्पन्न शुभ्र शतदल। इस तरह यथार्थ आदर्श का जनक है। पार्थिव कर्दम अन्तरात्मा को उन्फुल्ल चेतना का उद्भावक है।"

—शान्तिप्रियद्विवेदी

सत्य की पूजा सौंदर्य में है, विष्णु की पूजा नारद की वीणा में है।

—रवीन्द्रनाथ ठाकुर

"सत्यं शिवं सुन्दरम्" विज्ञान, धर्म और काव्य के परस्पर संबन्ध का सूत्र है। विज्ञान केवल सत्य को ओर जाता है, 'शिवं' उसके लिए गौण और 'सुन्दरं' उपेक्षा की वस्तु है ····· धार्मिक शिव की ओर ले जाता है, इसी में उसके लिए सत्य की प्रतिष्ठा है। उसकी लक्ष्मी शिवं और सुन्दरं का समन्वय है, जिस प्रकार सरस्वती में सत्यं और सुन्दरं का समन्वय है। ····· किन्तु साहित्यिक सत्यं, शिवं, सुन्दरं तीनों की उपासना करता हुआ सुन्दरं को प्राधान्य देता है।

—गुलाबराय

कविता और विज्ञान

रूपरेखा

१—कविता और विज्ञान—दोनों एक दूसरे के विरोधी से दीखते हैं—कविता काल्पनिक जगत की वस्तु है, सच्चा लाभ नहीं पहुंचाती।

२—दोनों जीवन के लिए आवश्यक हैं। विज्ञान ने मानव को नया युग दिया है, प्रकृति पर विजय पाकर व्यावसायिक उन्नति के द्वारा आज के सुख प्रदान किये हैं। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में विज्ञान का सहयोग।

कविता ने मानव के हृदय को विकसित किया है, हृदय को प्रेरणा दी है, उसे कर्तव्य का पाठ पढ़ाया है, देश के लिए हंसते हंसते मरना सिखाया है।

३—दोनों का क्षेत्र अलग अलग है, विरोधी नहीं। कवि अन्तर्दृष्टि रखता है, वैज्ञानिक बहिर्दृष्टि। कवि प्रकृति में भी जीवन देखता है, वैज्ञानिक मनुष्य को जड़-प्रकृति के रूप में देखता है। दोनों अपने-अपने क्षेत्र में मानव के कल्याणकारी। कवि प्रेरणा देता है, वैज्ञानिक उसे सक्रिय रूप।

परस्पर विरोध का आभास

साधारणतः कविता और विज्ञान नाम लेने से ऐसा बोध होता है कि हम दो परस्परविरोधी वस्तुओं का नाम ले रहे हैं। वैज्ञानिक यह समझता है कि कविता मानव जाति को पीछे को ओर ले जाती है, संसार की उन्नति के लिए जीवन-संघर्ष से रोककर आलस्य और विलासमय जीवन की ओर ले जाती है तथा निष्कर्मण्य बना देती है। कविता मनुष्य को वास्तविक जीवन से—जीवन को कठोर समस्याओं से—बहुत दूर कल्पना के मनोराज्य में ले जाती है, जिसका हमारे जीवन की दृष्टि से कोई उपयोग नहीं है। कविता के विरोधी यह मानते हैं कि कविता केवल हृदय की एक उच्छृंखल मर्यादाहीन स्फुरणमात्र है या हवाई उड़ान है। यह कभी-कभी चित्त का विनोद तो कर देती है, किन्तु जीवन को सबल बनाने की

शक्ति उसमें नहीं है। वह तो जीवन के वास्तविक साहस, महत्वाकांक्षा व प्रेरणा-दायक स्फूर्ति को नष्ट कर देती है। इस प्रकार के विचारकों की दृष्टि में "कविता एक विषैली मदिरा, एक अविश्वसनीय सेवक तथा घातक स्वामी है।" विभिन्न धर्मों के नेता व आचार्य कविता को इसी हीन दृष्टि से देखते आये हैं। सांसारिक दृष्टि से उन्नत व्यवसायी, व्यापारी तथा वैज्ञानिक सब कविता को एक काल्पनिक जगत् समझते हैं, जिसका जीवन से कोई सम्बन्ध नहीं।

युगान्तरकारी विज्ञान—वैज्ञानिक यह दावा करते हैं कि वर्तमान संसार की समस्त प्रगतिशीलता और युगान्तरकारिता का श्रेय विज्ञान और व्यवसाय को है। विज्ञान के नये-नये चमत्कार और व्यावसायिक उन्नति द्वारा समस्त संसार में आर्थिक क्रान्ति, ये दो विशेषताएँ वर्तमान संसार की हैं। विज्ञान ने वस्तुतः सम्पूर्ण संसार को ही बदल दिया है। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में विज्ञान परम सहायक बन्धु सिद्ध हो रहा है। हमारे उठने, बैठने, चलने, सोने, पढ़ने, लिखने, भोजन और पानी सब में विज्ञान ही हमारा सहायक है।

इसके उत्तर में कविता-प्रेमी कहते हैं कि वर्तमान अविवेकपूर्ण प्रगति तथा मानव जाति की विध्वंसात्मक प्रवृत्ति के लिए विज्ञान का अभिशाप ही उत्तरदायी है। इसके विपरीत कविता ने मानव के हृदय और आत्मा का विकास किया है। वेद-मन्त्रों के गान ने प्राचीन भारत में एक प्रगतिशील सभ्यता को जन्म दिया। समर्थ गुरु रामदास के अभंग पदों ने समस्त महाराष्ट्र में और गुरु नानक की कवित्वमयी वाणी ने पंजाब में नव चेतना को जन्म दिया। भूषण के वीर काव्य और चारणों के गीतों ने युद्ध में वीरों को आत्मोत्सर्ग की प्रेरणा दी।

इस तरह कविता और विज्ञान परस्पर विरोधी रूपों में हमारे सामने उपस्थित होते हैं, किन्तु क्या सचमुच इन दोनों में परस्पर घोर विरोध है? क्या ये दोनों एक समान रूप से जीवन के लिए आवश्यक नहीं हैं? क्या कविता या विज्ञान किसी एक को बिलकुल समाप्त कर देना चाहिए?

दोनों आवश्यक

नहीं, वस्तुतः ये दोनों पक्ष एकांगी हैं। सचाई यह है कि मानव-समाज को दोनों की जरूरत है। उसे भौतिक उन्नति भी करनी है और अपने मानसिक धरातल को भी ऊँचा करना है। विज्ञान यदि मानव-जीवन के भौतिक रूप को सामने रखता है, तो कविता में उसका अन्तरात्मा तरंगित होती है। विज्ञान मस्तिष्क को प्रतिभाशाली बनाकर कार्यक्षम बनाता है, तो कविता उसके हृदय को सहानुभूति व दया से पूर्ण कर कार्यक्षम बनाती है। विज्ञान की सहायता से कवि भी अपने दृष्टिकोण को और व्यापक व उदार बनाता है। जहां पहले उसकी आंख केवल आत्मिक जगत् को देखती थी, अब वह भौतिक जगत् का विश्लेषण करने लगता है। दूसरी ओर काव्य-सागर में स्नान करने से नीरस वैज्ञानिक की बुद्धि में माधुर्य की वृद्धि होकर सरसता का समावेश हो जाता है। विज्ञान और कविता के क्षेत्र भले ही अलग-अलग हों, वे दोनों हैं उत्पादक शक्तियां। सिर्फ दोनों के दृष्टिकोण और क्षेत्र में भेद है। वह भेद क्या है ?

दोनों का क्षेत्र भिन्न है, विरोधी नहीं

साहित्य और विज्ञान में प्रथम मुख्य भेद यह है कि कवि पाठक के हृदय और उसके मनोभावों को तरंगित करता है, जब कि वैज्ञानिक पाठक के मस्तिष्क में कोई विचार उत्पन्न करता है। साहित्य और विज्ञान में दूसरा अन्तर यह है कि जब वैज्ञानिक किसी वस्तु के ऊपरी तत्व को देखता है, तब कवि या साहित्यिक की अन्तर्दृष्टि उस वस्तु के भीतर कुछ ढूंढ़ने का प्रयत्न करती है। प्रत्येक वैज्ञानिक गुलाब के फूल का विश्लेषण करके उसकी रचना के सम्बन्ध में एक ही परिणाम पर पहुंचता है, परन्तु प्रत्येक साहित्यिक फूल के सौन्दर्य और गन्ध पर भिन्न-भिन्न कल्पनाएं करके उसका अलग-अलग रीति से वर्णन करता है। कवि फूल पर उन सब भावों को आरोपित कर देता है, जो हमारे जीवन को सुखमय बनाते हैं। चन्द्र पृथिवी से कितनी दूर है, वह किन तत्वों से बना है, उसका क्षेत्रफल कितना है, उसे प्रकाश कहां से

मिलता है, यह सब बताकर वैज्ञानिक चुप हो जाता है, किन्तु डा० सूर्यकान्त के शब्दों में यही चन्द्रमा "कवियों के कल्पनामय जगत् में साहित्य-संसार का श्रृङ्गार, प्रेमियों का सुधागार, वियोगियों का विषागार, उपमाओं का भण्डार और उत्प्रेक्षाओं का आधार" बन जाता है। एक वैज्ञानिक तारों को दूरबीन से देखकर उनका आकार, प्रकार और उनके निर्माण-तत्व बताकर शान्त हो जायगा, किन्तु कवि उन्हीं में "विरह-वेदना का समुद्र उमड़ता पाता है। कभी कवि उनमें प्रेयसी के नेत्रों का आभास देखता है, तो दूसरे क्षण आकाश की नीली चुन्नी में सलमों के रूप में" तारों का दर्शन करता है। "कवि की यह अन्तर्दृष्टि ही—उसकी यह दृश्यमान जगत् पर मनचाहा रंग फेरने की शक्ति ही—उसकी रचना में उसके अपने व्यक्तित्व की छाप बिठा देती है, जब कि एक वैज्ञानिक की रचना में कहीं उसके अपने दर्शन नहीं होते।" वैज्ञानिक के सामने चांद, तारे या गुलाब के फूल के पटल और पराग निर्जीव बनकर आते हैं, किन्तु कवि के क्षेत्र में पहुंच कर वहां हृदय और जीवन से अनुप्राणित होकर फड़क उठते हैं। गुलाब के फूल में उसे उसी सौरभपूर्ण सौन्दर्य की प्राप्ति होती है, जो उसे बालक के तुतलाते ओठों और तापस-बालाओं की मुस्कराहट में या ध्यानपूर्वक देखने पर नदी तथा आकाश में खुले हाथों दीख पड़ता है। "दरअसल विज्ञान का सम्बन्ध निर्जीव पदार्थों के निर्जीव विश्लेषण से है, साहित्य उन निर्जीव पदार्थों में भी जीवन को जागृत करके उनके साथ कवि और पाठक दोनों की आत्मीयता कायम करता है।"

वैज्ञानिक मनुष्य के शरीर को कुछ पार्थिव पदार्थों का संघात बताता है। एक वैज्ञानिक ने बताया था कि लोहा, फासफोरस, नमक आदि तत्त्वों की दृष्टि से म० गांधी के शरीर का मूल्य केवल छः आने था, किन्तु कवि के लिये मनुष्य ईश्वर का अंश है। वह मनुष्य को महान् शक्ति के रूप में देखता है। वैज्ञानिक के लिए मनुष्य प्रकृति का एक अंगमात्र है, कवि के लिए प्रकृति भी मानवीय चेतन रूप धारण कर लेती है। वैज्ञानिक प्रकृति को वश में करने का प्रयत्न करता है, पर कवि उसे जीवन प्रदान करता है। उसके रूप में परम आत्मा के दर्शन करता है। प्रकृति उसके लिए आलम्बन भी है, उद्दीपन भी। दोनों के दृष्टिकोण भिन्न भिन्न हैं, जिसके कारण दोनों किसी वस्तु के अलग अलग पहलू को देखते हैं।

इससे यह स्पष्ट है कि कवि और वैज्ञानिक के क्षेत्र और दृष्टिकोण परस्पर भिन्न तो है, किन्तु उन्हें परस्पर विरोधी नहीं कहा जा सकता। वे दोनों मानव जीवन के दो अलग अलग पहलू हैं, जो साथ साथ चल सकते हैं। दोनों में सामंजस्य होना ही जीवन के लिए श्रेयस्कर है।

दोनों में सामंजस्य

यदि हम इतिहास पर दृष्टि डालें, तो भी हमें यह मालूम होगा कि पहले भी कविता और विज्ञान के परस्पर विरोध की बजाय सामंजस्य ही अधिक विद्यमान था। ग्रीस की जिस भूमि में मस्तिष्क ने दर्शन-विज्ञान का विकास किया था, ग्रीस की उसी भूमि में हृदय ने एथिनियन कविता को भी जन्म दिया था। अंग्रेजी के प्रसिद्ध कवि मिल्टन ने अपने 'पैराडाइज़ लास्ट' में प्रसिद्ध वैज्ञानिक गैलिलियो के सिवा किसी आदमी का नाम तक नहीं लिया। भारत में भी दर्शन-विज्ञान और कविता का परस्पर विरोध नहीं रहा। ज्योतिष, आयुर्वेद जैसे वैज्ञानिक ग्रन्थों में भी काव्य-प्रतिभा के दर्शन होते हैं। भारत के प्राचीन-दर्शन या आत्म-विज्ञान के सिद्धान्त तथा काव्य दोनों एक ही प्रतिभा से उद्भूत हुए थे। यदि आज संसार में विज्ञान ने उन्नति की है, तो इङ्गलैण्ड, फ्रांस, जर्मनी और भारत में उत्कृष्ट काव्यप्रतिभा के भी दर्शन हुए हैं तथा काव्यक्षेत्र में विभिन्न विचारधाराओं का विकास हुआ है। आज कार्लमार्क्स का भौतिक दृष्टिकोण, जो उसके प्रगति-विज्ञान का परिणाम है, काव्य में कम नहीं मिलता।

कविता और विज्ञान के परस्पर सामंजस्य का परिणाम भी सुन्दर हुआ है। विज्ञान से कवि को बल तथा सत्य की प्राप्ति हुई है, कवि वास्तविक जगत् के अधिक निकट आया है, उसकी वाणी में सचेष्टता आई है। वैज्ञानिक ने भी कवि से अन्तर्दृष्टि ही प्राप्त नहीं की, उसकी ऊंची कल्पनाओं को साकार रूप देने की भी सफल चेष्टा की है।

आज भारत में भी वैज्ञानिकों, दार्शनिकों और कवियों को एक दूसरे से आदान-प्रदान करके चलना होगा। कवि प्रेरणा देता है, विज्ञान उसे सक्रियता, बल और सक्षमता प्रदान करता है।

हिन्दी का स्वर्णिम काल – भक्तिकाल

रूपरेखा

१—हिन्दू जाति के जीवन में राम व कृष्ण का प्रभाव—साहित्य पर अनिवार्य छाप।

२—मुसलमानो की विजय से उत्पन्न परिस्थितियाँ—राम और कृष्ण जैसे वीर नेताओं का आश्रय।

३—निर्गुण कवि—इनकी विशेषताएँ।

४—सूफियों के प्रेममार्गी काव्य—जायसी, कुतबन, मंझन।

५—सगुण शाखा—राम और कृष्ण काव्य।

६—कृष्णकाव्य की देन रस, भक्ति, काव्य का कलापक्ष आदि; सूर, तुलसी, केशव, मीरा, रसखान आदि उत्कृष्ट कवि।

राम और कृष्ण का व्यापक प्रभाव

भारत में प्राचीन काल से जिन धार्मिक समुदायों का प्रभाव रहा है, उनमें सर्वप्रमुख वैष्णव सम्प्रदाय है। और विष्णु के भी २४ अवतारों में से राम और कृष्ण का समस्त राष्ट्र पर जितना व्यापक प्रभाव है, उतना अन्य किसी का नहीं। वस्तुतः राम और कृष्ण तो समस्त भारत में और भारत के समस्त जीवन में ओतप्रोत हैं। अयोध्या, हरिद्वार, मथुरा, वृन्दावन, जगन्नाथ, रंगनाथ, द्वारिका, बद्रीनाथ आदि वैष्णव तीर्थ समस्त भारत में फैले हुए हैं। विजयादशमी, रामलीला और जन्माष्टमी या गोपाष्टमी आदि त्योहार भी वैष्णव धर्म के प्रभाव के द्योतक हैं। छोटे बच्चे बाल गोपाल ही कहलाते हैं। राम-राम, सीताराम, जय श्रीकृष्ण, राधेश्याम आदि अभिवादन हिन्दू जाति के जीवन में फैले हुए राम व कृष्ण के प्रभाव को प्रकट करते हैं। बहुत से नगरों, ग्रामों और व्यक्तियों के नाम राम व कृष्ण के नामों पर रखे जाते हैं। सीतामऊ, रामपुर, रामगढ़, गोविन्दगढ़, रघुनाथपुर, किशनगढ़ आदि शहर और रामचन्द्र, लक्ष्मण, कृष्ण, गोविन्द, गोपाल, देवकीनन्दन,

वासुदेव, सीताराम, रामकुमार, वैदेहीशरण, मैथिलीशरण, राधावल्लभ, कन्हैया-लाल, गोपीनाथ रुक्मिणी, जानकी, आदि हज़ारों नाम हिन्दू जाति में सर्वाधिक लोकप्रिय हैं। जो राम और कृष्ण हिन्दू जाति के जीवन में इतने ओतप्रोत हों, उनका हिन्दी साहित्य पर प्रभाव पड़ना अनिवार्य था। साहित्य समाज के जीवन का प्रतिबिम्ब होता है। यदि उसमें राम-कृष्ण-काव्य न होता, तभी आश्चर्य होता। हर एक देश और काल का साहित्य तद्देशीय और तत्कालीन समाज का दर्पण होता है। भारत और पश्चिम की संस्कृति व जीवन-सम्बन्धी दृष्टिकोण पृथक् पृथक् हैं, इसलिए दोनों के साहित्य भी भिन्न भिन्न हैं।

भक्तिकाव्य की परिस्थितियां

जब मुसलमान आक्रमणकारियों का प्रतिरोध करने में अनेक प्रयत्नों के बावजूद हिन्दू सफल न हो सके और प्रायः समस्त भारत का चित्र हरे रंग से व्याप्त हो गया, तब हिन्दू नेताओं को दो भय हुए। एक तो यह कि हिन्दू इस अप्रत्याशित दुर्घटना से निराश होकर सदा के लिए अतीत गौरव को ही भूल जाएंगे और फिर कभी हिन्दुओं के उत्थान की आशा भी कठिन हो जायगी। दूसरा भय यह था कि विदेशियों ने पहले भी भारत में प्रवेश किया था और अनेक प्रदेशों पर उनका अधिकार भी हो गया था, किन्तु वह सब बौद्ध, शैव या वैष्णव धर्म स्वीकार करके भारतीय हो गये थे। अब मुसलमान एक हाथ में तलवार और दूसरे हाथ में कुरान लेकर आये थे। वे रणक्षेत्र में ही विजय न करते थे, तलवार के ज़ोर पर वे हिन्दू मन्दिरों और मूर्तियों क भी ध्वंस कर हिन्दुओं को मुसलमान बना रहे थे। हिन्दू धर्म के लोप या ध्वंस होने का खतरा पैदा हो गया था। ऐसे निराशापूर्ण अवसर पर हिन्दू नेताओं ने राम और कृष्ण जैसे वीर, पराक्रमी महापुरुषों का आश्रय लिया। दोनों केवल विष्णु के अवतार के रूप में नहीं पूजे जाते थे, किन्तु दोनों रावण और कंसादि आततायियों को मारने के कारण हिन्दू जाति के इतिहास में वीर नेता के रूप में भी ख्याति प्राप्त कर चुके थे। ऐसे भयङ्कर घोर निराशामय वातावरण में वे ही दोनों महापुरुष हिन्दू जाति की रक्षा कर सकते थे। यही

कारण है कि हिन्दू सन्तों ने दोनों रूपों में आराध्य की पूजा की और यही कारण था कि सगुण काव्य राम और कृष्ण नाम की दो शाखाओं में बंट गया। धर्मप्राण हिन्दू-समाज ने इन दोनों की शरण लेकर अपनी संस्कृति और अपने धर्म की सचमुच किसी न किसी रूप में रक्षा कर ली।

यह कहना असंगत और भ्रान्त होगा कि इससे पूर्व भारत में कोई धार्मिक लहर काम नहीं कर रही थी। हिन्दी अपभ्रंश भाषा से निकली है और उसमें वज्रयानी, नाथ और जैनी कुछ न कुछ धार्मिक साहित्य लिखा ही जा रहा था, किन्तु इनका प्रभाव बहुत व्यापक नहीं था। अब आवश्यकता थी समस्त हिन्दू जाति में व्यापक प्रचार की, इसलिए उक्त धार्मिक काव्य की कुछ परम्पराओं को हिन्दी साहित्य में व्यापक रूप दिया गया। हिन्दू जाति को अपनी संस्कृति, धर्म और इतिहास का ज्ञान कराने के लिए प्राचीन शास्त्रों की चर्चाओं को लोकवाणी हिन्दी में रखने की नई प्रवृत्ति भी इस समय उत्पन्न हुई और अशरण-शरण ईश्वर की भक्ति का नया आन्दोलन देश भर में फैल गया।

निर्गुण और सगुण

इस भक्ति-आन्दोलन के नेताओं ने ईश्वर का दो रूपों में स्मरण किया—निर्गुण और सगुण। ये दोनों शाखाएँ जल्दी ही विकसित होने लगीं। कबीर, नानक, दादू, सुन्दरदास आदि ने निर्गुण ईश्वर की आराधना की, परन्तु कबीर का आराध्य निर्गुण होता हुआ भी राम ही है। कबीर स्वामी रामानन्द के शिष्य थे और रामनाम की दीक्षा उन्हीं से पाई थी। नानक, मलूका, धर्मदास आदि सन्त कवियों ने भी इस दुःखमय जगत् में स्थायी सुख का साधन रामनाम को माना है। ये कवि धार्मिक सन्त पहले थे, कवि पीछे थे। इनमें केवल हिन्दू जाति को बचाने की भावना काम नहीं कर रही थी। हिन्दुओं में आत्म-रक्षा के भाव के प्रवेश से हिन्दू-मुसलमानों में जो विरोध की लहर पैदा हो गई थी, उसे भी ये सन्त अपने उदार और उच्च हृदय के कारण पसन्द नहीं करते थे। इन्होंने दोनों जातियों की धार्मिक

कट्टरता को दूर करके दोनों को परस्पर मिलाना चाहा और इसलिये उन्होंने राम या रहीम—एक निगु्ण ईश्वर की उपासना के साथ-साथ धर्म के बाह्य चिन्हों की तीव्र निन्दा की। चरित्र-निर्माण और ईश्वर-प्रार्थना पर इन सन्तों ने विशेष बल दिया। इन सन्त कवियों की कुछ सामान्य विशेषताएँ निम्नलिखित हैं—

(१) वे धर्म प्रचारक और सन्त पहले थे, कवि पीछे। उनकी कविता तो उनके सन्देश-प्रसार का साधनमात्र थी। इसलिए उन्होंने भाषा-लालित्य, व्याकरण और अलंकारादि पर कम ध्यान दिया है। काव्य का भावपक्ष ही उनकी दृष्टि में प्रधान रूप से रहा।

(२) प्रायः सभी कवियों ने अपना स्वतन्त्र सम्प्रदाय चलाया और उसे स्थायी रूप देने के लिये गुरु के महत्व पर अधिक बल दिया। कबीर गुरु और गोबिन्द में भी गुरु को ही अधिक महत्व देते हैं।

(३) चरित्र-निर्माण, त्यागमय जीवन और परस्पर मेल का उपदेश प्रायः सब सन्तों ने दिया।

(४) धार्मिक आडम्बरों, प्रथाओं और बाह्य धर्म-चिन्हों का विरोध कर परमात्मा की भक्ति पर सबने विशेष बल दिया। परमात्मा को पति मानकर कवियों ने उनके प्रति अगाध प्रेम का परिचय दिया। पत्नी जैसे पति से मिलने के लिए आकुल रहती है, उसी तरह आत्मा भी परमात्मा से मिलने के लिये आतुर रहती है। रहस्यवाद का यह बीज कबीर में बहुत अधिक स्पष्ट पाया जाता है।

सन्त कवियों की शिक्षाओं का प्रचार समस्त हिन्दी भारत में हो गया। बिहार से लेकर पंजाब तक इन सन्तों का प्रभाव था। घर-घर इनके गीतों ने अपना स्थान बना लिया। कबीर के दोहे आज भी जहां चाहें, सुन सकते हैं। इतना अधिक प्रचार ही यह स्पष्ट करता है कि इन शिक्षाओं की कितनी आवश्यकता थी। ऐसा प्रतीत होता है कि उत्तरीय भारत धर्मपिपासा से आकुल था और इनकी शिक्षारूपी अमृत पाकर वह तृप्त हो गया।

सूफियों की प्रेममार्गी शाखा

किन्तु इतना व्यापक प्रचार पाकर भी निर्गुण भक्ति सर्वसाधारण को अपनी ओर आकृष्ट न रख सकी। फिर इससे हिन्दू गौरव व अभिमान की भावना को भी कोई प्रश्रय न मिला। इसके दो परिणाम हुए। एक तो निर्गुण काव्य में सूफी सन्तों ने प्रेम कथानकों का आश्रय लिया और दूसरे राम और कृष्ण का नाम लेकर कुछ धार्मिक कवि हिन्दू जाति की पुरातन संस्कृति की रक्षा के लिए मैदान में उतरे।

जायसी, कुतबन, उसमान, आदि मुसलमान कवि थे, सूफीमत के प्रेममार्ग के अनुयायी थे, किन्तु उन्होंने हिन्दू कथानकों को अपने काव्य का आधार बनाया। इन्हीं प्रेम-कथाओं के आधार पर जीवात्मा की परमात्मा के प्रति प्रेम की पीर तथा परमात्मा से मिलने के प्रयत्न के मार्ग में आने वाली कठिनाइयों का प्रकाशन इन कवियों का मुख्य क्षेत्र रहा। भारतीय प्रथा के अनुसार नायिका ही नायक के प्रति आकृष्ट होती है, किन्तु सूफी सन्तों ने परमात्मा को पत्नी मानकर पतिरूपी आत्मा को उसके लिये तड़पाया है। जायसी का विरह वर्णन असाधारण रूप से उत्कृष्ट है। पहले के सन्त कवियों ने फुटकर या मुक्तक छन्द लिखे थे। प्रेममार्गी सूफी कवियों ने बड़े-बड़े प्रबन्ध-काव्य लिखकर अपने सन्देश को काव्यमय रूपक द्वारा समझाने का प्रयत्न किया है। इन सभी काव्यों की भाषा प्रायः अवधी रही। इन काव्यों में मुस्लिम विचारधारा के कुछ दर्शन होते हुए भी ये कथाएँ हिन्दू संस्कृति और कृष्ण के मिलन की इच्छा और आवश्यकता को भली-भांति प्रकट करती थी। पद्मावत में वेदान्त, हठयोग और रसायन-सम्बन्धी उक्तियां उल्लेख योग्य हैं। विरह और षट्-ऋतु वर्णन की मार्मिकता से तथा पात्रों के चरित्र-चित्रण का हिन्दू जीवन के उच्चतम आदर्शों के साथ पूर्ण सामञ्जस्य से भी हिन्दू प्रभाव की पुष्टि होती है। कला की दृष्टि से प्रेमाश्रयी काव्य उत्कृष्ट है।

सगुण भक्ति का जन्म

किन्तु इन हिन्दू कथाओं से हिन्दू धर्म के प्रति जनता में आस्था नहीं बढ़ सकती थी और न इनसे जीवन के हिन्दू-सम्बन्धी आदर्श को ही पोषण मिलता था। मुस्लिम-धर्म व मुस्लिम-संस्कृति के आक्रमण से बचाने के लिए अधिक प्रभावशाली आन्दोलन व अधिक समर्थ साहित्य की आवश्यकता थी। यह आवश्यकता पूर्ण की तुलसी और सूर तथा उनके निकटवर्ती कवियों ने। हम ऊपर कह आये हैं कि राम और कृष्ण हिन्दू जाति के जीवन में ओतप्रोत थे। उनके जीवन में पूर्णता थी, न केवल उनका जीवन सरस था, बल्कि शिक्षाप्रद भी था। साहित्य की दृष्टि से ये दोनों महापुरुष आदर्श आधार बन सकते थे। वे एक ओर आराध्य हो सकते थे, दूसरी ओर उच्च जीवन की स्फूर्ति और प्रेरणा भी इनसे मिलती थी एवं मुस्लिम आक्रमण से निराश और हताश हिन्दू जाति को इन्हीं के सन्देश की आवश्यकता थी। कबीर आदि सन्त कवियों ने राम का नाम अवश्य लिया था, किन्तु उसे निर्गुण मानने से उसके पीछे जो ऐतिहासिक गौरव और अतीत के साथ सम्बन्ध था, वह सब छिन्न भिन्न हो जाता था। इसलिए उद्देश्य की पूर्ति सम्भव न थी। तुलसी और सूर ने ऐतिहासिक राम और कृष्ण को, जो क्रमशः राजा दशरथ और वसुदेव के पुत्र थे, आराध्य देव माना। दोनों के दृष्टिकोण में आकाश पाताल का अन्तर था और इसलिए राम और कृष्ण नाम से दो पृथक्-पृथक् काव्य धाराएँ चल पड़ीं।

रामकाव्य

गोस्वामी तुलसीदास ने राम को मर्यादा पुरुषोत्तम के रूप में देखा। राम आदर्श पुत्र थे, आदर्श राजा थे, आदर्श क्षत्रिय थे। उनके भाई लक्ष्मण और भरत, उनकी पत्नी सीता और उनका सेवक हनुमान आदर्श की ही उपासना करते थे। लोक रक्षक और मर्यादापुरुषोत्तम राम हिन्दू संस्कृति और जीवनादर्श के रक्षक के रूप में सामने आये। तुलसीदास की रामायण हिन्दी साहित्य में, कविता और कल्पना, प्रबन्ध-काव्य रचना और भाव-गौरव

सभी दृष्टियों से अनूठा ग्रन्थ है। इसकी जोड़ का दूसरा ग्रन्थ हिन्दी-साहित्य में नहीं बना। गो० तुलसीदास ने राम को जिस उत्कृष्टतम और गौरवपूर्ण रूप में रखा है, वह सचमुच इतना उत्कृष्ट है कि उसके बाद कोई कवि राम का उससे उत्कृष्ट रूप नहीं उपस्थित कर सका। तुलसी के बाद आने वाले सभी रामकाव्य-रचनाकारों ने उसी पद्धति का अनुकरण किया परन्तु कोई उससे उत्कृष्ट वस्तु लिखकर यशोलाभ का अवसर न पा सका। राम काव्य की विशेषताएँ निम्नलिखित रहीं—

(१) वैष्णव-धर्म के सिद्धान्तों के अनुसार विष्णु के अवतार राम के प्रति सेवक सेव्यभाव रखने पर जोर दिया।
(२) भक्ति को ज्ञान और कर्म से श्रेष्ठ माना गया।
(३) भक्ति में सगुण भक्ति को ही स्थान दिया गया।
(४) ज्ञानाश्रयी कवियों की रहस्यमय वाणी और रहस्यमय शैली को नहीं अपनाया गया।
(५) अवधी और ब्रजभाषा में रामकाव्य लिखा गया।
(६) मुक्तक तथा प्रबन्ध-काव्य लिखे गये।

कृष्णकाव्य

मध्वाचार्य, निम्बार्क आदि ने राधा कृष्ण भक्ति का जो पन्थ चलाया था, उसे वल्लभाचार्य ने उत्तर भारत में चलाया। इनके अनुसार कृष्ण ब्रह्म है, राधा उनकी स्त्री। भगवा[illegible]ग्रह के बिना उसका अनुभव नहीं हो सकता। वल्लभ की शिष्य-पर[illegible] सूरदास, कुम्भनदास, परमानन्द, कृष्णदास, छीतस्वामी, नन्ददास [illegible] आठ कवि थे, जो 'अष्टछाप' के नाम से प्रसिद्ध हैं। तुलसीदास ने यदि राम का लोकरक्षक रूप देखा था, तो सूरदास ने कृष्ण का लोकरंजक रूप देखा। राम पिता की आज्ञा मानकर राज्य छोड़ देता है, रावण को मारकर लंका विजय करता है, किन्तु सूर का कृष्ण न द्वारिका में राज्य स्थापित करता है, न भारत के राजनीतिक चक्र को चलाता है, न वह गीता का उपदेश करता है और न पांचजन्य का घोष करता

है। वह तो केवल भोला, सुन्दर बालक है या गोपियों को आकृष्ट करने वाला रासबिहारी राधावल्लभ कृष्ण। कृष्ण का यह रूप लेने से कृष्ण काव्य में मुक्तक छन्दों की रचना अधिक हुई, प्रबंध काव्य कोई नहीं लिखा गया। कृष्ण के सर्वांगीण जीवन का महत्त्व ही उनकी दृष्टि में न था। इसीलिए कृष्ण काव्य में शृंगार व वात्सल्य रस की ही अधिक प्राप्ति होती है। राम काव्य में दास्य भाव के द्वारा राम की आराधना की गई, किन्तु कृष्ण काव्य में उसे सखा के रूप में स्मरण किया गया है। भगवान कृष्ण ही एकमात्र पुरुष माने गये, अन्य सब गोपियां हैं। इस धारणा से सखी समुदाय का भी जन्म हुआ। यह कृष्ण काव्य ही आगे जाकर रीतिकाल के रूप में परिणत हो गया। (विद्यार्थी अगला निबन्ध 'रीति कालीन काव्य' भी देखें)।

कृष्णकाव्य की देन

भले ही कृष्ण-काव्य की परिणति रीतिकाव्य में होना अवांछनीय रहा हो, परन्तु कृष्ण-काव्य हिन्दी साहित्य को वात्सल्य और शृंगार रस की अद्भुत वस्तु दे गया। अनेक कवियों ने मधुर गीत लिखकर ज्ञान और भक्ति दोनों पक्ष अत्यन्त कुशलता से रखे। विरह-वर्णन का काव्यमय वर्णन वस्तुतः सुन्दर चीज है। सूरदास का विप्रलम्भ-वर्णन संसार के साहित्य में अनुपम है। कृष्ण-भक्तिधारा का एक और भी कारण था। राम का विशुद्ध आदर्श श्रद्धा और भक्ति की भावना को पैदा करता था, किन्तु उसमें प्रेम और रस नहीं था। राम का आदर्श हिमालय जितना ऊँचा था, कृष्ण को उससे नीचे की सतह पर रखकर प्रेमपात्र रूप दिया गया। कृष्णकाव्य ने उस समय एक ओर हिन्दू समाज को जीवन और प्रफुल्लता प्रदान की, वहां साथ ही भारतीय साहित्य, संगीत और कला को चरम सीमा तक पहुंचा दिया और हिन्दी साहित्य में सूरदास, नन्ददास, मीरा, रसखान आदि प्रमुख कविरत्नों को जन्म दिया। भावों का जितना सूक्ष्म, सजीव और रसानुकूल चित्रण कृष्ण-काव्य में हुआ है, वह और उक्त कवियों की सहृदयता, सरसता तथा तल्लीनता कृष्ण-काव्य में ही नहीं, विश्व-साहित्य में भी आदरणीय है।

श्रीगुलाबराय ने वैष्णवधर्म या भक्तिमार्ग की विशेषताओं की चर्चा करते हुए लिखा है—इसी धर्म ने हिन्दी साहित्य-गगन के सूर सूर, शशि तुलसी और उडुगन केशवदास को जन्म दिया है। रीतिकाल के कवि इन्हीं से प्रभावित थे। हिन्दी साहित्य में सूरदास से लेकर २०० साल तक इन्हीं वैष्णव कवियों का दौरदौरा रहा। इन सब कारणों से हिन्दी साहित्य वैष्णव-धर्म का चिरकाल तक कृतज्ञ रहेगा।

रीतिकालीन काव्य

रूपरेखा

१—सूर का भक्ति-काव्य रीतिकाल में परिणत हो गया—कृष्ण के साथ राधा का नाम जोड़ते ही रीति काव्य का जन्म।

२—विद्यापति के काव्य में भौतिक प्रेम की छाप।

३—रीतिकाल की परिस्थितियां।

४—पांच प्रवृत्तियां—शृंगारिक अश्लील काव्य, लक्षण ग्रन्थों का निर्माण, कलापक्ष की प्रधानता, प्रकृति का उद्दीपन रूप में चित्रण और और मुक्तक काव्य की रचना।

५—रीतिकाल की देन।

ईश्वराराधन की कामुकता में परिणति

हिन्दी साहित्य के इतिहास में यह कम आश्चर्य की बात नहीं है कि भक्त कवियों का विशुद्ध भक्तिभाव से किया गया ईश्वराराधन कुछ समय बाद जाकर घोर वासनामय श्रृङ्गार रस में परिणत हो गया। सूर तथा उसके अनुवर्ती भक्त कवियों ने पुष्टिमार्ग का आश्रय लेकर भले ही पुरुष-प्रकृति की आराधना की हो, किन्तु उसकी परिणति हुई घोर कामुकता और श्रृङ्गारिकता में। एक लेखक ने लिखा था—"जिस दिन वैष्णव कवियों ने कृष्ण के साथ राधा का नाम पहली बार प्रयुक्त किया था, उसी दिन रीति काव्य का जन्म हुआ था।" श्रृङ्गार रस पहले भी विद्यमान था, किन्तु वह केवल नायक और नायिका के प्रेम तक सीमित था, उसने जनता को प्रेम के खुले वासनामय व्यापार के लिए प्रेरित नहीं किया। किन्तु जब आराध्यदेव कृष्ण और राधा की विलास-कथा घर-घर होने लगी, तब मनुष्य में सुप्त वासना अदम्य वेग से प्रज्वलित हो उठी। हिन्दी में वैष्णव साहित्य के जन्मदाता विद्यापति के काव्य में जयदेव

के भौतिक प्रेम की छाप स्पष्ट है, राधाकृष्ण का प्रेम निरा भौतिक और *वासनामय है। आध्यात्मिक प्रेम का प्रतीक मानकर भी उसमें दिखाये गये राधा के यौवनविकास, वयःसन्धि, मान-विरह आदि प्रसंग किसी भी तरह* भक्तिभाव को जागृत नहीं कर सकते। राधावल्लभी सम्प्रदाय के लिए तो कृष्ण गौण रह गये। रास केलि में कुशल राधा ही प्रमुख आराध्य हो गई। राम-भक्तों ने तो राम के लोकरक्षक या मर्यादापालक रूप को सामने रखा, किन्तु कृष्ण-भक्तों ने उनका मनोरंजक रूप सामने रखा। उन्हें कृष्ण के जीवन में न राज्य-व्यवस्था पालन का रूप मिला, न कंस, शिशुपाल जैसे दुष्टों के दलन और गीता जैसे उत्कृष्ट उपदेश के उपदेशक का। महाभारत का नीतिज्ञ और वीर कृष्ण-भक्तों की समझ में नहीं आया, जबकि गो० तुलसीदास ने सुबाहु-मारीच से लेकर रावण तक की दुष्ट श्रेणी का निरन्तर वध करने वाले रूप में राम को चित्रित किया है। भक्तिकाव्य का तो श्रीकृष्ण रुनझुन-रुनझुन खिलौने से खेलने वाला, नाचने वाला बालकृष्ण है अथवा प्रेम का प्रतीक रासरसिक राधावल्लभ। यही कृष्ण कुछ समय बाद जाकर विशुद्ध कामक्रीड़ा और वासनापूर्ति का आधार राधाकृष्ण बन गया। ऐसा होना अस्वाभाविक भी न था। कृष्ण-भक्ति-काव्य में ही यह परम्परा जड़ जमा चुकी थी। स्वयं कविशिरोमणि सूर ने भी स्थान-स्थान पर नायिका भेद दिया है। शृङ्गाररस के अन्तर्गत सभी संचारी भाव कृष्ण में मिलते हैं। संयोग और विरहवर्णन, कृष्ण का रतिभाव, गोपिकाओं का आलम्बन, कृष्ण-गोपिका मिलन में स्वेद, कम्प, मिलन के वर्णन में गोप्य रतिक्रीड़ा, केलि, विलास,रास, छेड़छाड़ आदि सभी कुछ इस भक्तिकाव्य में मिलता है।

रीतिकाल की परिस्थितियां

विक्रम की १८ वीं सदी के प्रारम्भ में कुछ ऐसी परिस्थितियां भी देश में उत्पन्न हो गई, जिनसे भक्तिकाल के शृंगार काव्य को रीति-काव्य बनने में कठिनता न हुई। मुग़ल बादशाहों ने समस्त उत्तरीय भारत में अपने राज्य का विस्तार कर लिया था, हिन्दू राजा उन्हें कर देते हुए भी प्रायः स्वतंत्र थे।

देश में युद्ध न होने से करीब शान्ति छा गई थी। राजा अपने राग-रंग में मस्त थे। राजदरबारों में कवि रहते थे, जिनका काम उनका मनोरंजन करना था। राजा उनके काव्य में रस लेते थे और उन्हें पुरस्कार देते रहते थे। बिहारी के प्रत्येक दोहे पर अशर्फ़ी दिया जाना तो इतिहास प्रसिद्ध है। केशव को बीरबल से लाखों रुपये मिलने की बात श्रुति - परंपरा से चली आती है। कवि अब 'स्वांतः सुखाय' के लिये कविता न करते थे, न वे धार्मिक या नैतिक शिक्षा देते थे। परिणाम यह हुआ कि कवियों का प्रमुख विषय राजा और उनका मनोरंजन रह गया। वासनात्मक काव्य से बहुत काफ़ी मनोरंजन होता है। राजदरबारों में नायक-नायिका के हलके, परन्तु विचित्र मनोरंजक उक्तियों से पूर्ण काव्य सुना-सुनाकर राजाओं का मनोरंजन किया जाने लगा।

१८ वीं सदी और १९ वीं सदी के पूर्वार्द्ध में कोई विशिष्ट धार्मिक और सामाजिक क्रान्ति भी नहीं हुई और न कोई नई ज़बर्दस्त लहर चली। किसी नये आन्दोलन के न होने से जनता की वृत्ति विलासमय शृङ्गार की ओर प्रवृत्त हुई। भक्तिकालीन राधाकृष्ण के काव्य में जो कुछ भी भावना थी, जो उसकी आत्मा थी, वह लुप्त हो गई, उसका कलेवरमात्र रह गया। भक्तिकाल में मानव की भौतिक वासना की स्वाभाविक भावना को ज्ञान और भक्ति ने दबा रखा था, समय पाकर वह भावना फिर उमड़ पड़ी। धार्मिकता में विश्वास की जड़ें हिल चुकी थीं और आध्यात्मिक प्रेम वासनात्मक प्रेम में परिणत हो गया था।

पांच मुख्य प्रवृत्तियां

रीतिकाल की मुख्य प्रवृत्तियां पांच हैं—

१—शृङ्गारिक अश्लील काव्य।

२—लक्षण-ग्रन्थों का निर्माण या कवित्व पर आचार्यत्व की विजय।

३—कलापक्ष की प्रधानता।

४—प्रकृति का उद्दीपन रूप में चित्रण।

५—मुक्तक काव्यों की रचना।

शृङ्गारिकता

विक्रम की १८ वीं और १९ वीं सदी में शृङ्गारिकता अपनी चरम सीमा पर पहुँच गई थी और असंयम की कोई सीमा न रही थी। देव, बिहारी, मतिराम, पद्माकर, नेवाज, ग्वाल, बोधा ने संयोग-शृङ्गार का वर्णन किया है, तो घनानन्द और बिहारी ने वियोग-शृङ्गार का। काव्य का एकमात्र विषय हो गया था नारी। यह नारी स्वकीय पत्नी नहीं थी, यह थी परकीया नारी अर्थात् दूसरे की स्त्री प्रेम का विषय बन गई थी। गोपी-कृष्ण प्रेम की भावना ने उन कवियों में स्वकीय परकीय का भेद न रखा था। उनके लिए सभी नायक कृष्ण थे और सभी स्त्रियां राधाएं। देव ने जातिविलास में नाइन, धोबिन को आलम्बन बनाया है। प्रायः सभी स्त्रियां रात को अपने घर से भागकर अभिसार करने जाती थीं। ये नायिकाएं अवस्था या स्थिति-भेद से बीसियों प्रकार की थीं। वे कुञ्जों में, नालों में या खोहों में रातें बिताती थीं, वे किसी छलिया से आंखें लड़ाती थीं। कविता के नायक भी लुच्चे थे, गन्ने की चोरी का अभियोग लगाकर तलाशी लेने के बहाने स्त्रियों के उरोज टटोल लेते थे, आंखमिचौनी खेलते-खेलते कपोल पर चुटकी दे जाते थे। नग्न नारी के नख से लेकर शिख तक के अंगों का विस्तृत विवेचन काव्य का विषय हो गया।

लक्षण-ग्रन्थों का निर्माण

रीतिकाल की दूसरी मुख्य प्रवृत्ति थी लक्षण-ग्रन्थों की रचना। भक्तिकाल में यदि कुछ कवि सन्त पहले थे, कवि पीछे, तो इस काल में भी कवि पहले आचार्य या पण्डित थे और बाद में कवि। वस्तुतः यह युग अलंकार-शास्त्रियों और रसाचार्यों का युग था। प्रायः सभी कवि लक्षण-ग्रन्थ लिखने पर ध्यान देते रहे। किसी रस या अलंकार का लक्षण और उसका उदाहरण देना ही उनका प्रमुख विषय रह गया था। नायक-नायिकाओं के भेद, नख-शिख का भेद तथा अलंकारों के भेदोपभेद आदि पर इतने विस्तार से लिखा गया है कि शायद संसार की

किसी भी दूसरी भाषा में इसकी समानता न हो सकेगी। आचार्य केशव, देव, भूषण, मतिराम, पद्माकर आदि प्रायः सभी कवियों ने लक्षण-ग्रन्थ लिखे हैं। इन लक्षण-ग्रन्थों का एक बुरा परिणाम यह हुआ कि मौलिकता का सर्वथा विलोप हो गया और साहित्य की स्वच्छन्द धारा कठोर रुढ़ि व परम्परा के नियमों में जकड़ दी गई। छन्द, रीति, उपमा, उत्प्रेक्षा आदि अलंकार, नायिका-नायक सबके लिए निश्चित सीमाएं खींच दी गयीं। कविता का स्वतन्त्र विकास रोक दिया गया। संस्कृत-साहित्य में कवि और आचार्य पृथक्-पृथक् रहे हैं। कालिदास, भवभूति, भारवि और माघ आदि कवियों ने उत्कृष्ट काव्य-रचना ही की हैं, उन्होंने काव्य-भाषा पर कोई पुस्तकें नहीं लिखीं। यह कार्य विश्वनाथ, भामह और मम्मट आदि का था। किन्तु हिन्दी—साहित्य के रीतिकाल में स्वयं हिन्दी कवियों ने आचार्य बनने का दावा किया। इसका परिणाम यह हुआ कि वे न कवि बन पाये और न आचार्य ही। काव्य ग्रन्थ काव्य की स्वाभाविक प्रतिभा व हृदय के उद्गार के रूप में लिखे ही नहीं गये। प्रत्येक आचार्य अलंकारों व नायिका-भेद के उदाहरण देने के लिए काव्य-रचना करने लगा। और इस तरह इस काल में न कोई सूर, तुलसी की टक्कर का कवि हुआ और न संस्कृत के आचार्यों जैसा प्रकाण्ड विद्वान्। प्रकृति की अनेकरूपता पर भी उनका ध्यान नहीं गया, क्योंकि वे राज-दरबारों के विलासी कवि थे। मानव का विस्तृत जीवन उनके लिए सिमट कर केवल कामलिप्सा में रह गया था। अलंकारों और नायिका-भेद के चक्कर में पड़कर भाषा को भी परिष्कृत रूप नहीं दे सके। अनुप्रास बिठाने के लिए अवधी, ब्रजभाषा और फ़ारसी को मिलाने व शब्दों के तोड़-मरोड़ में वे कोई आपत्ति नहीं देखते थे।

कलापक्ष

रीतिकाल की तीसरी प्रवृत्ति है कलापक्ष की प्रधानता। लक्षण-ग्रन्थों की भरमार ने काव्य के भावपक्ष को निर्बल कर दिया, किन्तु कलापक्ष को एक निश्चित दिशा दी। अलंकारों की प्रधानता हो गई। काव्य के आत्मा

को नष्ट कर शरीर का यथाविधि शृङ्गार किया जाने लगा। कवियों की कल्पनाएं अद्भुत और विचित्र होने लगीं, जो क्षणिक मनोरंजन अवश्य करती थीं। सर्दी में लुओं को देखकर वियोगिनी प्रेमिका के जीवित होने का अनुमान नायक को हो जाने लगा, गोपियों के घड़े का पानी घाट की सीढ़ियां चढ़ते-चढ़ते सूख जाना, चूड़ियों की झंकार से भ्रमरों का नाच उठना आदि उक्तियों से चमत्कार की पूर्ति ही कवि का लक्ष्य रह गया।

प्रकृति नये रूप में

प्रकृति का उद्दीपन रूप में चित्रण रीतिकाल की चौथी प्रवृत्ति है। प्रकृति को आलम्बन मानकर बहुत कम कविता लिखी गई। जब प्रकृति का चित्रण किया गया, तब नायक नायिका के सुख-दुःख को बढ़ाने के लिये। कवि के लिये प्रकृति केवल संयोगसुख या विरह-ताप बढ़ाने का एक साधनमात्र बन गई। उसके पास रात्रि आती थी या तो अभिसार का सन्देश लेकर अथवा वियोगिनी के लिए कालरूप होकर। मेघों की गरज प्रेमी को घर लौटने की और प्रेमिका को विरहाग्नि में तड़पने की सूचना देती है। प्रत्येक ऋतु वासनामय प्रेमवृत्ति को उकसाने के लिए ही आती है।

मुक्तक काव्य-रचना

रीतिकालीन काव्य की पांचवीं उल्लेखयोग्य प्रवृत्ति थी मुक्तक काव्य-रचना। एक लेखक के शब्दों में सचमुच "यह आश्चर्य की बात है कि प्रबन्ध की जिस पुनीत स्रोतस्विनी का तुलसी के मानस-सरोवर से उद्भव हुआ था, वह अनायास ही रीतिकाल में आकर कैसे सूख गई।" असल में उस समय कवियों के सामने जीवन का सर्वाङ्गीण रूप था ही नहीं, उनके सामने तो केवल था सौन्दर्यपक्ष और उसमें भी चमत्कारवर्णन या विचित्र उक्ति। इस कार्य के लिए किसी प्रबन्ध-काव्य की आवश्यकता भी न थी। मुक्तक काव्यों से अथवा फुटकर छन्दों से यह काम चल सकता था। केशव की रामचन्द्रिका इसमें एक अपवाद अवश्य है, अन्यथा सब कवियों ने मुक्तक काव्य ही लिखे।

रीतिकाल की देन

इस उपर्युक्त विवेचन से यह न समझ लेना चाहिए कि रीतिकालीन काव्य बिलकुल निरर्थक या फेंक देने योग्य है। श्रृङ्गार का जीवन में स्थान है और प्रमुख स्थान है। उक्ति वैचित्र्य, सूक्ष्म कल्पना, रस का प्रवाह मानवीय भावों का सूक्ष्म विवेचन तथा कलापक्ष को सजीव बनाने की ऐसी विशेषताएं हैं, जो स्वयं एक महत्व रखती हैं। बिहारी, देव, मतिराम और केशव आदि का हिन्दी साहित्य में अपना एक स्थान है और वह गौरवपूर्ण है। कविवर बिहारी के सम्बन्ध में डा० ग्रियर्सन कहते हैं—"बिहारी भारत के थाम्पसन ही नहीं, उनसे बढ़कर थे। पश्चिम का कोई कवि उनके साथ तुलना नहीं कर सकता। मुझे तो बिहारी की सी रचना योरुप की किसी भाषा में भी नहीं मिली।"

छायावाद

रूपरेखा—

१—छायावाद का जन्म—गीताजलि तथा अंग्रेज़ी साहित्य का प्रभाव।

२—छायावाद के अनुकूल परिस्थितियां—सांसारिक संघर्ष से पलायन और काल्पनिक जगत् का निर्माण।

३—छायावाद है क्या ?—जड़ प्रकृति में चेतन और मानवता के दर्शन।

४—छायावाद की तीन विशेषताएं—व्यक्तिवाद, शृंगारिकता, प्रकृति में चेतनता तथा नवीन प्रतीक शैली।

५—परन्तु छायावाद शीघ्र ही समाप्त हो गया—जीवन की वास्तविक कठोर नग्न समस्याओं से उदासीनता—

६—छायावादी कवि प्रगतिवादी धारा में बह गये।

आज से करीब पन्द्रह वर्ष पूर्व श्री इलाचन्द जोशी ने यह घोषणा की थी कि अच्छा हुआ कि पुंस्त्व हीन और अभिशप्त छायावाद की मृत्यु होगई और आज उसका जनाजा निकाला जा रहा है। वस्तुतः आज छायावाद हिन्दी साहित्य के इतिहास की एक वस्तु रह गई है, किन्तु इससे कुछ वर्ष पूर्व ऐसा न था। छायावाद और रहस्यवाद का उन दिनों बोलबाला था। हिन्दी में छायावाद का अपना विशाल सम्प्रदाय बन गया था और प्रसाद, पन्त तथा 'निराला' की देखादेखी हर एक छोटा बड़ा कवि अपने को रहस्यवादी और छायावादी कहने में गर्व अनुभव करता था। छायावादी और रहस्यवादी कवि छोटे बड़े काव्य लिखते थे तथा उन पर प्रशंसात्मक व आलोचनात्मक ग्रन्थ भी लिखे जाते थे।

छायावाद का जन्म

इस छायावाद का जन्म हिन्दी साहित्य में बाबू जयशंकरप्रसाद के 'आंसू' और सुमित्रानन्दन पन्त को 'वीणा' से होता है। सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' भी इस दिशा में युगान्तरकारी थे। हिन्दी की इस नई धारा पर श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर की गीतांजलि तथा अंग्रेज़ी साहित्य का विशेष प्रभाव पड़ा। इस नई धारा ने हिन्दी साहित्य में ऐसे ही प्रवेश नहीं कर लिया, उसे श्री महावीरप्रसाद द्विवेदी और आचार्य रामचन्द्र शुक्ल जैसे प्रमुख महारथियों से कठोर संघर्ष भी करना पड़ा। आचार्य शुक्ल ने तो छायावादी कवियों के लिए यहां तक लिख दिया था—"हांक दो, न घूम घूम खेती काव्य की अरे" किन्तु इस घोर संघर्ष में भी यह छायावाद उठ खड़ा हुआ। द्विवेदी युग की विशेषता थी इति-वृत्तात्मकता। उसमें विनय था, अध्ययन था और गंभीरता थी। किन्तु इसके विरुद्ध छायावाद जब "अहंकारी व्यक्तित्व एवं धुंधली वाणी के साथ अचानक खड़ा हो गया, तो हिन्दी संसार को कुछ अज्ञात और विचित्र सा लगा। चारों ओर से आवाज़ आई "अज्ञात कुलशीलस्य वासो देयो न कस्यचित्।" किसी ने इसे रवीन्द्रनाथ की नकल कहा तो किसी ने अंग्रेजी साहित्य की जूठन। लेकिन घोर विरोध के बावजूद छायावाद और रहस्यवाद दोनों चरम उत्कर्ष पर पहुंच ही गये।

नई परिस्थितियां

रीतिकाल के विरुद्ध भारतेन्दु-युग और द्विवेदी-युग में जीवन की वास्तविक समस्याओं की ओर कवियों ने अधिक ध्यान देना शुरू किया था। उनके काव्य में ऐतिहासिक घटनाओं तथा सत्य का वर्णन अधिक रहता था या उपदेशों की भरमार रहती थी। भाव और बुद्धि कला तथा हृदय पर बहुत हावी हो गये थे। साहित्यकारों को समाज, देश और धर्म की चिन्ता अधिक थी। व्यक्तिगत भावना और कोमल कला-दृष्टि का उनमें अभाव था। इधर जीवन संघर्षमय होता जा रहा था। देश की राजनैतिक, आर्थिक और सामाजिक दशाओं ने एक प्रकार की निराशा सी पैदा कर दी थी। इस स्थिति के

दो उपाय थे--तत्कालीन स्थिति के विरुद्ध असंतोष उत्पन्न कर क्रान्ति का संदेश देना अथवा इस स्थिति को सांसारिक मानकर इससे ऊंचे आध्यात्मिक और अलौकिक काल्पनिक राज्य की सृष्टि कर उसमें विचरना। हिंदी साहित्य में दोनों ही अपनाये गये। राष्ट्रीय कविताओं ने बलिदान व देशभक्ति की प्रेरणा की और छायावादी कवियों ने भौतिक जीवन से ऊपर उठकर नये काल्पनिक संसार की रचना की। उन्हें रोटी और स्वराज्य की अपेक्षा सान्त से अनन्त में मिलने में अधिक रस आया, वे प्रकृति के कण-कण में अज्ञात सत्ता का बिम्ब देखने लगे, बिन्दु सिन्धु में मिलने को व्यग्र हो उठा और आध्यात्मिक विरह का स्मरण वे लौकिक विरह के प्रतीक से करने लगे। समाज और संसार से अधिक महत्व वे व्यक्ति को देने लगे। इसके मूल में उनका नया दृष्टिकोण था, जो जीवन को भिन्न दृष्टि से देखने लगा था। साहित्य की सब पुरानी परम्पराओं तथा रूढ़ियों पर चलने से उन्होंने इन्कार कर दिया था। श्री दिनकर के शब्दों मे 'वे परम्परा से निर्धारित सीमा का अतिक्रमण करके अपनी आत्मा को अज्ञात दिशाओं की ओर दूर दूर तक भेजने लगे। .....वे प्राचीन संस्कार के बन्धनों को झाड़ कर उठ खड़े हुए और प्रत्येक रहस्य को चीर कर उसके भीतर देखने लगे।" द्विवेदी युग में साहित्यकार अपने आसपास की चीज़ को देखता था, छायावादी ने उसकी उपेक्षा की या उसका मुकाबला करने का साहस न पाकर उससे पलायन की चेष्टा की और इसलिए उसने अपने पड़ोसों और अपने पैरों की भूमि से अपनी दृष्टि उठाकर विश्व की असीम प्रकृति और अनन्त आकाश की ओर लगा ली।

छायावाद क्या है ?

छायावाद क्या है, इसे नपे तुले शब्दों में बताना कठिन है। फिर भी इस सम्बन्ध में जो कुछ लक्षण किये जाते हैं, वे संक्षेप से ये हैं—जड़ प्रकृति में चेतन का दर्शन छायावाद है। द्विवेदी युग का कवि फूल के केवल बाह्य सौन्दर्य का वर्णन करता था, किन्तु छायावादी कवि उसमें भी आत्मा और चेतन का दर्शन करता है। उसके लिए वह फूल यौवन का प्रतीक बन जाता

है, कमल का मुरझाना उसकी दृष्टि में सूर्य के वियोग में तड़पना है। यमुना की लहरों में उसे कृष्ण-वियोग की आकुलता प्रतीत होती है और 'जुही की कली' उसके लिए स्नेह व सुहाग से भरी नायिका बन जाती है। छायावादी कवि पृथ्वी के कमल, सरिता, सागर, वृक्ष, सूर्य, चन्द्र और बादल सब में अपने चेतन प्राणों का रूप देखता है। एक लेखक के शब्दों में 'प्रकृति में भी सूक्ष्म आत्मा का दर्शन' छायावाद है। मुकुल-कोरकों के सम्बन्ध में निम्न पद्य छायावाद का एक अच्छा प्रमाण है।

मुकुल कलियों ने अलसा, खोल दिये निद्रा कलुषित परिधान।
चटक कर ली अंगड़ाई, त्याग दिये पल्लव-आंचल अभिराम॥

छायावादी कवि नदियों के समुद्र की ओर वेग से जाने को प्रेमिका के प्रेमी से मिलने के लिए अभिसार के रूप में देखता है। सारांश यह कि जड़ प्रकृति में चेतन का दर्शन छायावाद है। छायावादी कवि कहते हैं कि कवि का उदार हृदय और व्यापक कल्पना संसार के कण कण में अपने चैतन्य का जो रूप देखती है, जगत् को जिस रूप में सत्य समझती है, वह मानवतावाद का सन्देश है। अपना इतना अधिक विस्तार किसी तरह बुरा नहीं है। अपने को केवल अपने या अपने तक सीमित न रख कर विश्व के कण-कण में देखना वस्तुतः बहुत ऊंचा आदर्श है। सुमित्रानन्दन पन्त, सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला, जयशंकर प्रसाद आदि महान् कलाकारों के काव्य में यह आदर्श पाया जाता है।

विशेषताएं

छायावाद के प्रसिद्ध समर्थक श्री नगेन्द्र ने छायावाद की विशेषताओं का उल्लेख इस तरह किया है—

(१) व्यक्तिवाद—संसार से विमुख तथा निराश होकर कवि अपना दृष्टिकोण अपने भावों तक सीमित कर लेता है और अपने प्रेम या विरह आदि के गीत गाने लगता है। महादेवी वर्मा का यह गीत इस का अच्छा उदाहरण है—

निशा को धो देता राकेश, चाँदनी से जब अलकें खोल ।
कली से कहता था मधुमास, बता दो मधु मदिरा का मोल ॥
झटक जाता था पागल वात, धूलि में तुहिन कणों के हार ।
सिखाने जीवन का संगीत, तभी तुम आये थे इस पार ॥

कवि अपने भावावेश में समस्त प्रकृति को भी उसी रूप में देखता है । प्रेमी कवि को सारी प्रकृति भी प्रेम के रंग में डूबी हुई दीखती है ।

(२) छायावादी काव्य की दूसरी विशेषता है शृंगारिकता । छायावादी कवि प्रकृति में नारी को और नारी में प्रकृति को देखने का प्रयत्न करता है और इस तरह उसके काव्य में शृंगार रस की प्रधानता हो जाती है । वह प्रकृति में प्रेम की सारी क्रीड़ाओं का दर्शन करता है—

शशि को छूने मचली सी, लहरों का कर कर चुम्बन ।
बेसुध तन की छाया का, तटिनी करती आलिंगन ॥

(३) प्रकृति में चेतनता छायावाद की तीसरी विशेषता है । इसकी चर्चा हम ऊपर कर आये हैं ।

इन सब विशेषताओं के साथ-साथ छायावाद ने अपनी शैली में भी परिवर्तन कर लिया । अलंकारों का महत्व, सुन्दर शब्द-चित्रण और भाषा में लाक्षणिक प्रयोगों का प्राचुर्य इस शैली की प्रधान विशेषताएं हैं । प्रकृति पर नारी का आरोप करने से रूपक और समासोक्ति के प्रायः दर्शन होते हैं । श्लेष की भी छटा मिलती है, अभिधा की अपेक्षा व्यंजना का महत्व अधिक प्रकट होता है । शब्द प्रतीक बनकर भावों को प्रकट करने में अधिक समर्थ हो जाते हैं ।

शशि-मुख पर घूंघट डाले अंचल में दीप छिपाये ।
जीवन की गोधूलि में कौतूहल से तुम आये ॥

मृत्यु का कारण—वास्तविक जीवन की उपेक्षा

इतनी विशेषताएं होते हुए भी छायावाद की मृत्यु पर क्यों प्रसन्नता प्रकट की जाती है ? क्या इतना ऊंचा आदर्श स्वागत-योग्य नहीं

है ? हिन्दी-साहित्य में छायावाद के इतना अल्पायु रहने का एक प्रधान कारण यह है कि छायावादी कवि ने पुष्प और सूखे पत्ते में तो जीवन देखा, चांद, तारों और बादलों से तो बातें कीं, किन्तु अपने पैरों के पास पड़े हुए अछूत भंगी को वह भूल गया, मातृभूमि की पराधीनता से उसने आंख हटा ली, ग़रीब मज़दूर के शोषण ने उसके हृदय में पीड़ा उत्पन्न नहीं की। पीड़ा उत्पन्न की अस्त होते हुए सूर्य या मुरझाते हुए फूल ने। यह संसार के कठोर जीवन संघर्ष से पलायन नहीं, तो क्या था ?

छायवाद हृदयपक्ष की उपेक्षा दूर करने के लिए आया था, किन्तु वह उसमें सफल नहीं हो सका। उसमें विप्लव था और पुरातन काव्य-प्रथाओं के विरुद्ध असंतोष था, वह कोमलता का भी संचार काव्य में करना चाहता था, किन्तु जीवन की वास्तविकता और उसके दुःखों के अनुभव करने की हार्दिकता उसमें न थी। एक लेखक के शब्दों में "उसमें न तो शौर्य था, न क्रियाशील निर्णयात्मक वेग ही। नपुंसकता में, (जिसमें जीवन संग्राम के प्रति पलायन की भावना थी) उसकी उत्पत्ति हुई, विलासिता में वह पला और अस्पष्टता तथा शब्दाडम्बर का परिधान पहनकर संसार के सामने वह नित नए वेश में लाया जाने लगा। इससे समाज की प्यास न मिटी।" मधु के प्याले, मोहिनी के अरुण अधर और अनन्त प्रकृति की मेध वल्लरी में उस प्यास को मिटाने की शक्ति भी न थी। क्षुधा-पीड़ित, नंगी, प्यासी जनता तो ठोस चीज़ चाहती थी। वह छायावाद की कोमल पदावली में कहां ?

श्री दिनकर के शब्दों में इस युग के कुछ समर्थ कवियों को छोड़कर शेष कवि "सब के सब जीवन से विरक्त अपने आसपास के लोगों से नाराज और इस दुनिया को छोड़कर अन्यत्र चल देने को तैयार बैठे थे। × × × × × × × रोज़ी के अभाव, रुपयों की कमी और बेकारी से जन्मी हुई निराशा संसार से विराग का रूप ले रही थी और दैनिक जीवन की कठिनाइयों से घबराया हुआ कवि 'उस पार' चल देने के लिए और नहीं तो एक 'भग्न तरी' ही खोज रहा था।" जिस तरह सूर का

प्रेम काव्य पीछे से रीति काव्य में बदल गया और कृष्ण-राधा का प्रेम अपनी निम्न वासनाओं के लिए आवरण मात्र रह गया, उसी तरह छायावाद में प्रकृति को प्रेमिका का रूप देकर अपनी वासना-पूर्ति की जा रही थी। यही कारण है कि छायावाद कला, भाषा, कल्पना तथा माधुर्य की दृष्टि से बहुत ऊंचा होता हुआ भी हिन्दी साहित्य में अधिक समय तक स्थिर नहीं रह सका। छायावाद के प्रमुख कवियों ने शीघ्र ही अनुभव कर लिया कि वे मिट्टी की उपेक्षा करके केवल फूल में उलझे नहीं रह सकते। उनकी काव्यधारा की दिशा बदलने लगी। सुमित्रानन्दन पन्त पल्लव और वीणा छोड़कर युगान्त, युगवाणी और ग्राम्या लिखने लगे। बच्चन भी हालावाद से, जिसे कुछ लोग रहस्यवाद-छायावाद की उत्कृष्ट कृति मानते थे, 'बंगाल के अकाल' पर उतर आये। सूर्यकान्त त्रिपाठी ने भी 'शिवाजी का जयसिंह को पत्र' लिखा। छायावाद जनता को—भूखी, प्यासी, नंगी और तरह तरह के दुःखों से निराश जनता को—अधिक समय तक आकृष्ट भी नहीं रख सकता था। छायावाद के पास नग्न व कठोर समस्याओं का कोई समाधान न था। फलतः वह स्वयं ही प्रगतिवाद में विलीन हो गया।

तब क्या छायावाद की हिन्दी-साहित्य को कोई देन नहीं है? ऐसा नहीं कहा जा सकता। छायावाद ने हिन्दी-साहित्य को नई कला दी, नई दृष्टि दी, नई भाषा दी। उसका प्रतीकवाद उसकी सबसे बड़ी विशेषता थी। चन्द्रिका सुखके लिए, अंधकार दुःख के लिए, पतझड़ विषाद के लिए, प्रभात आनन्द के लिए, संध्या जीवन के अवसान के लिए एक नई अभिव्यंजना की शक्ति लाये। यही प्रतीकवाद प्रगतिवादी साहित्य में भी स्थिर रहा, भले ही प्रतीक बदल गये। जिस तरह कबीर के निर्गुण ज्ञानाश्रयी शाखा का संस्कार प्रेमकाव्य ने किया, उसी तरह द्विवेदी युग के नीरस व शुष्क साहित्य को छायावाद ने रस और माधुर्य प्रदान किया।

विशेष—छायावाद के सम्बन्ध में विभिन्न विद्वानों के मत इसलिए नीचे दिये जा रहे हैं कि विद्यार्थियों को विषय समझने में सरलता रहे।

"नवीन जागृति के कारण उत्साह, स्फूर्ति और उमंग तो काफ़ी आई, परन्तु बार-बार विफलता ने आकर रस में विष घोल दिया—क्रान्ति असफल होकर अपने प्रति विद्रोह कर उठी और करुणा का अन्तःप्रवाह भी उसके साथ बह निकला। मर्दित अभिलाषाएं बन्दिनी होकर एक साथ चीत्कार कर उठीं—यही कारण है कि छायावाद की कविता में करुणा पूर्णरूप से व्याप्त है।"

"छायावाद का जन्म ही विद्रोह में है—यह विद्रोह भावनाओं और विचारों में भी है, शैली एवं कला में भी।" —नगेन्द्र

"छायावाद में एक नूतन सांस्कृतिक मनोभावना का उद्‌गम है और एक स्वतंत्र दर्शन की आयोजना भी। पूर्ववर्ती काव्य से इसका स्पष्टतः पृथक् अस्तित्व और गहराई है।" —नन्ददुलारे वाजपेयी

"कोई भी काव्य अपने युग से बहुत ऊंचा नहीं उठ सकता। छायावाद काव्य पर अस्पष्टता, अलौकिकता, अव्यावहारिकता, अनैतिकता, ईमानदारी की कमी और अश्लीलता—कितने ही दोष लगाये जाते हैं, परन्तु यदि सच पूछा जाय तो यह अपने युग का श्रेष्ठ प्रतिबिम्ब है। मध्य युग का मध्यवर्ग जिस बौद्धिकता के ह्रास और भावुकता के प्राबल्य मनत्राणी के सामाजिक और राजनैतिक नियंत्रणों में से गुज़र रहा था, उसी के दर्शन इस काव्य में मिलेंगे।"
—रामरतन भटनागर

"भारतेन्दु और द्विवेदी-युग साहित्य और समाज के सुधारोन्मुख-युग हैं। कुछ रूढ़ियां भारतेन्दु युग में टूटीं, कुछ द्विवेदी युग में, परन्तु फिर भी रूढ़ियां बनी हुई थीं। साहित्य और समाज सर्वथा रूढ़िमुक्त नहीं हो सका था। छायावाद-युग और गान्धी-युग ने रूढ़ि युक्त युगों को पूर्णतः रूढ़िमुक्त किया। छायावाद ने साहित्य की रूढ़ियों से कला को, गान्धीवाद ने समाज की रूढ़ियों से चिन्तन को स्वतन्त्र किया।" शान्तिप्रिय द्विवेदी

"द्विवेदी-युग लोकनिष्ठ था, छायावाद आत्मनिष्ठ, वह कविता में कवि को स्थापित करता था, कवित्व को व्यक्तित्व देता था।"

—शान्तिप्रिय द्विवेदी

रहस्यवाद

रूपरेखा—

१—रहस्यवाद का लक्षण—जड़ प्रकृति में अज्ञात और अलौकिक शक्ति के दर्शन — ससीम का असीम से मिलना।

२—प्राचीन साहित्य में रहस्यवाद—उपनिषद्, कबीर व सूफी-काव्य में।

३—पुराने और नये रहस्यवादियों में भेद—पुराने रहस्यवादी पहले सन्त थे, फिर कवि और नये पहले कवि हैं, रहस्यवाद उनकी कला-प्रदर्शन-शक्ति का एक साधन मात्र है।

४—आध्यात्मिक अस्पष्ट आनन्द की अभिव्यंजना के लिए प्रतीकों का आश्रय—छायावादी कवि की भांति प्रकृति में अलौकिक प्रेम की अनुकृति के दर्शन, यही छायावाद की देन।

५—नई परिस्थितियों के प्रवाह में रहस्यवाद की विलीनता।

रहस्यवाद क्या है ?

हिन्दी काव्य में फूल का तीन प्रकार से वर्णन मिलता है। फूल के बहिरंग और सौन्दर्य का वर्णन तो पुरातन परिपाटी है। आज का कवि फूल में भी चेतन के दर्शन करता है। उसके खिलने में हंसी और मुरझाने में विषाद आदि जीवन की विभिन्न क्रियाएं देखता है, उसमें भी अपनी तरह वह हृदय की कल्पना करता है। प्रकृति में चेतन का यह दर्शन ही छायावाद है। किन्तु तीसरा कवि केवल जड़ प्रकृति में चेतन के दर्शन करके रह नहीं जाता, उसमें एक अज्ञात और अलौकिक शक्ति के दर्शन करता है, भले ही आप उसे परमात्मा कहें या कोई दूसरा नाम दें। वह कुसुम के हास में परमात्मा की प्रसन्नता को देखता है। कवि स्वयं ससीम है, अल्पज्ञ है, पुष्प के द्वारा वह

असीम के साथ—सर्वज्ञ रहस्यमय शक्ति के साथ मिलना चाहता है। प्रकृति के द्वारा ब्रह्म या ईश्वर से आत्मा के ऐक्य या सान्निध्य की धारणा रहस्यवाद कहलाती है। श्री प्रसाद के शब्दों में "काव्य में आत्मा की संकल्पात्मक अनुभूति की मुख्य धारा का नाम रहस्यवाद है।"

वस्तुतः रहस्यवाद का मूल इस विश्व का संचालन करने वाली असीम और अदृश्य शक्ति के लिए हमारे मन की उत्कण्ठा में है। हमारे दार्शनिकों ने जिसे अद्वैतवाद का नाम दिया है, वही साहित्य में आकर रहस्यवाद का रूप धारण कर गया। अद्वैतवाद का सम्बन्ध हृदय से न होकर हमारे मस्तिष्क और बुद्धि मे है, जबकि रहस्यवाद विशुद्ध हृदय की एक उत्कट भावना का नाम है। अशिक्षित अद्वैत की फ़िलासफ़ी नहीं समझ सकता, किन्तु हृदय की आवाज़ सुन सकता है।

सर्वथा नवीन नहीं

रहस्यवाद शब्द भारतीय या हिन्दी-साहित्य में भले ही विदेशी, अपरिचित और नवीन प्रतीत हो, किन्तु प्राचीन साहित्य में इस वाद का सर्वथा अभाव नहीं था। उपनिषदों और गीता में रहस्यवाद के अनेक प्रसंग हैं। उपनिषदों में 'नेति नेति' कहकर इस प्रकृति से भिन्न किसी अलौकिक रहस्यमय शक्ति की चर्चा की गई है। यह रहस्यवाद से भिन्न और कोई वस्तु नहीं। हिन्दी साहित्य में कबीर का काव्य तो रहस्यवाद से पूर्ण है। रहस्यवाद के प्रमुख आचार्य रवीन्द्रनाथ ठाकुर तक को उससे प्रेरणा मिली है। कबीर का निम्न पद रहस्यवाद का एक अच्छा उदाहरण है—

जल में कुम्भ, कुम्भ में जल है, बाहर भीतर पानी।
फूटा कुम्भ जल जलहि समाना, यह तथ कथौ गियानी॥

हिन्दी के प्रमुख कवि जायसी के काव्य में भी रहस्यवाद के दर्शन होते हैं। सूफ़ी-काव्य में रहस्यवादी छाया का स्पष्ट आभास है। ईश्वर निराकार व निर्गुण है, उसका आभास पाने के लिए सन्तों ने ज्ञान मार्ग का आश्रय लिया

है तथा सूफियों ने प्रेममार्ग का। तुलसी व सूर में भी रहस्यात्मक संकेतों का अभाव नहीं है।

रीतिकाल में भक्ति काव्यधारा लुप्त होकर कैसे वासनामूलक शृंगार काव्य मे परिणत हो गई, यह एक स्वतंत्र लेख का विषय है, परन्तु यह निश्चित है कि भक्तिधारा का सर्वथा लोप हो गया। विदेशी शासन, तथा नये युग के जागरण और साहित्य में खड़ी बोली के प्रादुर्भाव ने रीतिकाल को भी इतिहास की वस्तु बना दिया। द्विवेदी युग ने इतिवृत्तात्मक काव्य की रचना की। समाज की समस्याओं पर धार्मिक व सामाजिक जागृतिकाल में जिस नये दृष्टि-कोण से विचार किया गया, उसका प्रभाव द्विवेदी युग पर पड़ा। लेकिन इस इतिवृत्तात्मकता में रस नहीं था, काव्य की सौन्दर्यमूलक व कलात्मक विशेषता का अभाव था, इस कमी को छायावाद और रहस्यवाद ने पूर्ण किया। इस नये साहित्य पर श्री रवीन्द्रनाथ की गीतांजलि तथा अंग्रेज़ी साहित्य का गहरा प्रभाव पड़ा।

नये व पुराने रहस्यवादियों में भेद

नये रहस्यवादी कवियों ने परमात्मा या अलौकिक शक्ति को पाने की ओर अवश्य ध्यान दिया है, किन्तु इसी कारण उसे कबीर या जायसी प्रभृति पुराने रहस्यवादियों की कोटि में रखना ठीक नहीं है। इन दोनों कवियों में बहुत भेद है। पुराने कवि पहले सन्त थे और फिर कवि। उनकी कविता तो आराध्य देव तक पहुंचने का साधन मात्र थी। आज के कवि न भक्त हैं और न उनका जीवन ही आध्यात्मिक है। वे तो कविता को प्रधान मानते हैं और रहस्यवाद या आध्यात्मिक शक्ति की चर्चा उनके निकट कला-प्रदर्शन का एक अच्छा साधन है। आज का युग धर्म प्रधान ही नहीं है। गहरी आध्यात्मिक चिन्ता व धर्म उनके निकट गौण हैं। उनकी प्रतिभा-जन्य कल्पना ईश्वर तक पहुँचती है, उनका हृदय नहीं। इसलिए जहां वे प्रकृति में परमात्मा की लीला का दर्शन करना चाहते हैं और उस शक्ति को पाने के लिए उतावले हो उठते हैं वहां भी लौकिक प्रेम की भावना उनमें निहित प्रतीत होती है,

गहरे अध्यात्म-चिन्तन की नहीं। कुछ एक उत्कृष्ट कवियों को छोड़कर जो कुछ रहस्यवादी साहित्य हिन्दी में लिखा गया है, उसके लेखक वैसा लिखने के अधिकारी भी थे, इसमें भी पूर्ण सन्देह है।

प्रतीकों का आश्रय

रहस्यवाद, जैसाकि नाम से स्पष्ट है, स्वयं रहस्यमय है। प्रकृति के कण-कण में व्याप्त विभु के दर्शन और उसे पाने की अभिलाषा को ही कवि अपने काव्य में प्रकट करता है। वह अध्यात्म शक्ति स्वयं रहस्यमय है और लेखक को उसका किसी भी तरह का ज्ञान स्पष्ट नहीं होता, इसलिए वह उसका वर्णन भी स्पष्ट भाषा में नहीं कर सकता। गूंगा गुड़ की मिठास बता नहीं सकता, इस प्रसिद्ध उपमा के अनुसार आध्यात्मिक आनन्द का स्पष्ट वर्णन भी सम्भव नहीं है और इसी कारण रहस्यवादी कवि प्रकृति के विभिन्न प्रतीकों का आश्रय लेते हैं। स्त्री-पुरुष के लौकिक प्रेम की चर्चा के द्वारा वह अखण्ड सर्वोच्च शक्ति से प्रेम का संकेत करते हैं। हिलता मुरझाता हुआ वृक्ष उसके लिये कांपते जीर्ण शरीर का सूचक है। महादेवी ने "शूलों का दंशन भी हो, कलियों का चुंबन भी हो" में शूलों को दुःख का और कलियों को सुख का द्योतक माना है। महादेवी संध्या के माथे पर सुहाग रेखा लगा कर उसे हंसती हुई देखती है, तो निराला विधवा को 'पूजा-सी', 'तांडव की स्मृति रेखा-सी' कहकर उसकी करुणा और भयंकरता का वर्णन करते हैं। छायावाद के यही प्रतीक रहस्यवाद में भी पाये जाते हैं। रहस्यवादी कवि परमात्मा के न मिलने के दुःख को 'अमा की कालिमा' से उपमा देता है। उसी मिलने को हारिल पक्षी की तरह निर्दिष्ट पथ पर बढ़ने की चर्चा करता है और जब परमात्मा से मिलने लगता है, तो उससे अभेद की कल्पना करते हुए कहता है—

> चांद मेरे, मैं तुम्हारी चांदनी का एक चुम्बक।
> ओ सुकेशी ! मैं तुम्हारे केश का हूं एक कुन्तल॥

रहस्यवाद की देन

रहस्यवादी कवियों में सूर्यकान्त 'निराला', महादेवी वर्मा, रामकुमार वर्मा, जयशंकर 'प्रसाद', माखनलाल चतुर्वेदी का नाम उल्लेखयोग्य है। वस्तुतः छायावाद और रहस्यवाद एक ही कोटि की कविताएं हैं। दोनों में प्रकृति के प्रतीक का आश्रय लिया गया है, दोनों में इस संसार से दूर संसार के दुःखों से दूर भाग कर अध्यात्म चिन्तन या प्रकृति निरीक्षण की भावना है। दोनों की भाषा और कला एक सी दुरूह है। दोनों की कल्पनाएं और शब्दावली एक सी है और कवि भी एक हैं। इसलिए अधिकांश आलोचक दोनों में कोई भेद नहीं मानते और यदि भेद है भी तो बहुत कम। छायावाद की सभी विशेषताएं रहस्यवाद में विद्यमान हैं छायावादी कवि की भांति रहस्यवादी भी प्रेमकाव्य करता है। छायावादी फूल और कली में, चांदनी और चांद में, नदी और समुद्र में यदि लौकिक प्रेम की उपमा पाता है, तो रहस्यवादी भी परमात्मा से मिलन और उसके वियोग में तड़पन को लौकिक प्रेम की भाषा में प्रकट करता है। महादेवी रहस्यवाद की सर्वोत्कृष्ट कवयित्री हैं और विरह-प्रेम की अधिक रचनाएं करती हैं। वे रहस्यवाद की व्याख्या करते हुए कहती हैं—'आज गीत में हम जिसे रहस्यवाद के रूप में ग्रहण कर रहे हैं, ... उसने परा विद्या की अपार्थिवता ली, वेदान्त के अद्वैत की छायामात्र ग्रहण की, लौकिक प्रेम से तीव्रता उधार ली और इन सबको कबीर के सांकेतिक दाम्पत्य-भाव-सूत्र में बांधकर एक निराले स्नेह-सम्बन्ध की सृष्टि कर डाली, जो मनुष्य के हृदय को अवलम्ब देकर उसे पार्थिव प्रेम के ऊपर उठा सका।''

रहस्यवादी और छायावादी साहित्य की कुछ वर्ष तक बहुत धूम रही। उसने हिन्दी काव्य के कलापक्ष को नया कलेवर दिया था, नई भाषा दी थी, नये छन्द दिये थे और दी थी प्रतीकों के द्वारा असाधारण अभिव्यंजना शक्ति। हिन्दी भाषा को उसने सशक्तता और भाव-प्रकाशन में क्षमता प्रदान की थी। उसने हिन्दी कविता में ''अभिव्यंजना के अनेक नये द्वार खोल दिये थे और प्रत्येक समर्थ कवि अपनी हर तरह की अनुभूति को उसके माध्यम के द्वारा पूर्ण चमत्कार के साथ कह सकता था।'' नवीनता तो उसमें थी ही, इसलिए

द्विवेदीकालीन शुष्क उपदेशात्मकता से ऊबे हुए कवियों ने और उससे अधिक। जनता ने भी उसमें कर्ण-रस लिया। भले ही उसकी क्लिष्ट कल्पनाओं और दुरूह भाषा के कारण उसे वह समझ न सकती हो। अनन्त की ओर, हृत्तंत्री, मूक वाणी, वेदना का मधुर क्रय, निर्वाण का वरदान, गीला गान, श्वास के प्राचीर आदि मुहावरे लगातार बिना समझे ही अधिकांश कवि प्रयुक्त करने लगे थे और पाठक भी अपने को कविता-मर्मज्ञ दिखाने के लिए उसमें रस लेते प्रतीत होते थे। बहिरंग की दृष्टि से इस काव्य के सुन्दर प्रकाशन ने भी इसके प्रसार में कम महायता नहीं दी

पलायन की भावना

किन्तु यह दशा अधिक समय तक स्थिर नहीं रह सकती थीं। रहस्यवाद जो संदेश लेकर आया था, वह तो दे न सका। उसका बहिरंग अन्तरंग पर हावी हो गया। उनमें स्वयं अध्यात्म-चित्रण की गंभीरता का अभाव था, उनके जीवन में कहीं अलौकिक शक्ति के लिए की जाने वाली साधना दृष्टिगोचर नहीं होती थी और न समस्त समाज में एकता का दर्शन वे करते थे। इसके विपरीत वे समाज को वास्तविक समस्याओ से दूर लै गये। प्रकृति के कण-कण मे विभु की शक्ति देखने से पूर्व उन्हे अपने दलित पड़ोसी में आत्मा का चैतन्य तो देखना चाहिए था। छायावाद और रहस्यवाद में जनता नये समय की समस्याओ का सन्देश न पा सकी। श्री दिनकर के शब्दों में इन कवियों का "प्रवास कर्तव्यनिष्ठ गृहस्थ का प्रवास नहीं, प्रत्युत उस बालक का पलायन था, जो अपने आस-पास मन के अनुकूल वातावरण न पाकर घर से भाग निकलता है। कल्पना के नन्दन-कानन में नई-नई सूझों के अनुसंधान में, काल्पनिक प्रेम और विरह की अनुभूति में वे एकमात्र अपनी ही तृप्ति खोज रहे थे।" वे अपने निकटवर्ती पड़ोसियों को भूलकर अपने को कुछ-कुछ अवतारी-सा मान रहे थे और समझते थे कि उनकी "प्रत्येक वाणी शाश्वत और पवित्र है। समाज को वह वाणी समझ में आवे या नहीं, परन्तु समाज को उनका आदर करना ही चाहिए।"

नई दिशा में विलीनता

परन्तु समय और समाज किसी अनावश्यक व अनुपयोगी वस्तु को, चाहे वह कितनी सुन्दर दीखती हो, बहुत समय तक सहन नहीं करता। फलतः समाज ने उसमें भी रुचि लेनी बन्द की। अनेक रहस्यवादी कवियों ने भी समय की गति को पहचाना और समाज की कठोर समस्याओं की ओर ध्यान दिया। इस सम्बन्ध में श्री भगवतीचरण वर्मा ने पहल की। वे अपनी प्रशंसित 'विदा' कविता के बाद एकदम मार्ग-बदल कर 'नूरजहां की कब्र' 'कानपुर का मैमोरियल वैल' आदि लिखने लगे। यह नई दिशा कविता को लोक जीवन के अधिक निकट ला रही थी। दूसरे कवि भी आकाश छोड़ कर नीचे उतरने लगे और कुछ समय बाद वे समाज की आवाज़ और मांग को पहचानने लगे। इसका परिणाम हुआ रहस्यवाद की मृत्यु, किन्तु वह मरकर भी हिन्दी काव्य को जो कला और समर्थ भाषा दे गया, उसके लिए वह हिन्दी काव्य के इतिहास में चिरस्मरणीय रहेगा।

प्रगतिवाद

रूपरेखा—

१—प्रगतिशील लेखक संघ का जन्म १९३५ में—भारत में सन् १९३६ ई० में, वस्तुतः भावना पुरानी है—भारतेन्दु के समय से।

२ प्रगतिवाद का अर्थ कार्लमार्क्स का अनुयायी होना और पूंजीवाद तथा समस्त पुरानी सामाजिक परम्पराओं का विरोध—मार्क्सवादी भौतिक दृष्टिकोण शोषण का घोर विरोध।

३—समाज का यथार्थ नग्न चित्रण और कामवासना को प्राकृतिक मान कर उसका प्रचार।

४—प्रगतिवाद का दूसरा रूप—मानवतावादी दृष्टिकोण—छायावादी पलायन-वृत्ति की प्रतिक्रिया।

५—गांधीवाद और प्रगतिवाद की तुलना—एक आध्यात्मिक और दूसरा भौतिक।

६ प्रगतिवाद युग की आवश्यकता।

प्रगतिवादी विचारधारा का जन्म

यद्यपि इङ्गलैण्ड में प्रगतिवादी लेखकों ने पी० ई० एन० नाम से अपना संगठन १९३५ ई० में किया था और इसकी देखा-देखी दूसरे वर्ष श्री प्रेमचन्द के सभापतित्व में लखनऊ में प्रगतिशील लेखकों की सभा हुई थी, तथापि वस्तुतः प्रगतिवाद का जन्म हिन्दी-साहित्य में बहुत पहले हो चुका था। स्वच्छन्दवादी कविताओं की प्रगति सच्चे अर्थों में द्विवेदी काल से ही प्रारम्भ हो चुकी थी। अछूत, विधवा, किसान और मजदूर आदि पर इस काल में कविता होने लगी थी। इससे भी पहले भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के समय में जब से कविता ने शृङ्गार और नायक-नायिका प्रेम के जाल से निकल कर समाज

और जीवन की समस्याओं पर भी अपनी दृष्टि डाली थी, हम प्रगतिवाद का प्रारम्भ देख सकते हैं। वस्तुतः मनुष्य समाज और समय की आवश्यकताओं के कारण बदलता रहता है और साहित्य भी उसके साथ-साथ अपना रूप और कलेवर बदल लेता है। समस्त हिन्दी-साहित्य का इतिहास और समय समय पर बदलने वाली उसकी धाराएं इसी सत्य को प्रकट करती हैं। प्रगतिवाद की धारा ने भी एकाएक किसी निश्चित वर्ष हिन्दी-साहित्य में प्रवेश नहीं किया। यह तो एक भावना है, जो शनैः शनैः विकसित होती गई और पीछे से प्रगतिवाद के नाम से पुकारी जाने लगी। कुछ लोग तो गो० तुलसीदास के उन पदों में भी प्रगतिवाद के दर्शन करते हैं, जिनमें उन्होंने दुःखी दरिद्रों के प्रति करुणा प्रकट की है।

हिन्दी में प्रगतिवाद का नाम भले ही बाद में आया हो, किन्तु इसकी मूल भावना का प्रादुर्भाव हिन्दी गद्य के अभ्युदय काल से प्रारम्भ हो गया था। देश की नवचेतना का प्रभाव हिन्दी कवियों पर पड़ने लगा था। ऋषि दयानन्द की शिक्षाओं ने सचमुच एक विचार-क्रान्ति उत्पन्न कर दी थी। हिन्दू समाज में व्याप्त अन्ध-श्रद्धा पर उन्होंने कठोर प्रहार कर मस्तिष्क को जो स्वतंत्र विचार शक्ति प्रदान की, वही प्रगतिवाद का मूल कारण है। इसके बाद आने वाली राष्ट्रीयता की लहर ने देश-प्रेम और स्वाधीनता आदि जिन भावनाओं को जन्म दिया, उन्होंने हिन्दी-साहित्य पर असाधारण प्रभाव डाला। म० गांधी के नेतृत्व में त्याग, तप और बलिदान की भावना के साथ साथ नारी जागरण व दलितोद्धार की शिक्षाएं देश को मिलीं और वे हिन्दी-साहित्य पर अमिट प्रभाव छोड़ गईं। कवि और लेखकों ने प्रकृति, नारी और राजा को छोड़ कर एक मानव को अपना उद्देश्य बनाया। ईश्वर को भी हम भूल गये और देश या देशवासी हमारे आराध्य बने। राम और कृष्ण भी भगवान् के रूप में न देखे जाकर (साकेत और प्रियप्रवास में) महापुरुष के रूप में देखे जाने लगे। गो० तुलसीदास का प्रशंसित रामभक्त सन्त विभीषण न जाने कब से देश प्रेम के प्रवाह में घर का भेदी, देश-द्रोही आदि गाली के रूप में प्रयुक्त होने लगा। यह सब आज की प्रगतिवादी भावना के ही प्रमाण हैं।

प्रगतिवाद का अर्थ

प्रगति का साधारण अर्थ है आगे बढ़ना। साहित्यकार सदा से अपनी धारणाओं के अनुसार इसी दिशा में बढ़ता आया है, लेकिन आज का प्रगतिवाद एक विशेष अर्थ में रूढ़ हो गया है। आधुनिक प्रगतिवादी एक विशेष धारा या वाद को स्वीकार करके चलने लगा है और उसी के कारण अपने समय के पूर्ववर्ती उन्नतिशील, राष्ट्रीय, देशभक्त कवियों से पृथक् श्रेणी में माना जाता है।

आज का प्रगतिवादी साहित्यकार कार्लमार्क्स को अपना पथ-प्रदर्शक मानता है। मार्क्स ने बताया था कि प्रकृति के विभिन्न तत्वों में सदा संघर्ष होता रहा है। मानव की सभी प्रवृत्तियां आर्थिक संघर्ष को केन्द्र मानकर चलती रही हैं। पूंजीवाद भी इसी आर्थिक संघर्ष का परिणाम है और इसे समाप्त करने वाले साम्यवाद का भी यही मूल कारण है। पूंजीवाद उसकी सम्मति में अकेला समाज का शत्रु नहीं है। पूंजीवाद को पोषण देने वाली वर्तमान समाज व्यवस्था को भी वह बदल देना चाहता है और उसके साथ सम्बन्धित परम्परागत धार्मिक भावनाओं को भी। यही दृष्टिभेद 'भारत भारती' के लेखक श्री मैथिलीशरण गुप्त को आज के प्रगतिवादी लेखक से पृथक् करती है। हमारे लिए गंगा और काशी पवित्र हैं, पर प्रगतिवादी सुमन "मास्को अब भी दूर है" का गीत गाता है। प्रगतिवादी वस्तुतः वर्तमान से पूर्ण सम्बन्ध विच्छेद करना चाहता है। वह उसके औचित्य या अनौचित्य के गहरे विवेचन में नहीं जाना चाहता। वह ईश्वर की सत्ता को, पुराने धार्मिक विश्वासों को, समाज की मर्यादाओं को और नैतिक मान्यताओं को सामन्तकालीन या पूंजीवादी संस्कृति का रूप मानते हुए या उपेक्षा की दृष्टि से देखता है या उनका उपहास करता है। वह आज के संसार को बिना इस बात का विवेक किये बदल डालना चाहता है कि इसमें कौनसी अच्छी चीज़ है, कौनसी बुरी। वह 'नवीन' के शब्दों में गा उठता है—

नियम और उपनियमों के बंधन टूक टूक हो जाये।
विश्वंभर की पोषक वीणा के सब तार मूक हो जाये॥

नाश ! नाश ! हा महानाश !! की प्रलयंकरी आंख खुल जाये ।
कवि कुछ ऐसी तान सुनाओ, जिससे अंग अंग झुलसाये ॥

प्रगतिवादी दलित का, शोषित का प्रतिनिधि है, चाहे वह किसान मजदूर हो, स्त्री हो, शूद्र हो अथवा विदेशी शक्ति द्वारा पराधीन हो । मार्क्स के अनुसार प्रगतिवादी लेखक यह स्वीकार करता है कि सुधारवाद से जनकल्याण नहीं होगा । इसके लिए तो क्रान्ति, विध्वंस और हिंसा द्वारा सब कुछ पुराना नष्ट करके नये सिरे से समाज की व्यवस्था करनी होगी । इस क्रान्ति साहित्य की भाषा भी छायावादी कविता के समान ललित कोमल पदावलीपूर्ण नहीं होती । वह भाषा, छन्द, प्रतीक, उपमा आदि सब नये सिरे से बना कर अतीत से बिलकुल सम्बन्ध विच्छेद कर देना चाहता है । यही कारण है कि प्रगतिवादी लेखकों की रचनाओं में हम कभी प्रलय की बात सुनते हैं, तो कभी अग्नि और रक्तकाण्ड की । बालकृष्ण शर्मा की तरह सुमित्रानन्दन पन्त भी कोकिल से पावककण बरसाने की प्रार्थना करते हैं, ताकि सब जीर्ण, पुरातन नष्ट भ्रष्ट हो जाय ।

यथार्थ-चित्रण और उच्छृंखलता

प्रगतिवादी साहित्यकार संसार का यथार्थ चित्रण करना चाहता है, चाहे वह दरिद्रता का हो या चारित्रिक पतन का और इसके लिए समाज की नंगी तसवीर रखने में भी वह संकोच नहीं करता । नैतिकता, शिष्टता और मर्यादा का बन्धन भी वह मानने को तैयार नहीं । एक ओर वह 'जूठे दोने' और 'भैंसा-गाड़ी' द्वारा समाज का नग्न चित्र खींचता है, दूसरी ओर फ्रायड के प्राकृतिक कामवासना के सिद्धान्त को अपना कर उच्छृंखलता और चरित्र के सम्बन्ध में उदासीनता का प्रचार करता है । वह निरा भौतिकवादी है । आस्तिकता, आध्यात्मिकता, नैतिकता, पतिव्रत और धर्म आदि उसकी दृष्टि में पूंजीवादी व्यवस्था के ही रूप हैं । शारीरिक और आर्थिक सुख ही उसका चरम लक्ष्य है । मार्क्स के वर्ग संघर्ष के मूल में भी यही तो सिद्धान्त है । भौतिक सुख के परे उसकी दृष्टि ही नहीं जाती ।

प्रगतिवादी यथार्थ का नग्न चित्रण करता है, जिसमें न काव्य है, न कला। शायद सौन्दर्य व कला को भी वह पूंजीवादी वाग्विलास समझता है। वह कहता है—

१. वह तोड़ती पत्थर,
देखा मैंने इलाहाबाद के पथ पर—
वह तोड़ती पत्थर।

२. वे क्षुधाग्रस्त बिलबिला रहे मानो मोरी के कीड़े।
वे निपट घिनौने महापतित बौने कुरूप टेढ़े मेढ़े॥

३. उसमें चांदी के टुकड़ों के बदले में लुटता है अनाज।
उन चांदी के टुकड़ों से ही चलता है सब राज काज॥

४. चरमर-चरमर चूं चरर चरर।
जा रही चली भैंसा गाड़ी॥

५. पीले पत्ते, टूटी टहनी, छिलके कंकर पत्थर।
कूड़ा करकट सब कुछ भूपर लगता सार्थक सुन्दर॥

वासना का उच्छृङ्खल रूप आज कहानियों और उपन्यासों का प्रमुख विषय है। प्रायः प्रत्येक कहानी समाज की मर्यादा को भंग करने के लिए लिखी जाती हैं और अनैतिकता के प्रसार में सहायक होती हैं। इन प्रगतिवादियों की दृष्टि में नारी का एक ही रूप है उपभोग्य रमणीत्व, भले ही वे नारी स्वातंत्र्य का सबसे अधिक दम्भ करते हैं।

मानवतावाद

किन्तु यह सब कहने का अर्थ यह नहीं कि प्रगतिवाद एक आदर्शहीन विचारधारा है। उसका भी अपना एक दृष्टिकोण है और वह है मानवतावादी। समाज की वर्तमान व्यवस्था के विरुद्ध मार्क्सवाद एक घोर प्रतिक्रिया है। उसी तरह हिन्दी-साहित्य का प्रगतिवाद भी छायावाद के विरुद्ध एक प्रतिक्रिया मात्र है। हिन्दी-साहित्य में बढ़ता हुआ छायावाद अपनी सूक्ष्म कल्पनाओं और

कृत्रिम रचनाओं के कारण वास्तविक जीवन से बहुत दूर जा रहा था। निराशा की पराकाष्ठा तक पहुँच कर कवि जीवन के संघर्ष से भागने लगा। यह एक पलायन-वृत्ति थी। हम अपनी धरती और अपने करोड़ों दरिद्र दुःखी देश-भाइयों को छोड़कर आकाश में विचरने लगे थे। प्रगतिवाद इसी के विरुद्ध एक घोर प्रतिक्रिया के रूप में आया। उसने हमारा ध्यान उस समाज के यथार्थ जीवन की ओर खींचा, जिसमें ६५ प्रतिशत दलित, दीन, पराधीन, अस्पृश्य और मजदूर किसान हैं। व्यक्ति के सुख पर समाज के सुख को उसने प्रधानता दी। मानवता उसका चरम ध्येय हो गया। छायावादी कवि व्यक्तिगत सुख दुःख, आशानिराशा का चित्रण करता था। प्रगतिवादी समस्त समाज के सुख दुःख को चित्रित करने लगा। कवि अपनी आध्यात्मिक तृप्ति कर सकता है, प्रकृति की मनोरम दृश्यावलि देखकर अपने दुःख भूल सकता है, किन्तु संतप्त और दीन मानव को तो गोरस (दूध) चाहिए, रोटी और कपड़ा चाहिए। प्रगतिवादी साहित्यकार उसी की ओर अपनी रचना द्वारा समाज का ध्यान खींचता है। वह उसे निष्कर्मण्यता और निश्चेतनता से दूर कर कर्मण्य और चैतन्य करना चाहता है। पन्त, निराला, दिनकर, नगेन्द्र, नवीन आदि की इस दिशा में रचनाएं काफ़ी प्रसिद्ध हैं।

गांधीवाद से भेद

निराशा और अकर्मण्यता, पराधीनता और दरिद्रता से मुक्ति का संदेश गांधी जी ने भी दिया था, किन्तु आज का प्रगतिवादी साहित्यकार उससे कम प्रेरणा पा सका। इसका कारण था आज की भौतिक संस्कृति। इसलिए वह गांधीवाद की शरण में जाने के बजाय मार्क्स, लेनिन और स्टालिन की शरण में गया। गांधीजी ने हिंसा, विद्वेष और असत्य की अपेक्षा प्रेम, शान्ति, ईश्वर श्रद्धा और चरित्र पर बल दिया, मार्क्स और स्टालिन ने अत्याचारों के विध्वंस और क्रान्ति पर। प्रगतिवादी साहित्यकार ने गांधी जी के सिद्धान्त की उपेक्षा की और साम्यवादी संस्कृति को, जिसका आदर्श केवल भौतिक सुख है, अपनाया। गांधी जी का लक्ष्य अन्तरंग था और प्रगतिवादी केवल

बहिरंग तक ही रह जाता है। गांधी जी की राजनीति भी आध्यात्मिकता से ओतप्रोत थी और प्रगतिवादी का साहित्य भी केवल भौतिकता तक सीमित है। दोनों का चरम उद्देश्य मानव होते हुए भी उक्त भेद दोनों को परस्पर दूर ले जाता है।

प्रगतिवाद, जैसा कि हम ऊपर कह चुके हैं, समय की आवश्यकता है। और यही कारण है कि छायावाद व रहस्यवाद के प्रायः सभी प्रमुख हिन्दी कवियों ने अपनी दिशा बदल ली। सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला', सुमित्रानन्दन पन्त, बच्चन और महादेवी आदि सभी कवि इस ओर प्रवृत्त हुए हैं। अनेक यशस्वी गद्य लेखक भी प्रगतिवादी साहित्य के द्वारा समय की आवश्यकता और हिन्दी-साहित्य-कोश की कमी को पूर्ण कर रहे हैं, किन्तु आज के अधिकांश लेखक केवल क्रान्ति, विध्वंस और अनैतिकता, उच्छृङ्खलता को जैसे अपना आदर्श मानकर हिन्दी-साहित्य को प्रगतिवाद के नाम से कलुषित कर रहे हैं, वह किसी भी तरह वांछनीय नहीं है। अधिकांश प्रगतिवादी लेखक आज कलाकार न रहकर केवल रूस, स्टालिन और समाजवाद के प्रचारक भर रह गये हैं। यदि ये दोनों प्रवृत्तियां शीघ्र नष्ट न हुईं, तो छायावाद की तरह प्रगतिवाद भी निकट भविष्य में अतीत की वस्तु बन जायगा।

विशेष—प्रगतिवाद के सम्बन्ध में विभिन्न विद्वानों के मत इसलिए नीचे दिये जा रहे हैं कि विद्यार्थियों को विषय समझने में सरलता रहे।

"श्रमिक युग (प्रगतिशील युग) के वस्तु-काव्य में कवित्व कम और व्यक्तित्व प्रधान होता जा रहा है।" —शान्तिप्रिय द्विवेदी

"प्रगतिशील एक बौद्धिक युग है। उसकी दिशा यथार्थ की ओर है। सृष्टि उसके लिए एक बायोलौजी है। तर्क और मनोविज्ञान उसका अस्त्र-शस्त्र है। वह अर्थ प्रवण है। वह जीवन और साहित्य की क्यारियों को निराता है। अपने स्थान पर वह ठीक है, किन्तु उसे अपनी दृष्टि इतनी स्वच्छ रखनी है, कि कांटों के साथ फूल भी निर्मूल न हो जाय।"

—शान्तिप्रिय द्विवेदी

"प्रगतिवाद उपयोगितावाद का ही दूसरा नाम है। वैसे सभी युगों का लक्ष्य सदैव प्रगति की ओर जा रहा है, पर आधुनिक प्रगतिवाद ऐतिहासिक विज्ञान के आधार पर जन-समाज की सामूहिक प्रगति का पक्षपाती है।"

—पन्त

नाटक

रूपरेखा—

१—महाकाव्य सुनाने के लिए बनाये जाते हैं, उपन्यास पढ़ने के लिए और नाटक देखने के लिए। इसलिए नाटक को दृश्य काव्य कहते हैं।

२—नाटककार की परिस्थितियां भिन्न होती हैं—सभी घटनाएं रंगमंच पर नहीं दिखाई जा सकतीं—समय भी सीमित है, नाटक लेखक की इच्छानुसार लम्बा नहीं किया जा सकता।

३—नाटक के तत्त्व—कथा वस्तु, चरित्र, उद्देश्य और शैली। कथोपकथन भी चरित्र को विकसित करता है तथा कथावस्तु को गतिशीलता देता है। कथावस्तु की गतिशीलता के लिए संघर्ष आवश्यक है—पात्रों की देशकाल की अनुरूपता आवश्यक—नाटक का उद्देश्य भी जीवन का दर्शन है।

४—प्राचीन व अर्वाचीन नाटकों का भेद—आदर्श का भेद—कालिदास का शकुन्तला और शैक्सपीयर के नाटक। प्राचीन नाटक सुखान्त होते थे—आज के नाटक दुखान्त; प्राचीन नाटकों का नायक धीरोदात्त—आज दुश्चरित्र भी हो सकता है; पहले के नाटक व्यक्तिप्रधान—नये नाटक समस्या-प्रधान—व्यक्तियों की अपेक्षा विचार-धाराओं में संघर्ष।

नाटक : दृश्य-काव्य

प्राचीन महाकाव्य सुनाने के लिए बनाये जाते थे, आधुनिक उपन्यासों का उद्देश्य पढ़ना है, किन्तु नाटककार का उद्देश्य कथा की घटनाओं को आगे बढ़ाने वाले व्यक्तियों के प्रतिनिधिभूत पात्रों के द्वारा अभिनय के रूप में हमारी आंखों के सामने रखना है। जहां उपन्यास और महाकाव्य में कथा के वर्णन पर बल दिया जाता है, वहां नाटक में अभिनय और कथोपकथन द्वारा समस्त कथा भाग की नकल करके दिखाई जाती है। इसीलिए महाकाव्य और उपन्यास को श्रव्य काव्य तथा नाटक को दृश्य काव्य कहा जाता है।

नाटककार की समस्याएं

नाटककार की परिस्थितियां दूसरे लेखकों की परिस्थितियों से भिन्न होती हैं। वह उपन्यासकार की भांति सभी प्रकार के दृश्य रंगमंच पर दिखा भी नहीं सकता। उसे इस बात का ख्याल रखना पड़ता है कि रंगमंच पर कौन-सा दृश्य दिखाया जा सकता है, कौनसा नहीं। उपन्यासकार समस्त ऐसे घटनाचक्र का वर्णन करता जाता है, जिसे कथा के विकास के लिए वह आवश्यक समझता है, लेकिन नाटककार दो सेनाओं का युद्ध, नदी की बाढ़, पाकिस्तान में होने वाला रक्तमेध नहीं दिखा सकता। नाटककार को बहुत सी अवान्तर्गत घटनाएं भी छोड़ देनी पड़ती हैं, जिनकी संगति तथा परिस्थितियों की कल्पना स्वयं दर्शक को करनी पड़ती है। "वस्तुतः नाटक कथानक का एक रूपरेखा मात्र या प्रमुख-प्रमुख घटनाओं का संकेतमात्र होता है।"

नाटककार के सामने दूसरी समस्या यह भी होती है कि उसके पास समय बिलकुल सीमित है। उसे दो तीन घंटों में नाटक की कथावस्तु का अभिनय समाप्त कर देना होता है। इस लिए उसे अपने पात्रों का चरित्र-चित्रण करते समय उन सब बातों को छोड़ देना पड़ता है, जिनके बिना किसी तरह काम चल सकता है। यही कारण है कि रामायण और महाभारत या कृष्णचरित्र जैसे लम्बे कथानक नहीं, उनकी कोई एक घटना नाटक का आधार होती है।

नाटक के तत्त्व

साधारणतः नाटक के चार प्रधान तत्त्व माने जाते हैं—कथावस्तु, चरित्र, उद्देश्य और शैली। कुछ दूसरे लेखक कथोपकथन, देशकालविधान आदि को भी नाटक के तत्त्वों में गिनते हैं, किन्तु चरित्र-चित्रण में इनका समावेश हो जाता है। नाटककार को सभी तत्त्वों के विकास पर ध्यान देना चाहिए। इन चारों तत्त्वों का नाटक रचना में अत्यन्त महत्वपूर्ण भाग रहता है। इसलिए इन पर कुछ अधिक विचार कर लेना आवश्यक है।

कथावस्तु

नाटक के अभिनय का सार उसकी गतिशीलता कथा के लगातार आगे बढ़ते जाने में है। नाटककार दर्शकों की आंखों के सामने कथा की प्रगति का चित्र उपस्थित करता जाता है, परन्तु घटनाचक्र में यह गतिशीलता उत्पन्न करने के लिए परस्पर विरोध या संघर्ष का आश्रय लिया जाता है। श्री डा० सूर्यकान्त के शब्दों मे "यही नाटकीय अनुभूति का सर्वस्व है। यह संघर्ष दो व्यक्तियों मे हो सकता हैं, दो विभिन्न परिस्थितियों, दो विभिन्न विचार-धाराओं, संस्थाओं तथा अपने हृदय में ही स्वार्थ और परार्थ, पुण्य या पाप की भावनाओं के बीच में हो सकता है। इसी संघर्ष को दर्शक के सामने स्पष्ट रूप में रखने वाली घटनाएं ही कथावस्तु हैं।"

चरित्र-चित्रण

नाटक का दूसरा तत्व है चरित्र-चित्रण। नाटककार केवल हमें राम या कृष्ण की कहानी ही नहीं बताता। उसके पात्र राम, रावण, लक्ष्मण, कृष्ण और कंस के चरित्र और स्वभाव का भी पूर्ण परिचय दर्शक को अपने अभिनय के द्वारा देते जाते हैं। कालिदास की शकुन्तला या भवभूति के सीता व राम केवल कथा के घटना-क्रम को ही हमारे सामने उपस्थित नहीं करते, हम उनके विकसित चरित्र को देखकर मुग्ध हो जाते हैं। यही उत्कृष्ट नाटककार की प्रधान विशेषता है। पात्रों की परस्पर बातचीत, उनकी ध्वनि, उनकी वेशभूषा, उनकी आकृति, हास्य, रौद्र या करुण आदि रसों के अभिनय, उनके विचार और स्वगत-भाषण आदि द्वारा उनके चरित्र का स्पष्ट आभास दर्शक को हो जाता है। नाटककार जो प्रयोजन अपने सामने रखकर नाटक लिखता है, उसी के अनुरूप वह पात्रों का चरित्र-चित्रण करता है। वह अपने उद्देश्य के अनुरूप ही पात्रों और कथावस्तु का चुनाव करता है। उसके पात्र अपनी प्रकृति के अनुरूप काम करते हैं और अपनी क्रियाओं, कथोपकथन तथा भाव-मुद्रा द्वारा अपने चरित्र व स्वभाव का परिचय देते हैं। राम और रावण, युधिष्ठिर और दुर्योधन, गांधी और जिन्ना जैसे परस्पर-विरोधी चित्रण चरित्र का और भी अधिक विकास करते हैं।

कथोपकथन

चरित्र को कथोपकथन सबसे अधिक स्पष्ट करता है। नाटककार के अपने मानसिक भाव किसी पात्र द्वारा किये गये कथोपकथन से ही प्रकट होते हैं। उत्कृष्टनाटक-कार चुने हुए थोड़े से अर्थगर्भ शब्दों द्वारा ही बहुत कुछ कह जाता है, जो उपन्यासों के पृष्ठों में लम्बी बातचीत से भी स्पष्ट नहीं होता। चरित्र वास्तविकता के अधिक निकट होंगे, तभी नाटक सफल होगा। इसके लिए यह भी आवश्यक है कि सभी पात्र अपने-अपने देश व काल के अनुरूप हों। विभिन्न समयों की विचारधाराएं और जीवन के प्रति दृष्टिकोण में अन्तर होता है, जो मनुष्य के चरित्र पर प्रभाव डालते हैं। पात्रों के चरित्र उन्हीं के अनुरूप होने चाहिएं।

उद्देश्य

नाटककार और उपन्यास लेखक की परिस्थितियां यद्यपि भिन्न होती हैं, तथापि दोनों का उद्देश्य एक सा है और वह है समाज या मानव जीवन का दर्शन। उपन्यास में लेखक जीवन दर्शन के लिए विस्तार से जाता है और जा सकता है, स्थल-स्थल पर अपनी सम्मति दे सकता है, किन्तु नाटककार तो स्वयं रंगमंच पर नहीं आता, इसलिए वह किसी ऐसे पात्र का निर्माण करता है, जो उसके जीवनादर्शों के अनुरूप हो या उसके विचारों को प्रकट करता जाय। भारत और यूरोप के नाटककारों के आदर्श भिन्न भिन्न हैं, इसका प्रभाव उनके नाटकों पर भी पृथक्-पृथक् पड़ा है। कालिदास के शकुन्तला नाटक में आध्यात्मिक जीवन का परिचय मिलता है। कविवर रवीन्द्र के शब्दों में शकुन्तला में दो मिलन हैं—पूर्व मिलन और उत्तर मिलन। प्रथम अंक में चंचल, सौन्दर्यमय तथा अनूठे पूर्वमिलन से स्वर्ग के तपोवन में शाश्वत तथा आनन्दमय उत्तरमिलन की यात्रा ही शकुन्तला नाटक का सार है। निष्कलंक सौन्दर्यलोक में विचरने वाली नवयुवती शकुन्तला अन्त में शान्त प्रकृति, दुःख सहनशील, तापसी तथा सतीधर्म का पालन करने वाली बन गई है। यही भारतीय जीवन का आदर्श है। इसके विपरीत शेक्सपीयर के नाटकों में परस्पर संघर्ष की चरम सीमा मिलती है। वहां मनुष्य प्रकृति के साथ और मनुष्य

मनुष्य के साथ संघर्षमय जीवन व्यतीत करता दिखाई देता है। प्राचीन भारतीय कलाकार नाटक का उद्देश्य भी धर्म, अर्थ और काम बताते हैं जबकि पाश्चात्य विद्वान् नाटक को मनोरंजन व समाज के यथार्थ-दर्शन का रूप देते हैं।

सुखान्त या दुःखान्त

भारतीय और पश्चिमी नाटककारों का यही दृष्टिभेद भारत में सुखान्त नाटकों की तथा यूरोप में दुःखान्त नाटकों की रचना का कारण बना है। भारतीय आचार्यों की सम्मति में मंगलमय जीवन का अन्त दुःख में नहीं होता। मंगल का परिणाम न्यायकारी ईश्वर की सृष्टि में सुख व शान्ति ही होता है। कालिदास की शकुन्तला जीवन में भारी से भारी कष्ट झेलने के बाद अन्त में आनन्द ही अनुभव करती है। 'उत्तर-राम-चरित' सीता के पृथ्वी में समाने से पूर्व ही समाप्त हो जाता है। यदि ऊंचे चरित्र भी अन्त में दुःख पावें, तो फिर ऊंचे चरित्र की ओर दर्शकों की प्रवृत्ति ही न हो। आज के संघर्षमय कठिन जीवन में असंतुष्ट मनुष्य को निराशाओं का सामना अधिक करना पड़ता है, इसलिए दुःखान्त नाटक अधिक स्वाभाविक हो गये हैं।

भारतीय और पश्चिमी नाटककारों में इसी दृष्टिभेद से कुछ और भी अन्तर रहते हैं। भारतीय नाटकों में नायक सदा महान् चरित्र का रहा है, उसे दर्शकों के सामने एक मंगल सन्देश देना है। इसके विपरीत शैक्सपीयर के प्रधान नायक दुश्चरित्र भी रहे हैं। आज तो कुलीन, अकुलीन या चरित्रवान् दुश्चरित्र का भी विचार नहीं रहा है। इसका एक कारण है। आज का लेखक समाज की वर्तमान समस्या व नई विचारधारा से प्रभावित होता है। वह निम्न स्तर के समाज की समस्याओं को सामने रखता है और उसी में से पात्रों का चुनाव करता है। फिर पहले की तरह से किसान, दलित, मजदूर, भंगी उपेक्षणीय नहीं रहे हैं। समाजवादी विचारधारा के प्रसार के साथ-साथ उनका भी महत्व बढ़ गया है। अब नाटक भी राजदरबारों के लिए नहीं लिखे जाकर सर्वसाधारण के लिए लिखे जाते हैं। इसलिए उनकी समस्याएं ही उनमें प्रधान होती हैं।

पहले के नाटकों में संघर्ष केवल राजाओं में दिखाया जाता था। आज का नाटककार दो विचारधाराओं, दो संस्थाओं और दो आदर्शों का संघर्ष दिखाता है। पहले गद्य-प्रसार की कमी के कारण कथोपकथन में भी पद्य का प्रयोग अधिक होता था, अब नाटकों में पद्य का प्रयोग कम होता है। स्वगत की पुरानी प्रथा भी असंगत सी जानकर अब छोड़ दी गई है।

उपन्यास

रूपरेखा—

१—उपन्यास क्या है ?—शब्द के दो अर्थ—प्रसादन और सामने रखना। मानव जीवन का चित्र उपस्थित करने वाले उपन्यास होते हैं। श्यामसुन्दरदास व प्रेमचन्द के लक्षण।

२—कहानी से उपन्यास का विकास।

३—उपन्यास के छः तत्त्व—कथावस्तु, पात्र, चरित्र-चित्रण, देशकाल, उद्देश्य और शैली।

४—पुराने और नये उपन्यासों में भेद।

५—हिन्दी उपन्यास का विकास।

उपन्यास क्या है ?

उपन्यास शब्द नया नहीं है। संस्कृत-साहित्य में अनेक स्थानों पर यह शब्द प्रयुक्त हुआ है। नाटक की संधियों के एक उपभेद का नाम ही उपन्यास है। इस शब्द के यहां दो अर्थ किये जाते हैं—प्रसन्न करने को उपन्यास कहते हैं (उपन्यासः प्रसादनम्)। किसी विचार को युक्ति रूप से उपस्थित करना भी उपन्यास कहा जाता है। उपन्यास प्रसन्नता देते हैं और किसी विचार को हमारे समीप या सम्मुख रखते हैं। परन्तु सचाई यह है कि नाटकों के इस उपन्यास और आजकल के उपन्यास में शब्द मात्र की समानता है। वैसे दोनों परस्पर सर्वथा भिन्न-भिन्न हैं। यों आजकल के उपन्यास मानव-जीवन के चित्र को हमारे सामने स्पष्ट उपस्थित करते हैं – नाटक और इतिहास की अपेक्षा भी अधिक सुव्यवस्थित और स्पष्ट रूप से। इतिहासकार या चरित-लेखक भी मानव के बाह्य जीवन और प्रत्यक्ष घटनाक्रम को ही हमारे सामने रखता है, किन्तु उपन्यास लेखक उसके मानस का संघर्ष भी अपनी कुशलता द्वारा उपस्थित कर देता है, जिससे उसके चरित्र पर नया प्रकाश पड़ जाता है।

हिन्दी-साहित्य के प्रसिद्ध विद्वान् श्यामसुन्दरदास के शब्दों में 'मनुष्य के वास्तविक जीवन की काल्पनिक कथा' का नाम उपन्यास है। प्रसिद्ध उपन्यास-लेखक श्री प्रेमचन्द 'मानव-चरित्र के चित्र' को उपन्यास कहते हैं। मानव-चरित्र पर प्रकाश डालकर उसके रहस्यों को खोलना ही उनकी सम्मति में उपन्यास का मूल तत्व है। श्री गुलाबराय के शब्दों में 'उपन्यास कार्य-कारण-श्रृङ्खला में बंधा हुआ वह गद्य कथानक है, जिसमें अपेक्षाकृत अधिक विस्तार तथा पेचीदगी के साथ वास्तविक जीवन का प्रतिनिधित्व करने वाले व्यक्तियों से सम्बंधित वास्तविक या काल्पनिक घटनाओं द्वारा मानवजीवन के सत्य का रसात्मक रूप से उद्घाटन किया जाता है'। अंग्रेज़ी में उपन्यास को नावेल अर्थात् नवीन कहते हैं इसकी कथा में नई से नई बात निकलती रहती है। मराठी में शायद नावेल शब्द को ही लेकर उपन्यास को 'नवल कथा' कहा जाने लगा है।

उपन्यास का विकास

उपन्यास का विकास कहानी से हुआ है। कहानी किसी एक घटना को लेकर लिखी जाती है, जिसमें जीवन के एक पहलू पर प्रकाश पड़ता है, किन्तु उपन्यास जीवन के व्यापक और विस्तृत रूप पर--बहुत से पहलुओं पर प्रकाश डालता है। कहानी में थोड़े से पात्र आते हैं और अपनी किसी एक बात को कह कर चले जाते हैं, परन्तु उपन्यास में वे पात्र बहुत दूर तक चलते हैं और विस्तृत घटनाक्रम के जाल में से कथानक को आगे ले चलते हैं। प्रमुख कथानक के साथ छोटी-छोटी कथाएं भी चलती रहती हैं। बहुत से लोग विस्तृत कहानी को ही उपन्यास कह देते हैं। वस्तुतः छोटी कहानी को विस्तृत और व्यापक रूप देते हुए ही उपन्यास का निर्माण हुआ है।

उपन्यास के तत्व

प्राचीन काल में गद्य का विकास कम हुआ था, इसीलिए काव्य का सर्वाङ्गीण और व्यापक विकास होते हुए भी संस्कृत में उपन्यास नहीं लिखे जा सके और न काव्य शास्त्र या नाटकों की तरह उपन्यास का शास्त्रीय विवेचन ही हुआ है। कादम्बरी, वासवदत्ता आदि ग्रंथों को हम उपन्यास कह सकते हैं,

परन्तु ऐसे उपन्यास, जिन्हें आख्यायिका कहा जाता था, इतनी कम संख्या में लिखे गये कि किसी आचार्य ने इनके विवेचन की आवश्यकता नहीं समझी। फिर प्राचीन उपन्यासों या आख्यायिकाओं का दृष्टिकोण, कथाबन्ध आदि सब आज बदल गया है। इसलिए प्राचीन शास्त्रों से काम भी नहीं चल सकता। आधुनिक उपन्यासों के निम्नलिखित तत्व माने जाते हैं—

कथावस्तु, पात्र या चरित्र-चित्रण, कथोपकथन, देशकाल, उद्देश्य और शैली। इन छहों तत्वों के बिना कोई उपन्यास पूर्ण नहीं हो सकता। उत्कृष्ट लेखक उपन्यास के इन छहों अंगों के उत्कर्ष का ध्यान रखते हैं।

कथावस्तु

कथावस्तु समस्त उपन्यास में प्रमुख अंग है। कोई उपन्यास घटनाक्रम के बिना एक पद भी आगे नहीं चल सकता। घटनाओं के ढांचे पर ही तो कोई उपन्यास खड़ा किया जाता है। हम ऊपर कह आये हैं कि कहानी से उपन्यास का जन्म हुआ है। इसलिए उपन्यास के लिए कथावस्तु का उत्कृष्ट होना अत्यन्त आवश्यक है। कथावस्तु का चुनाव बहुत सावधानी से करना चाहिए। कथा मौलिक हो, सूझ नई हो, पाठकों को उसमें रस जान पड़े। नई नई समस्याएं, नई कल्पनाएं कथानक में उत्सुकता बढ़ा देती हैं। कथावस्तु की सबसे बड़ी विशेषता उसकी रोचकता है। उपन्यास मनोरंजन के लिए ही पढ़ा जाता है और उसकी मनोरंजकता कहानी की कुतूहलता के कारण हो रह जाती है। आगे क्या हुआ, यह जानने की उत्सुकता यदि न रहे, तो लोग उपन्यास ही न पढ़ा करें। उपन्यास वही सफल होता है, जिसे प्रारंभ कर छोड़ने को दिल न करे। कथावस्तु की दूसरी प्रधान विशेषता यह होनी चाहिए कि उसमें अस्वाभाविकता न हो, प्रत्येक घटना आगे की घटना को जन्म देती जाय—अर्थात् घटनाक्रम का विकास स्वयं होता रहे, कार्य-कारण-शृङ्खला शिथिल नहीं होनी चाहिए। समस्त घटनाक्रम पाठक के हृदय को स्पर्श करने वाला और उनके मनोवेगों को तरंगित करने वाला होना चाहिए।

पात्रों का चरित्र-चित्रण

एक समय था, जब लोग केवल कथावस्तु की रोचकता में ही संतोष मानते थे, किन्तु साहित्य सम्बन्धी दृष्टिकोण बदलने के साथ-साथ अब पात्र और उनके चरित्र का महत्व बहुत बढ़ गया है। पात्रों के बिना कोई कथा चल नहीं सकती। समस्त घटनाचक्र का कर्ता मनुष्य ही पात्र है। यदि लेखक पात्रों का चरित्र जीवित रूप में खींचता जाता है और पाठक के सामने पात्र पंक्तिबद्ध खड़े हो जाते हैं, तो पात्रों के साथ पाठक का तादात्म्य हो जाता है। उपन्यासकार एक नई सृष्टि का निर्माण करता है। इसका प्रत्येक पात्र सजीव होता है। जो मानव जीवन के एक न एक पहलू का दर्शन कराता है। प्रत्येक पात्र अनेक रूप मानव जीवन की व्याख्या करता हुआ प्रतीत होता है। बाह्य वेशभूषा, रहन-सहन, मानसिक संघर्ष तथा विभिन्न गुणों पर प्रकाश डाल कर पात्र के चरित्र की विशेषता बताई जाती है। कुछ चरित्र एक जाति या वर्ग का प्रतिनिधित्व करते हैं, तो कुछ अपने-अपने व्यक्तित्व का। उपन्यासकार कहीं स्वयं चरित्र पर प्रकाश डालता है, तो कभी पात्र अपनी बातचीत के द्वारा अपने या दूसरे के स्वभाव का परिचय देते हैं। प्रेमचन्द के गोदान में होरी, प्रो० मेहता, रायसाहब, मि० खन्ना, मालती आदि अपने-अपने चरित्र और स्वभाव द्वारा हमारे सामने मानव जीवन का एक स्पष्ट चित्र खींच देते हैं। यही सत्य है, जो उपन्यासकार की सृष्टि को सजीव और स्वाभाविक रूप में हमारे सामने रखता है।

कथोपकथन

कथोपकथन या वार्तालाप के द्वारा ही पात्र कथावस्तु को आगे बढ़ाते हैं। इसी के द्वारा हम पात्रों से पूर्ण परिचय प्राप्त करते हैं। यही कथोपकथन कथावस्तु को कला का रूप देता है और उसमें गतिशीलता ला देता है। कथोपकथन की विशेषताएं यह होती हैं—भाषा सजीव हो, स्वाभाविक हो और पात्रों के अनुरूप हो। कथोपकथन में लम्बे-लम्बे उपदेश नहीं होने चाहिएं।

देशकाल

समस्त उपन्यास का वातावरण भी देशकाल के अनुरूप होना चाहिए। देशकाल की पृष्ठभूमि पर ही उपन्यास का कोई चित्र खींचा जाता है। रामायणकालीन उपन्यास लिखते समय आज का नारी जागरण, अधिकार-भावना अथवा वर्तमान भौतिक उन्नति का संकेत देना बहुत अनुचित होगा।

उद्देश्य

उपन्यासकार का उद्देश्य केवल कहानी भर कहना नहीं है। वह समाज का चित्र खींचते हुए कोई संदेश भी देना चाहता है। समाज के सामने आने वाली समस्याओं से वह आंख मूंद ही नहीं सकता। वह उन पर अपना विचार भी प्रकट करता है। प्रेमचन्द का गोदान होरी और मेहता या मालती के हृदय-परिवर्तन द्वारा एक निश्चित संदेश देता है। उपन्यास जीवन के लिए है, न कि जीवन उपन्यास के लिए। इसलिए उपन्यासकार का उद्देश्य केवल मनोरंजन न होकर जीवन का कोई सत्य पाठक के सामने रखना होना चाहिए। केवल यथार्थ का चित्रण या कला का प्रदर्शन पर्याप्त नहीं है।

शैली

शैली उपन्यास को रोचक बनाती है। शृङ्गार, वीर करुण आदि रस तथा विविध भाव आकर उसे सजीव कर देते हैं। सब घटनाओं को एक क्रम, एक अनुपात और एक कौशल के साथ रखने में उपन्यासकार की सफलता होती है। भाषा पात्रों के और देशकाल के अनुरूप होनी चाहिए।

पुराने और नये उपन्यास

उपन्यास के ये छहों तत्व प्राचीन उपन्यासों में बहुत अधिक स्पष्ट नहीं थे। पहले तो उपन्यासों का प्रधान उद्देश्य मानव जीवन की व्याख्या न होकर केवल कौतूहल या मनोरंजन होता था। घटनाक्रम में स्वाभाविकता की अपेक्षा आश्चर्य व कुतूहल अधिक होता था। पात्रों के चरित्र एक निश्चित प्रकार के होते थे, उनमें परिवर्तन या विकास की कोई गुंजाइश नहीं होती थी। लेखक

प्रकृति या दृश्य का वर्णन करने में पर्याप्त स्थान ले लेता था। उसके सामने न समाज की समस्या थी, न काल की। वह तो किन्हीं दो तीन पात्रों के संघर्ष और कहानी की मनोरंजकता तक अपने को सीमित रखता था, किन्तु समय के साथ-साथ उपन्यास समाज की समस्याओं पर प्रकाश डालने लगे। 'टाम काका की कुटिया' नामक उपन्यास को अमरीका से दास-प्रथा के उन्मूलन का पर्याप्त श्रेय दिया जा सकता है और उत्तरप्रदेश में जमींदारी प्रथा के विरुद्ध वातावरण पैदा करने का श्रेय मुन्शी प्रेमचन्द के उपन्यासों को दिया जा सकता है।

हिन्दी उपन्यास का विकास

वर्तमान उपन्यास केवल बाह्य संघर्ष ही नहीं दिखाते, वे मानसिक संघर्ष और भावों के द्वन्द्व-प्रतिद्वन्द्व का भी पूर्ण चित्रण करते हैं। उनमें मनोवैज्ञानिक सत्यों का प्रकाश रहता है। कोई समय था, जब बा० देवकीनन्दन खत्री के तिलिस्मी या दूसरे घटना-प्रधान उपन्यासों की धूम थी। परन्तु मुन्शी प्रेमचन्द ने सामाजिक विश्लेषण और विशेषकर मानव-चरित्र का मर्मस्पर्शी चित्रण करके हिन्दी में आधुनिक उपन्यास का श्रीगणेश और नेतृत्व किया। उन्होंने उपन्यासधारा को घटना जाल के संकुचित क्षेत्र से निकालकर नानाविध समाज के व्यापक क्षेत्र में प्रवाहित किया। उन्हीं के नेतृत्व में हिन्दी उपन्यास समृद्ध हुआ है। पर शरत् के बंगला उपन्यासों ने हिन्दी उपन्यास को समाज की विशुद्ध वर्तमान समस्याओं से भी आगे बढ़कर, सनातन मनोवैज्ञानिक मानव-स्वभाव के विश्लेषण की दिशा दी है। प्रेमचन्द ने समाज की समस्याओं को एक प्रचारक या संदेशदाता की दृष्टि से देखा है, शरत् ने उसे अधिक मनोवैज्ञानिक रूप दिया है, कला की उपेक्षा नहीं की, वह हृदय की गहराई तक अधिक गया है। हिन्दी उपन्यासकारों ने प्रेमचन्द और शरत् दोनों से प्रेरणा ली है। श्री शान्तिप्रिय द्विवेदी ने दोनों की तुलना करते हुए लिखा है—"अभिव्यक्ति की दृष्टि से प्रेमचन्द का कथासाहित्य घटनामूलक है, शरद् का आत्ममन्थनमूलक। चरित्र-चित्रण में प्रेमचन्द का मनोविज्ञान ड्राइंग की तरह

उभरा हुआ है, शरत् का मनोविज्ञान छायाचित्र की तरह सांकेतिक। प्रेमचन्द में मुखरता है, शरत् में नीरवता। प्रेमचन्द ज्ञान को बढ़ाता है, शरत् अन्त-र्जिज्ञासा को। प्रेमचन्द का धरातल शरत् से बहुत बड़ा है एक आन्दोलित साम्राज्य की तरह, सामाजिक और राजनैतिक, किन्तु शरत् का धरातल छोटा सा है—पारिवारिक। शरत् जीवन केन्द्र में स्थित है।"

आज का हिन्दी उपन्यास, इन दोनों विशेषताओं को लेकर लिखा जा रहा है। जैनेन्द्र, इलाचन्द जोशी, भगवतीचरण वर्मा, वृन्दावनलाल वर्मा, सियारामशरण आदि लेखक दोनों विचारधाराओं से प्रेरणा लेकर चल रहे हैं। पिछले कुछ वर्षों से प्रगतिवाद ने उपन्यास क्षेत्र पर भी आक्रमण किया है। श्री यशपाल की कला कुछ सुन्दर उपन्यास लिखने के बाद अपने वाद के प्रचार में लग गई है। श्री 'अश्क', श्री 'अज्ञेय' व पहाड़ी' आदि के उपन्यास भी नई प्रवृत्ति के सूचक हैं।

सूर सूर, तुलसी ससी

१—भक्ति काव्य के दो रत्न—सूर और तुलसी। दोनों युगप्रवर्तक थे, सन्त थे, भक्त थे, दोनों ने क्रमशः कृष्ण व राम को आराध्य बनाया।

२—दोनों का दृष्टिकोण भिन्न-भिन्न—राम को तुलसी ने मर्यादा-पुरुषोत्तम रूप में देखा—सूर ने कृष्ण को लोकरंजक रूप में। राम मानव-समाज के लिए आदर्श था, सूर के कृष्ण का मानवजीवन से प्रेम व वात्सल्य के सिवा कोई सम्बन्ध न था। तुलसी की भक्ति सेवक-सेव्य की भक्ति, सूर की भक्ति सखा-भाव की। सूर का दृष्टिकोण एकांगी, तुलसी का सर्वाङ्गीण।

३—तुलसी के काव्य में सब रसों का चित्रण, सूर साहित्य में वात्सल्य और श्रृंगार। दोनों में सूर बढ़ गये है। तुलसी का श्रृंगार संयत है, सूर का असंयत। सूर का वियोग वर्णन हृदयस्पर्शी—भ्रमर-गीत हिन्दी-साहित्य की अमर संपत्ति।

४—काव्य में तुलसी श्रेष्ठ—रस, प्रतिभा, प्रबन्ध-काव्य में तुलसी ही बढ़े हुए थे। ब्रज तथा अवधी दोनों पर तुलसी का असाधारण अधिकार था, सूर का केवल ब्रज पर। अलंकारों के प्रयोग में भी तुलसी श्रेष्ठ।

भक्तिकाव्य हिन्दी-साहित्य में आज भी सबसे अधिक प्रशंसनीय और महत्वपूर्ण माना जाता है। उस भक्तिकाव्य के कलाकारों में भी यदि कोई दो रत्न सबसे अधिक प्रकाशमान हैं, तो वे हैं तुलसी और सूर। दोनों ही हिन्दी काव्य में युगप्रवर्तक नेता थे। दोनों ने साहित्य में पृथक्-पृथक् दो धाराएं चलाईं। तुलसी ने यदि राम भक्ति की गंगा बहाई, तो सूर ने कृष्ण भक्ति से हिन्दी-साहित्य को आप्लावित कर दिया। राम और कृष्ण—यही दो महान् पुरुष थे, जिनका अवलम्बन हिन्दू जाति ने आत्मरक्षा के लिए किया था। गो०

तुलसीदास और सूरदास दोनों की भक्तिभावना और आराध्य के प्रति श्रद्धा अपने में पूर्ण थी। दोनों सन्त थे और उनकी भक्तिभावना का प्रवाह हिन्दी-साहित्य को अमर कर गया। उनकी सेवाओं को स्मरण करके ही किसी कवि ने हिन्दी-साहित्य रूपी आकाश में दोनों को सूरज और चांद से उपमा दी है।

दो विभिन्न धाराएं

हिन्दी-साहित्य के ये दोनों महाकवि यद्यपि वैष्णव भक्त और सन्त थे, तथापि दृष्टिकोण के भेद के कारण दोनों ने हिन्दी-साहित्य में दो पृथक्-पृथक् धाराएं बहाईं। इन दोनों धाराओं की अपनी अपनी विशेषताएं हैं। गोस्वामी तुलसी राम के भक्त थे। *"बसहिं रामसिय मानस मोरे"*, *"विनती करौं कर जोड़"* उनकी तल्लीनता और भक्ति का प्रमाण हैं। वे राम को मर्यादा-पुरुषोत्तम, सर्वशक्तिमान्, हिमालय जैसे उच्चतम आदर्श के रूप में देखते थे। उनका राम सचमुच पूर्ण है, वह सुशील शिष्य है, आज्ञापालक पुत्र है, आदर्श पति है, आदर्श क्षत्रिय है, आदर्श राजा है। वह कभी विषमतम परिस्थितियों में भी घबराता नहीं। उसकी वीरता असंदिग्ध है। ताड़का, विराध, कुम्भकर्ण और रावण जैसे वीर शत्रुओं का संहार करने में वह समर्थ है। पत्नी को निर्वासित करके भी वह दूसरा विवाह नहीं करता। वह कभी क्रोध नहीं करता। उसने ऐसे पूर्ण पुरुष को आराध्य मान कर संसार को ऊंचे आदर्शों की शिक्षा दी। इतना असाधारण आराध्य आदर और भक्ति या श्रद्धा की वस्तु हो सकती है, प्रेम और स्नेह की नहीं। इसलिए तुलसी की भक्ति सख्य भाव नहीं, दैन्य भाव की है।

सेवक सेव्य भाव बिनु, भव न तरिय खगेश।
तीनि लोक तिहु काल जस, चातक ही के साथ।
तुलसी जासु न दीनता, सुनी दूसरे नाथ॥
"तू दयालु दीन हौं, तू दानि हौं भिखारी।
हौं प्रसिद्ध पातकी, तू पाप पुंजहारी॥

गोस्वामी तुलसीदास जीवन को पूर्ण रूप में देखते थे, जिसमें व्यक्ति, केवल एक व्यक्ति ही नहीं है, वह समस्त समाज और देश का अंग है। मानव उनकी सम्मति में केवल परलोक की चिन्ता नहीं करता है, केवल राम में नहीं रमा रहता, वह इस संसार में भी रहता है, उसे आदर्श पुत्र, आदर्श पति और आदर्श माता भी बनना है तथा समाज के प्रति अपने कर्तव्यों का पालन भी करना है। इसीलिए गोस्वामीजी ने केवल विनयपत्रिका, गीतावली, जानकी मंगल, वैराग्यसन्दीपनी आदि काव्य ही नहीं लिखे, रामचरित-मानस नामक विशाल प्रबन्धकाव्य भी लिखा, जिसमें जीवन को विस्तृत और व्यापक दृष्टिकोण से देखा गया है।

गो० तुलसीदास के विपरीत सूरदास कृष्ण के भक्त थे और शायद तल्लीनता में वे उनसे भी बढ़ कर थे। गोस्वामीजी राम के सिवाय और देवताओं को भी स्वीकार कर लेते थे, किन्तु सूर कहते हैं—

और सब देव सब रंक भिखारी, त्यागे बहुत अनेरे।

सूर के कृष्ण

सूर के कृष्ण तुलसी के राम की भांति मर्यादापुरुषोत्तम नहीं हैं। तुलसी को संपूर्ण जीवन के अन्त तक पहुंचने की इच्छा थी, सूर की भक्ति ने इसकी आवश्यकता ही नहीं समझी। वह तो कृष्ण के बाल-स्वरूप पर ही मुग्ध होगये और आगे बढ़े तो राधावल्लभ रूप तक। इसी रूप में यदि उन्हें भक्ति के लिए आराध्य देवता मिल जाते हैं, तो आगे बढ़ने और दिमाग़ थकाने की आवश्यकता ही क्या? उन्हें तो बाल-गोपाल और गोपी-वल्लभ रूप ने ही भक्तिरस में सराबोर कर दिया, जीवन के दूसरे रूपों को वे किस लिये देखते। सूरदासके इस दृष्टिकोण ने ही उनको तुलसी से भिन्न मार्ग पर चलाया। उनके काव्य में मुक्तक छन्द ही अधिक हैं। जीवन के संपूर्ण अंगों पर वे ध्यान ही न दे सके। उनके कृष्ण कृष्ण ही थे, वे समाज के अंग या नेता नहीं थे। समाज के साथ ऐतिहासिक कृष्ण का शायद राम से भी अधिक सम्बन्ध रहा हो, किन्तु सूर का कृष्ण कंसवध के लिए मथुरा जाकर भी समाज का नेता नहीं

बनता, वह रहता है आराध्यदेव और वह भी प्रेम में पगा हुआ। कृष्ण ने कंस का वध किया, अनेक शत्रुओं का हनन किया, द्वारिकापुरी में राज्य स्थापित किया, गीता का उपदेश दिया, भारतीय राजनीति का चक्र चलाया, लेकिन कृष्ण का यह व्यापक स्वरूप सूर की दृष्टि में नहीं आया। उसने कृष्ण का लोकरंजक रूप ही देखा और उसी का चित्रण किया। इसलिए इस मुख्य भेद के कारण सूर और तुलसी दोनों के काव्य परस्पर भिन्न हो गये हैं।

सूर का वात्सल्य

तुलसी के काव्य में सब रसों का चित्रण मिलता है, वात्सल्य, करुण, शृङ्गार, शान्त, वीर, आदि। इसका कारण यह था कि वे जीवन के सम्पूर्ण अंगों को देखते थे और उसमें सभी रसों का समावेश हो सकता है। इसके विपरीत सूरदास के काव्य में वात्सल्य और शृङ्गार का ही वर्णन मिलता है। सूरदास का वात्सल्य रस वर्णन तो अद्भुत है। हिन्दी-साहित्य में ही नहीं, शायद संसार भर के साहित्य में वात्सल्य का सूर से उत्कृष्ट वर्णन कोई कवि नहीं कर पाया। न जाने चक्षुओं से विहीन सूरदास बालमनोविज्ञान का इतना सूक्ष्म निरीक्षण कैसे कर सके। उनके कुछ पद तो बाल-लीला और बाल-मनोविज्ञान के चित्रण के लिए बहुत प्रसिद्ध हो गये हैं।

मैया कबहुं बढ़ैगी चोटी,
किती बार मोहिं दूध पियत भइ यह अजहूं है छोटी।

× × ×

घर आंगन अति चलन सुगम, भयो देह देहरी में अटकावत।
गिरि गिरि परत जात नहीं उलंघी, अति स्रम होत न धावत॥

"मैया मैं नहीं माखन खायो" या *"मैया मोहि दाऊ बहुत खिझायो"* आदि पद बाललीला के सुन्दर वर्णन हैं। शैशव से लेकर कुमार अवस्था तक बाल जीवन के पचासों चित्र इसमें विद्यमान हैं। जसोदा मैया की वात्सल्यमयी चिन्ता बड़ी मर्मस्पर्शिणी है। मथुरा में कृष्ण बड़े आराम से रहते हैं, पर जसोदा को चिन्ता लगी हुई है। वह कहती है—

संदेसो देवकी सों कहियो,
हौं तो धाय तिहारे सुत की कृपा करत ही रहियो।
तुम तो टेव जानतहि ह्वै हौ तऊ मोहि कहि आवे।
प्रात उठत मेरे लाल लड़ैतहिं माखन रोटी भावै॥

तुलसी ने भी बाललीला का वर्णन किया है, किन्तु वह उतना उत्कृष्ट नहीं हो पाया। वात्सल्य रस की भांति सूर का श्रृङ्गार वर्णन भी तुलसी से अधिक ऊंचा है। सूर ने संयोग और वियोग दोनों स्थितियों में श्रृङ्गार रस का अद्भुत वर्णन किया है। राधा कृष्ण के परस्पर मिलने और वियोग में तड़पने का अत्यन्त सुन्दर चित्रण सूर ने किया है।

"खेलन हरि निकसे ब्रज खोरी
औचक ही देखी तहं राधा नयन विशाल भाल दिये रोरी।
सूर श्याम देखत ही रीझै नैन नैन मिलि परी ठगोरी॥"

गोपियों का कृष्ण के प्रति प्रेम कितना गहरा था, इसकी अनुभूति सूर काव्य के पढ़ने से भली भांति होती है। परन्तु संयोग श्रृङ्गार की अपेक्षा विप्रलंभ श्रृङ्गार अधिक सुन्दर बन पड़ा है। इसका मुख्य कारण यह है कि सूरदास स्वयं विरही थे, कृष्ण को पाने के लिए तड़पते थे। गोपियों की पीड़ा उनके अपने हृदय की पीड़ा है। इसलिए वे वियोगी हृदय को खूब समझ सके थे। भागवत की कथा के अनुसार गोपियों को छोड़कर कृष्ण मथुरा चले गये थे और फिर कभी वृन्दावन नहीं लौटे थे। इस स्थिति में गोपियों की विरह-वेदना का बहुत ही हृदयस्पर्शी वर्णन हुआ है। गोपियों के रूप में सूर ने अपनी ही पीड़ा का वर्णन किया है।

ऊधो अब नहीं स्याम हमारे,
मधुवन बसत बदलिगे वे माधव मधुप तिहारे।

× × ×

बिन गोपाल बैरिन भई कुंजै,
तब ये लता लगति अति शीतल, अब भई विषमज्वाल की पुंजैं।
वृथा बहति जमुना, खग बोलत, वृथा कमल फूलें, अलि गुंजै॥

इसी विप्रलम्भ श्रृङ्गार के प्रसंग में सूरदास का भ्रमरगीत हिन्दी-साहित्य की अमूल्य सम्पत्ति है। गोपियों का उद्धव से विवाद, विरह-दशा का वर्णन और "*ऊधो मन नाहीं दस बीस*" कहकर ऊधो को निरुत्तर कर देना विप्रलंभ श्रृङ्गार के सुन्दर उदाहरण हैं।

सूरदास के विपरीत गो० तुलसीदास के श्रृङ्गार और वात्सल्य दोनों में उतनी उत्कृष्टता नहीं। राम व सीता एक दूसरे की ओर आकृष्ट तो होते हैं, किन्तु संयम और शालीनता नहीं छोड़ते। तुलसी के राम मर्यादा पुरुषोत्तम जो हैं। प्रेम के कारण कर्त्तव्य को भुलाया नहीं जा सकता। सीता बन में भेज दी गई, पर सीता राम को खरी खोटी नहीं सुना सकी, क्योंकि राम बहुत ऊंचे हैं। वह तो एक मीठा उलहना देकर ही रह जाती है—

लखनलाल कृपाल निपटहि डारि बीन बिसारी।
पालबी सब तापसिन ज्यों राजधरम बिचारी॥

तुलसी राम को सीता से वाटिका में मिलाकर भी बात नहीं करवाते-

"*जब सिय सखिन्ह प्रेम बस जानी। कहि न सकहिं कछु मन सकुचानी।*"

सूर के कृष्ण तो राधा को लिये कुंजों में खेलते हैं। यही कारण है कि सूरदास अपने आराध्य देव को उलहना देते हुए भी संकोच नहीं करते, उनके कृष्ण तो सखा हैं, मित्र से भेदभाव कैसा ?

आजु हौ, एक एक करि टरि हौं,
कै हम हीं कै तुम ही माधव अपुन भरोसै लरि हौं।
अब हौं उघरि नचन चाहत हौं, तुम्हें बिरद बिनु करि हौं॥

तुलसी खुलकर श्रृङ्गार लिख ही नहीं सकते थे और सूर को चीर-हरण की चर्चा में भी संकोच नहीं था।

फिर भी तुलसी ऊंचे

श्रृङ्गार और वात्सल्य में सूर के उत्कृष्ट होने पर भी शेष रसों के काव्य में तुलसी ही श्रेष्ठ हैं। वे सभी रसों में समान भाव से लिख सकते थे। शान्त रस का वर्णन तो उनका बहुत उत्कृष्ट है। भाषा पर उनका अगाध अधिकार था और प्रत्येक रस के अनुकूल भाषा एकदम आ पहुंचती थी। युद्ध के प्रसंग में

"मत्त-भट-मुकुट दसकध-साहस-सइल-
सृंग-बिद्दरनि जनु वज्र टांकी।
दसन धरि धरनि चिक्करत दिग्गज कमठ,
सेस संकुचित संकित पिनाकी ॥"

वे इतनी वीर भाषा लिख सकते थे, तो "*कंकण किंकिणि नूपुर धुनि सुनि*" या '*चातक कोकिल कीर चकोरा, कूजत विहंग नचत मन मोरा*" और "*घन घमड नभ गरजत घोरा*" आदि कोमल पदों में अपने-अपने सजीव चित्रण करने के लिए समर्थ भाषा स्वयं आती जाती है।

सूर का ब्रजभाषा पर ही अधिकार था, और गो० तुलसीदास का अवधी और ब्रजभाषा दोनों पर। सूर की भाषा में शुद्ध ब्रज के शब्द मिलते हैं और गो० तुलसीदास का पाण्डित्य हमें उनके काव्य में मिलता है। उन्होंने अवधी में रामचरितमानस लिखा है, तो ब्रजभाषा में विनयपत्रिका गीतावली आदि लिखे हैं।

काव्य की दृष्टि से गो० तुलसीदास सूरदास से अधिक आगे बढ़े हुए हैं। सूरदास ने केवल गीतिकाव्य लिखे हैं, किन्तु तुलसीदास ने रामचरितमानस नामक महान् प्रबंध काव्य लिखा है। सूरदास के काव्य में अलंकारों का चमत्कार भी कम मिलता है, जबकि तुलसी का काव्य अलंकारों से पूर्ण है। कोमलकान्त पदावली, गूढ़ भाव और वर्ण्य-विषय की दृष्टि से भी तुलसी बहुत आगे हैं। सूर के काव्य में माधुर्य और प्रसाद गुण ही की अधिकता है, तो तुलसीदास के काव्य में रीति और गुण के बहुत दर्शन होते हैं। छप्पय, दोहा, कवित्त-सवैया, पद-शैली आदि सभी रीतियों का समावेश उनके काव्य मे हैं। सूरदास के काव्य की विशेषता शब्दलाघव है। संगीतमयता तथा माधुर्य के कारण सूर-काव्य की रसधाराएं हृदय तक पहुंचती हैं।

इस तरह व्यापक दृष्टि, जीवन के आदर्श, उपयोगिता, विभिन्न रस, रीति, अलंकार तथा काव्य आदि में तुलसीदास बहुत ऊंचे हैं, किन्तु शृङ्गार और वात्सल्य के क्षेत्र में सूरदास उनसे आगे बढ़ जाते हैं। ऐसा प्रतीत होता है

कि 'सूर सूर तुलसी ससी' के लेखक ने शब्द-साम्य के कारण ही सूर को सूर कहा, अन्यथा वे तुलसी की समानता नहीं कर सकते।

"तुलसीदास हिन्दी कविता कानन में सबसे बड़ा वृक्ष है। वे अपने समय में भारत में सर्वश्रेष्ठ पुरुष थे। यहां तक कि उन्हें अकबर से भी बड़ा कहा जा सकता है, क्योंकि लाखों स्त्री-पुरुषों के हृदयों पर उन्होंने जो सफलता पाई है, वह उस बादशाह की विजयों से अधिक चिरस्थायिनी है।"

—विसेंट स्मिथ

हिन्दी में समालोचना-साहित्य

रूपरेखा

१—साहित्य में समालोचना का बीज—उपमा कालिदासस्य आदि—काव्य-शास्त्र की सूक्ष्मताओं पर संस्कृत में अनेक उत्कृष्ट ग्रन्थ।

२—हिन्दी में भी समालोचनात्मक प्रवृत्तियां—सूर सूर, तुलसी ससी आदि अनेक उक्तियां।

३—नियमित आलोचना का सूत्रपात भारतेन्दु युग में—प० बदरी-नारायण चौधरी—मिश्र बंधु—पद्मसिंह शर्मा।

४—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने आलोचना को नई दिशा और प्रगति दी—गम्भीर और तुलनात्मक अध्ययन—श्यामसुन्दरदास, नगेन्द्र, शान्ति-प्रिय द्विवेदी, रामकुमार वर्मा, हजारीप्रसाद द्विवेदी आदि।

५—हिन्दी काव्य ही नहीं उपन्यासों पर भी आलोचनात्मक ग्रन्थ।

६—समालोचक का दृष्टिकोण निष्पक्ष हो, सुनिश्चितता, स्वातन्त्र्य, सूझ, श्रेष्ठविचार, गम्भीरता, अध्ययन, अथक परिश्रम आदि गुण उस में आवश्यक हैं।

न जाने किस आलोचक ने निम्नलिखित अनुष्टुप छन्द लिखकर साहित्य में समालोचना की नींव डाली थी—

उपमा कालिदासस्य, भारवेरर्थगौरवम् ।
भवभूतेः पदलालित्यं, माघे सन्ति त्रयो गुणाः ॥

और इससे भी बहुत पहले जब आदिकालीन पुरुष ने किसी वस्तु को देखकर अच्छा या बुरा कहा होगा, तभी समालोचना की नींव पड़ चुकी थी। किसी वस्तु को अच्छी तरह देखकर जब हम उसके सम्बन्ध में अपनी एक

सम्मति बनाते हैं, तब हम उसकी समालोचना ही करते हैं। कालिदास, भारवि और भवभूति तीनों संस्कृत-साहित्य के उत्कृष्ट कवि थे, उनकी विशेषताओं का उल्लेख कर माघ कवि में तीनों गुणों की विद्यमानता प्रकट करना वस्तुतः चारों कवियों की आलोचना है। यह आलोचना कहां तक सत्य के निकट है इस विवेचन में न जाते हुए भी इतना निस्संकोच कहा जा सकता है कि यह साहित्य की प्रारम्भिकतम आलोचनाओं में से एक है।

संस्कृत भाषा में आलोचना

प्राचीन संस्कृत-साहित्य में आलोचना सम्बंधी पृथक् पुस्तकें नहीं मिलती, तथापि यह नहीं कहा जा सकता कि प्राचीन साहित्यकार आलोचना के नियमों से अनभिज्ञ थे। वे काव्य शास्त्र के नियमों में पारंगत थे। साहित्य-दर्पण, काव्य-प्रकाश, ध्वन्यालोक आदि ग्रन्थ साहित्यिक नियमों के बहुत उत्कृष्ट ग्रंथ हैं। साहित्य क्या है, रस क्या है, शब्द शक्ति क्या है, रीति क्या है, स्थायी और व्यभिचारी भाव क्या हैं, काव्य के गुण दोष क्या हैं, इन सब बातों का विवेचन हमारे यहां पर्याप्त मिलता है। एक-एक अलंकार के भेद, उपभेद और उनमें सूक्ष्म अन्तर तक की विवेचना की गई है। इतने विशद विवेचन में जाकर वे गुण-दोष की आलोचना न कर सकते हों, यह कैसे कहा जा सकता है? व्याकरण में एक-एक मात्रा पर विवाद करने और एक मात्रा को व्यर्थ सिद्ध करने पर पुत्रोत्सव का आनन्द मनाने वाले विद्वान् इस दिशा में अत्यन्त उदासीन होगे, यह कहना कठिन ही है। परन्तु यह भी सत्य है कि आजकल के समान आलोचनात्मक ग्रंथ कम मिलते हैं। इसके दो कारण हैं एक तो यह कि गद्य का प्रचार कम था और आलोचना गद्य में लिखनी अधिक सरल होती है। दूसरा कारण यह है कि प्राचीन काल में विनय, नम्रता तथा शिष्टाचार का यह तकाज़ा था कि प्रसिद्ध कवियों के काव्य में दोषालोचन न किया जाय, उनके गुणों पर ही दृष्टि रखी जाय। विद्वज्जनों के प्रति आदर भाव हमारी प्राचीन संस्कृति का एक व्यापक भाव था। पारस्परिक चर्चा के सिवाय सामूहिक रूप से वे आलोचना नहीं करते थे।

यदि कभी कोई प्रकाण्ड विद्वान् भ्रान्तिवश अशुद्ध भी लिख देते थे, तो उसे 'आर्ष प्रयोग' कहकर वे सहन कर लेते थे।

हिन्दी में आलोचना

हिन्दी-साहित्य में आलोचना कब से प्रारम्भ हुई, यह कहना कठिन है। लेकिन निम्नलिखित दो तीन पद बताते हैं कि हिन्दी कवियों पर उनके काव्य की दृष्टि से विवेचना होने लगी थी।

(१) *सूर सूर, तुलसी ससी उडुगन केशवदास।*
अन्य कवि खद्योतरूप, जहं तह करत प्रकास॥

(२) *उत्तम पद कवि गंग के, उपमा को बलवीर (वीरबल)*
केसव अर्थ गम्भीरता, सूर तीन गुन धीर॥

(३) *किधौं सूर को सर लगौं, किधौं सूर की पीर।*
किधौं सूर को पद लगौं, बेध्यो सकल शरीर॥

(४) *सत सइया के दोहरे, ज्यों नावक के तीर।*
देखन में छोटे लगें, घाव करें गम्भीर॥

(५) *और कवि गढ़िया, नन्ददास जड़िया॥*

आलोचना का नियमित प्रारंभ

इन आलोचनात्मक सूक्तियों के और भी उदाहरण दिये जा सकते हैं। इसी तरह विभिन्न कवियों के काव्य के सम्बन्ध में समय-समय पर सम्मतियां प्रकट की जाती रहीं, किन्तु नियमपूर्वक आधुनिक रीति पर आलोचना का सूत्रपात भारतेन्दु-युग में हुआ है। पं० बदरीनारायण चौधरी ने 'आनन्द कादम्बिनी' पत्रिका में कई समालोचनात्मक लेख लिखे। आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी ने 'सरस्वती' में अनेक लेख स्वयं लिखे या प्रकाशित किये और 'कालिदास की निरंकुशता' लिख कर उत्कृष्ट कवियों की आलोचना न करने की प्राचीन परम्परा को तोड़ने का प्रयत्न किया। मिश्र बन्धुओं ने 'हिन्दी नवरत्न'

में कवियों की भाषा, विषय तथा काव्य की विशेषताओं का उल्लेख करते हुए नवरत्नों का मूल्य भी निर्धारित करने का प्रयत्न किया। पं० पद्मसिंह शर्मा ने बिहारी सतसई की भूमिका लिखकर तुलनात्मक, विस्तृत और सजीव आलोचना की एक नई परम्परा प्रारम्भ की। इसकी चुभती हुई सजीव शैली ने बहुत से लोगों को बिहारी पर लिखने को बाधित किया। देव और बिहारी, बिहारी और देव, बिहारी की वाग्विभूति, बिहारी-दर्शन आदि अनेक ग्रंथ इसी प्रसंग में प्रकाश में आये।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने गंभीर अध्ययन के बाद अनेक उत्कृष्ट ग्रंथ लिखकर हिन्दी के आलोचना-साहित्य का नेतृत्व किया है। इसका प्रभाव हिन्दी के अन्य लेखकों पर भी पड़ा। अब हिन्दी परीक्षाओं के अधिकाधिक लोकप्रिय होने के कारण आलोचनात्मक ग्रंथों की मांग भी बढ़ गई है। एक-एक कवि पर या उसके एक-एक ग्रन्थ पर आलोचनात्मक पुस्तकें लिखी जाने लगी हैं। डा० श्यामसुन्दरदास, श्री शान्तिप्रिय द्विवेदी, श्री नगेन्द्र, श्री रामनाथ सुमन, श्री रामकुमार वर्मा, श्री रामकृष्ण शुक्ल, श्री हज़ारीप्रसाद द्विवेदी आदि अनेक लेखक इस क्षेत्र में हिन्दी-साहित्य की श्रीवृद्धि कर रहे हैं। न केवल हिन्दी काव्य की आलोचना हो रही है, बल्कि उपन्यासों और नाटकों पर भी अच्छे-अच्छे ग्रंथ लिखे जा रहे हैं। स्वयं आलोचना एक शास्त्र का रूप धारण कर रही है और इस सम्बन्ध में बहुत से उत्कृष्ट ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं।

समालोचक की योग्यताएं

आलोचना करना वस्तुतः सरल कार्य नहीं है। यदि हम किसी लेखक के साथ न्याय करना चाहते हैं, तो हमें पहले उस विषय की स्वयं अच्छी जानकारी होनी चाहिए। हमें अपनी रुचि परिष्कृत कर लेनी चाहिए, वह कौए की तरह केवल मलिन स्थान पर न जाये। लेखक के गुणों की प्रशंसा भी मुक्त कण्ठ से होनी चाहिए। समालोचक न अपनी सम्मति प्रकाशन में किसी से भय करता हो और न वह किसी से पक्षपात करता हो। वह अपने विचार या सम्मति को

दूसरे के हृदय पर बिठा देने की योग्यता रखता हो। उसकी आलोचना शैली मधुर होनी चाहिए, जिससे पाठक के हृदय में घृणा उत्पन्न न हो। उसमें इतनी तुलनात्मक और परखने की शक्ति होनी चाहिए कि वह दूध और पानी को अलग-अलग कर सके और अपनी निश्चित सम्मति दे सके। एक विद्वान् ने लिखा है कि समालोचक में निम्नलिखित गुण होने चाहिएं—सुनिश्चितता, स्वातंत्र्य, सूक्ष्म, श्रेष्ठ विचार, उत्साह, हार्दिक अनुभूति, गंभीरता, ज्ञान और अथक परिश्रम।

विभिन्न व्यक्तियों की भिन्न-भिन्न रुचि और अपने विचार की भांति समालोचकों की भी अपनी-अपनी सम्मति होती है और वह सर्वमान्य नहीं हो सकती। फिर भी वैयक्तिक सम्मतियों के पीछे एक मापदण्ड अवश्य रहता है, जिसे अधिकांश आदमी बहुत समय से स्वीकार करते आये हैं। समालोचक को भी किसी रचना की आलोचना करते समय सदाचार, सर्वमान्य सिद्धान्त और उपयोगिता आदि की दृष्टि से विचार करना चाहिए। यह खेद की बात है कि आजकल हिन्दी में जहां उत्कृष्ट आलोचनात्मक साहित्य प्रकाशित हो रहा है, वहां पक्षपातपूर्ण बहुत हल्की आलोचनाएं भी कम प्रकाशित नहीं होतीं।

आजकल हिन्दी में मनोविज्ञान या प्रगतिवाद के नाम से बहुत सा भ्रष्ट साहित्य प्रकाशित हो रहा है। २५ वर्ष पूर्व इस प्रकार के साहित्य के विरुद्ध श्री बनारसीदास ने एक आन्दोलन खड़ा किया था, पर वह स्थायी नहीं रहा। समालोचक का कर्तव्य है कि ऐसे साहित्य की भर्त्सना करे, जिससे हिन्दी-साहित्य कूड़ा-करकट से मलिन और दूषित न हो जाय। समालोचक वस्तुतः शोधक होता है। उसका कर्तव्य और उत्तरदायित्व महान् है।

मुसलमान और हिन्दी-साहित्य

रूपरेखा

१—मुसलमान सन्त कवि भी हिन्दी सेवा में पीछे नहीं रहे। ज्ञानाश्रयी, प्रेमाश्रयी और कृष्ण-काव्य सभी में मुसलमान कवि आगे आये।

२—अमीर खुसरो—खड़ी बोली की रचनाओं में नेतृत्व—कुछ उदाहरण।

३—मलिक मुहम्मद जायसी तथा अन्य सूफी कवि—जायसी का विरह-वर्णन, प्रतीकात्मक प्रबन्ध-काव्य।

४—कबीर ज्ञानाश्रयी काव्य का नेतृत्व—रहस्यवाद का प्रथम हिन्दी कवि।

५—राम काव्य में मुसलमानों की कोई देन नहीं—कारण।

६ कृष्ण काव्य के प्रमुख मुसलिम कवि रसखान—

७—रीतिकाल में रहीम, मुबारक, गुलाम नबी, आलम-शेख, ताज।

८—गद्य-साहित्य के विकास में इंशाअल्लाखाँ का स्थान।

९—मुसलमानों में साम्प्रदायिकता और हिन्दी से घृणा।

मुस्लिम कवियों की देन

"इन मुसलमान हरिजनन पर कोटिन हिन्दू वारिये।" भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने यह लिखकर हिन्दी प्रेमी मुसलमान साहित्यकारों का जो अभिनन्दन किया है, उसमें पर्याप्त सत्य है। भारतवासी मुसलमान कवि, यद्यपि उनकी संख्या हिन्दू कवियों से बहुत कम रही है, हिन्दी-सरस्वती के मन्दिर में पूजा के सुन्दर पुष्प अर्पित करने में पीछे नहीं रहे। ज्ञानाश्रयी शाखा हो या प्रेमाश्रयी, सगुण काव्य हो या निर्गुण काव्य, भक्ति काव्य हो या रीति-काव्य, मुसलमान कवियों ने सभी क्षेत्रों में अपनी अमूल्य देन दी है। अमीर-

अली खुसरो तो खड़ी बोली के प्रारम्भिक कवि थे। सूफ़ी कवियों की देन भी बहुत असाधारण है। यदि हिन्दू राजा हिन्दी कवियों को प्रोत्साहन देते थे, तो मुस्लिम शासक भी उन्हें प्रश्रय देने में पीछे नहीं रहे। सत्य तो यह है कि यदि अंग्रेज़ी शासन के बाद मुसलमानों में हिन्दू व हिन्दी विरोध पैदा न किया जाता, तो शायद यह प्रश्न भी पैदा नहीं होता कि मुसलमान कवियों ने हिन्दी-साहित्य की कितनी सेवा की है। हिन्दी मां के पुत्र दोनों ही रहे हैं, हिन्दू या मुसलमान का भेद इस विशुद्ध साहित्यिक क्षेत्र में था ही नहीं।

अमीर खुसरो

मुस्लिम कवियों में ही नहीं, हिन्दी कवियों में और विशेषकर खड़ी बोली के कवियों में अमीर खुसरो का नाम सर्वप्रथम उल्लेखनीय है। खुसरो ने दिल्ली के आसपास की बोलचाल की भाषा को लेकर पहेलियों और मुकरियों द्वारा जनता का बहुत मनोरंजन किया है। यों उसके बहुत से पदों में ब्रजभाषा की ओर भी झुकाव दिखाई देता है। उसकी कुछ पहेलियां या दूसरे पद देखिये—

एक थाल मोती से भरा, सब के सिर पर औंधा धरा।
चारों ओर वह थाली फिरे, मोती उससे एक न गिरे॥ (आकाश)

× × ×

बीसों का सिर काट लिया, ना मारा ना खून किया॥ (नाखून)

× × ×

गोरी सोवै सेज पर, मुख पर डारे केस।
चल खुसरो घर आपने, रैन भई चहुं देस॥

प्रेममार्गी काव्य—सूफी कवि

हिन्दी-साहित्य के भण्डार में से यदि सूफ़ी कवियों का साहित्य निकाल दिया जाय तो वह बहुत अपूर्ण हो जायगा। श्री रामचन्द्र शुक्ल के शब्दों में रामचरितमानस के बाद प्रबन्ध काव्यों में जायसी के पद्मावत का स्थान है।

सूफ़ीमत की स्थापना करीब-करीब इस्लाम धर्म के साथ ही होगई थी। कुरान के ऐसे प्रसंग, जिनमें सर्वव्यापी प्रेमस्वरूप प्रभु के शील और सौन्दर्य का वर्णन है, सूफ़ीमत का आधार हुए। सिंध पतन के बाद भारत में भी सूफ़ी फ़कीरों ने अपने मत का प्रचार प्रारम्भ कर दिया था। कबीर के समय इनकी फ़ारसी रचनाओं का प्रभाव हिन्दी-साहित्य पर भी पड़ना शुरू हो गया था। मुसलमान और हिन्दू एक दूसरे के निकट आने लगे थे। मुसलमान हिन्दुओं की कथाएं सुनने लगे थे और हिन्दू मुसलमानों की रवायतें। दोनों धर्मों के साधकों के बीच कुछ एक सामान्य आदर्श प्रतिष्ठित हो चले थे। ऐसे समय कुछ भावुक सूफ़ी सन्त कवियों ने प्रेम-कथाएं लेकर हिन्दी-साहित्य क्षेत्र में प्रवेश किया। इन्होंने हिन्दुओं में प्रचलित कहानियों को अपने काव्य का आधार बनाया। इन सूफ़ी कवियों की प्रेममार्गी काव्यधारा १६वीं शताब्दी से प्रारम्भ होकर १८वीं शताब्दी के अन्त तक बराबर चलती रही है। इस धारा के प्रायः सभी काव्य प्रबन्ध-काव्य थे।

जायसी

सूफ़ियों के प्रबन्ध-काव्यों में मलिक मुहम्मद जायसी का पद्मावत सबसे प्रसिद्ध काव्य है। पद्मावत १५४० ई० में लिखा गया। इस पुस्तक में राजा रतनसेन और सिंहलद्वीप की राजकुमारी की प्रेमकथा विस्तार से दी गई है। इन दोनों का योग हीरामन तोता ने कराया है। ऐतिहासिक कथा में कवि ने कल्पना के अनुसार हेर फेर करके इस ग्रन्थ की रचना की है। भौतिक प्रेम के साथ-साथ आध्यात्मिक प्रेम की झलक दिखाना ही इसका प्रमुख उद्देश्य है। जायसी का विरह वर्णन बहुत उत्कृष्ट है। विरहग्रस्त प्रेमी और प्रेमिका के साथ-साथ सारे संसार की सहानुभूति दिखाते हुए सब चराचर पशु-पक्षी आदि को भी विरह-वेदना से ग्रस्त दिखाया है। गेहूं का हृदय भी विरह के कारण दीर्ण है और कौआ भी विरहाग्नि से झुलसकर काला हो गया है। पद्मावत के लेखक जायसी की कीर्ति हिन्दी संसार में अक्षय बनी रहेगी। जायसी का दूसरा काव्य अखरावट भी अच्छा काव्य है।

अन्य सूफ़ी कवि

जायसी से पूर्व कुतुबन और मंझन ने भी क्रमशः मृगावती और मधु-मालती नामक प्रेम काव्य लिखे थे। उसमान, शेख़ नबी, नूर मुहम्मद आदि के भी प्रेम काव्य मिलते हैं। अनेक दोषों के रहते हुए भी ये काव्य बहुमूल्य और आदरणीय हैं। वीर-चरितों के बाद यही प्रेम-चरित हमारे काव्य-साहित्य की शोभा बढ़ाते हैं। प्रेम की इतनी मधुर और कोमल अभिव्यक्ति हमें पहली बार इन्हीं सूफ़ी काव्यों में मिलती है। सूफ़ी कवियों की दृष्टि व्यापक और तीव्र है। उनकी पहुँच सूक्ष्म भावों तक थी। रति, वियोग, युद्धोन्माद और रोमांच सभी का वर्णन उन्होंने सफलता से किया है। इन सब प्रेम-काव्यों की भाषा बोलचाल की अवधी है। तुलसीदास ने इसी भाषा में पाण्डित्य भर कर बाद में इसे साहित्यिक रूप दिया। एक लेखक के शब्दों में "साधारण भाषा में उत्कृष्ट भावों का प्रदर्शन करना कवित्व की सर्वोत्तम कसौटी है। इस कसौटी पर मुसलमान लेखकों की ये कृतियां उच्चकोटि के साहित्य का अंग हैं।"

कबीर का नेतृत्व

प्रेममार्गी शाखा ही नहीं, ज्ञानाश्रयी शाखा में भी मुसलमानों ने हिन्दी-काव्य में नेतृत्व किया है। कबीर के माता-पिता भले ही हिन्दू रहे हों, किन्तु उनका पालन-पोषण मुसलमान जुलाहों के घर हुआ था। उन्होंने ज्ञानाश्रयी संतों की एक परम्परा को जन्म दिया, जिसमें पीछे जाकर रैदास, नानक, दादूभक्त, मलूकदास, सुन्दरदास आदि सन्त हुए। गुरु रामानन्द के शिष्य बनकर कबीर ने निर्गुण राम या साहब की स्तुति की। आज गो० तुलसीदास के समान और शायद उनसे भी अधिक कबीर के पद भारत के घर-घर तक पहुँचे हुए हैं। इस दृष्टि से कबीर का हिन्दी-काव्य में असाधारण स्थान है। कबीर की वाणी बीजक नामक ग्रंथ में संगृहीत हैं। हिन्दू मुसलमानों को मिलाने के लिए उन्होंने मस्जिद-मन्दिर का विरोध करके एक निराकार ब्रह्म की उपासना का उपदेश दिया। रहस्यवाद का भी दर्शन सबसे पहले हमें इन्हीं की

रचनाओं में मिलता है, जिसका प्रभाव रवीन्द्रनाथ की कविताओं पर भी स्पष्ट है।

यह आश्चर्य की बात है कि राम-काव्य ने मुसलमान कवियों को अपनी ओर आकृष्ट नहीं किया। सम्भवतः गो० तुलसीदास ने राम का जो मर्यादा पुरुषोत्तम और लोकरक्षक रूप सामने रखा था, वह इतना ऊंचा था कि मुसलमान कवि उसमें कोई आकर्षण नहीं पा सके। वह तो केवल आराधना। श्रद्धा और भक्ति का विषय था, प्रेम का नहीं। इसलिए कृष्ण के लोक-रक्षक रूप को भी कवियों ने उपेक्षा की दृष्टि से देखा। कृष्णकाव्य प्रेम का काव्य रहा, उसमें मनोरंजन भी था और आकर्षण भी। महाभारत का नीतिज्ञ, वीर कृष्ण हिन्दी में नहीं है, यहां है सौन्दर्य की मूर्ति और प्रेम का प्रतीक ; राधा-वल्लभ, गोपीनाथ कृष्ण। इसलिए मुसलमान कवि इधर प्रवृत्त हुए।

रसखान

इन कवियों में रसखान नामक पठान कवि बहुत प्रसिद्ध है। कहते हैं कि रसखान सर्वप्रथम किसी से यह सुनकर कृष्ण की ओर आकृष्ट हुए थे कि वे उनके प्रेमपात्र से कहीं अधिक सुन्दर हैं। इनकी दो पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं-प्रेमवाटिका और सुजान रसखान। इनके ग्रन्थों में प्रेम के स्वरूप का सुन्दर वर्णन पाया जाता है। इनके सवैये सचमुच रस की खान हैं और रसखान के नाम से प्रसिद्ध हैं। इनको ब्रजभूमि से बहुत प्रेम था। नीचे का प्रसिद्ध पद इनके प्रेम का द्योतक है -

मानुष हौं तो वही रसखान बसौं ब्रज गोकुल गांव के ग्वारन।
जो पसु हौं तो कहा बसु मेरो चरौं नित नन्द की धेनु मंझारन ॥
पाहन हौं तो वही गिरि को जु धर्यो कर छत्र पुरन्दर धारन।
जो खग हौं तो बसैरो करो मिलि कालिन्दी कूल कदम्ब की डारन ॥

रहीम

रीतिकाल ने भी अनेक मुसलमान कवियों को अपनी ओर आकृष्ट किया।

रहीम का नाम सबसे अधिक उल्लेखनीय है। इनका पूरा नाम अब्दुर्रहीम खानखाना था। गो० तुलसीदास से इनकी विशेष घनिष्ठता थी। इन्होंने ही तुलसी के "सुरतिय, नरतिय, नागतिय सब चाहत अस होय" दोहार्ध की इस प्रकार पूर्ति की थी—"गोद लिए हुलसी फिरे, तुलसी सो सुत होय।" ये बादशाह अकबर के रत्नों में से एक थे। राज-काज में व्यस्त रहते हुए भी साहित्य में ये विशेष रुचि रखते थे और कवियों का सत्कार करते थे। एक बार इन्होंने गंग कवि को ३६ लाख रु० दिया था। फ़ारसी, अरबी के साथ-साथ हिन्दी और संस्कृत पर भी इन्हें पूर्ण अधिकार था। आपने 'रहीम सतसई' बरवै, शृङ्गार-सोरठ, मदनाष्टक इत्यादि काव्यों की रचना की है। इनके दोहे बहुत चुभते हुए हैं। नायिका भेद का चित्रण बरवै में है। पठान सुलतान ने बिहारी सतसई पर कुण्डलियां लिखी हैं।

वस्तुतः ये दिन वे थे, जब मुसलमान बादशाह और नवाब हिन्दी कवियों का सत्कार करते थे। हिन्दू कवियों के साथ-साथ मुसलमान कवि भी उन्हें अच्छे-अच्छे पद सुनाकर अर्थलाभ करते थे। स्वयं अकबर हिन्दी में पद लिखता था और उसके दरबार में हिन्दी-कवियों का सत्कार होता था।

रीतिकाल के अन्य कवि

मुबारक कवि ने अलक-शतक तथा तिलक-शतक लिखकर अपनी अद्भुत कल्पना का परिचय दिया है। नायिका के सामने लटकने वाली लट तथा उसके कपोल के तिलक पर १००-१०० पदों की रचना इन्होंने की थी। बिल ग्राम के प्रसिद्ध कवि गुलामनबी साहित्य में 'रसलीन' के नाम से प्रसिद्ध हैं। इनकी पुस्तक 'अंगदर्पण' में अंगों का उपमा-उत्प्रेक्षा से पूर्ण चामत्कारिक वर्णन है। निम्न प्रसिद्ध दोहा इन्हीं की रचना है—

अमिय, हलाहल, मद भरे, सेत, स्याम, रतनार।
जियत, मरत, झुकि झुकि परत, जेहि चितवत इक बार॥

प्रेमी कवियों में आलम का नाम सदा प्रसिद्ध रहेगा। ये जाति के ब्राह्मण थे, परन्तु शेख नामक रंगरेजिन के प्रेम में फंसकर मुसलमान हो गये और

उससे विवाह कर लिया। इनके सवैये तथा कवित्तों में टीस तथा तन्मयता कूट-कूट कर भरी है। इनकी कविताओं का संग्रह 'आलम केलि' में किया गया है। प्रसिद्ध कवयित्री ताज तो कृष्ण-भक्ति में मीरा का स्थान लेती है। कृष्ण के प्रेम में मस्त होकर ये हिन्दू-धर्म से ही प्रेम करने लगी थी।

"सुनो दिल जानी मेरे दिल की कहानी तुम,
दस्त ही बिकानी बदनामी भी सहूँगी मैं।
देवपूजा ठानी मैं, निवाज हूं भुलानी, तजे—
कलमा कुरान, सारे गुनन गहूँगी मैं॥
स्यामता, सलौना सिरताज सिर कुल्ले दिये,
तेरे नेह दाग में निदाग हो दहूंगी मैं।
नन्द के कुमार कुरबान तांड़ी सूरत पे—
तांडे नाल प्यारे हिन्दुवानी हो रहूंगी मैं॥"

रीति काल के बाद हिन्दी-साहित्य में गद्य का युग आया और इसमें भी इंशाअल्लाखां ने सबसे पहले हिन्दी खड़ी बोली गद्य में रानी केतकी की कहानी लिखकर अपना नाम गद्य-साहित्य के विकास में अमर कर लिया।

इसके बाद समय बदला। अंग्रेज़ी शासन की विद्वेष नीति ने मुसलमानों में यह भावना पैदा कर दी कि हिन्दी मुसलमानों की नहीं, सिर्फ हिन्दुओं की भाषा है। बस, तब से वे हिन्दी के विरोधी हो गये।

पिछले कुछ सालों में कुमारी रैहान ने भी कुछ सुन्दर भक्तिगीत लिखे हैं। इनका आधार भी हिन्दू परम्परा व कृष्ण भक्ति है। दो चार पदों की पंक्तियां 'समाकिरन' देखिये—

तुमरे चरण की मै खाक मुरारी प्रेम पवन पर डरि अरि आवुं
हलके से हलकी, भारी से भारी—आप नमूं अरु तोहे नमावुं!

× × ×

मोरे मन को बसो घनश्याम हरि
मोरी नैनां तुमको तरस रही !

× × ×

हृदय मन्दिर को सहस्त्र द्वारा
जहां देखा वहां माह पसारा !

यह सुन्दर पुस्तक देश की स्वाधीनता के बाद १९४७ में छपी है। गोपियों की प्रेमभक्ति ने रैहान को जीवन रहस्य दिया, वही रहस्य इन भजनों में गाया गया है ।

अब अंग्रेज़ चले गये हैं। स्वतंत्र भारत की राष्ट्रभाषा हिन्दी हो गई है। फिर आशा करनी चाहिए कि मुसलमान साहित्यकार भी हिन्दी मां के चरणों में श्रद्धापूर्वक अपने पुष्प अर्पित करने लगेंगे ।

हिन्दी-भारती के मन्दिर में नारी के अर्घ्य

रूपरेखा

१—नारी का समस्त जीवन ही संगीतमय है—वह हृदयप्रधान है। कविता और संगीत उसके ओष्ठों पर। विशाल लोकगीतों की वही सृष्टि करती है। जीवन के प्रत्येक पद पर उसका हृदय हंसता या रोता है—मां, पत्नी, बहन सभी रूपों में वह गाती ही गाती है। पुरुष की अपेक्षा काव्य पर नारी का अधिक अधिकार।

२—साहित्य क्षेत्र मे कम प्रवेश का कारण—नारी का क्षेत्र प्रायः घर। फिर भी ऋषिकाओं और विदुषी नारियों का प्राचीन भारत में अभाव नहीं था। वीर काव्य में उसके हृदय ने रुचि न ली।

३—भक्ति काव्य में मीरा चमक उठी—मधुर भक्तिरस और वेदना। सहजोबाई, दयाबाई आदि।

४—रीतिकाल में—नारी स्वयं काव्य का विषय बन गई थी, इसलिए वह स्वय क्या लिखती, तथापि, शेख और प्रवीण आदि।

५— आधुनिक युग में—तोरणदेवी लली, तारा पाण्डे, रामेश्वरी चकोरी।

६—महादेवी वर्मा—करुणा, वेदना का सजीव काव्य, रहस्यवाद की श्रेष्ठ कवयित्री—उत्कृष्ट काव्य रचना।

७—गद्य-साहित्य में—उषा मित्रा, कंचनलता, कमलादेवी चौधरी आदि।

गीतमय नारी-जीवन

हिन्दी के एक लेखक लिखते हैं—"नारी ने कितना गाया है। सीमन्त के गीतों द्वारा गर्भस्थ शिशु को गीतरस पिलाया, जन्मभर 'हालरे' गाये, मां के मुंह से निकली लोरियों की गोद में नवजात शिशु सोया और जागा। बालक

ने जनेऊ पहना, गीत गाये गये। वह पढ़ने बैठा, गीत गाये। सगाई हुई, गीत गाये गये। विवाह हुआ, हर्ष में पागल बनी माता बनड़े गवाने बैठी। नव वधू घर आई, गीतों ने उसका स्वागत किया। घर में उत्सव हुआ, बिना गीतों के कैसे सम्पन्न हो, त्योहार आये, गीतों का गाना भी अनिवार्य है।' वस्तुतः नारी का जीवन ही गीतमय है। मां का स्नेह, पत्नी का प्रेम, बहन का स्नेह सभी कुछ गीत के रूप में बहने लगता है। नारी हृदय में जब-जब सुख दुःख, आशा-निराशा या कोई दूसरी लहर पैदा हुई, गीत की सुरसरिता बह चली। नारी संगीतमय है, काव्यमय है। कविता हृदय की वस्तु है, विज्ञान मस्तिष्क की। नारी हृदय-प्रधान है, कविता पर उसका स्वाभाविक स्वत्व है। लोक गीतों के रूप में अज्ञात नारी ने जो कुछ लिखा है, वह कल्पनातीत है। वह आज भी घर-घर में गाया जाता है। कवीन्द्र रवीन्द्र की सम्मति में काव्य की दृष्टि से भी वह महत्वशून्य नहीं है। इसलिए कविता और साहित्य के क्षेत्र में उसका प्रवेश सदा स्वागत योग्य रहा है और यही कारण है कि जब कभी कोई स्त्री इस क्षेत्र में आई, उसे अपना स्थान बनाने में कठिनाई नहीं हुई।

साहित्य क्षेत्र में कम प्रवेश

हमारी प्राचीन संस्कृति व सभ्यता में नारी का क्षेत्र घर माना गया है, इसलिए वह बाहर कम निकली। साहित्य जनता की वस्तु है, इसलिए यह भी स्वाभाविक है कि काव्य या साहित्य की दृष्टि से हृदय की अनुभूति में पुरुष से अधिक श्रेष्ठ होने पर भी वह इस क्षेत्र में बहुत कम आ पाई। बहुत प्राचीन काल में ऋषिकाओं में भी हम कम महिलाओं का नाम सुनते हैं। अध्यात्मविद्या के क्षेत्र में भी मैत्रेयी और गार्गी आदि अंगुलियों पर गिनी जाने योग्य विदुषियां मिलती हैं। संस्कृत कवयित्रियों में भी कुछ स्त्रियों के नाम मिलते अवश्य हैं, किन्तु वे प्रायः अप्रसिद्ध ही रहीं।

मीराबाई

हिन्दी-साहित्य का प्रारम्भिक काल वीरकाव्य की रचना का काल था।

यद्यपि संकट आने पर दुर्गा के वीर रूप धारण में संकोच न करने के भी उदाहरण मिलते हैं, तथापि युद्ध की कठोरता और शस्त्रास्त्रों का संचालन स्त्री के हृदय को कम ही स्पर्श करते हैं, युद्ध के निर्दय क्षेत्र में वे विवश होकर ही कूदीं, अन्यथा उनका हृदय तो माता, पत्नी या बहन के रूप में ही लोक-गीतों को घर-घर तक पहुँचाता रहा है। भक्ति-काव्य स्त्री के हृदय के अनुरूप था। इस समय तक स्त्री घर में और अधिक बन्द रहने लगी थीं। उसके बाहर निकलने और पुरुषों से मिलने को अच्छा नहीं समझा जाता था, यह मीरा पर किये जाने वाले अत्याचारों से स्पष्ट है। किन्तु पुरुष द्वारा डाली जाने वाली सब बाधाओं को पार कर मीरा जब भक्ति-साहित्य के क्षेत्र में प्रवेश कर ही गई, तो उसकी काव्य प्रतिभा का चमत्कार हिन्दी-साहित्य को श्री-सम्पन्न करने में पीछे न रहा।

मीराबाई के गीत भक्ति और प्रेम के अनूठे गीत हैं। वे कृष्ण की भक्ति में लीन हो गईं। उनका हृदय भक्ति रस से सराबोर हो उठा था। उनके गीत भी भक्ति और प्रेम रस से मधुर तथा सरस हो गये। तुलसी और सूर के बाद आज उन्हीं के गीत घर-घर में पहुँचे हुए हैं। लोग उनके गीतों को गाकर प्रेम में मस्त हो जाते हैं। दूसरे पुरुष-कवियों ने परमात्मा को पुरुष मान कर स्त्रीरूप में कविता की है, किन्तु यह स्वाभाविक न था। मीरा स्वयं नारी-हृदय रखती थीं, इसलिए उनकी कविता सरस व संवेदनापूर्ण है। उनकी दो-चार पंक्तियां देखिये—

हेरी, मैं तो प्रेम दिवाणी मोरा दरद न जाणे कोय।
सूली ऊपर सेज पिया की, किस विध सोणा होय॥
दरद की मारी बनबन डोलूं, बैद मिल्या नहीं कोय।
मीरा की प्रभु पीर मिटेगी जब बैद सांवलिया होय॥

हरि मैंने गोविन्द लीनो मोल
कोई कहे छानी कोई कहे चोरी लियो है बजन्ता ढोल॥
कोई कहे कारो, कोई कहे गोरो लियो है मैं आंखि खोल।
कोई कहे हल्का, कोई कहे भारी लियो है तराजू तोल॥

चाकर रहसूं बाग लगासूं, नित उठ दरसन पासूं ।
बृन्दावन की कुंज गलिन में गोविंद लीला गासूं ।
चाकरी में दरसन पासूं सुमरिन पाऊं खरंची ॥
जिनके पिया परदेश बसत हैं, लिखि लिखि भेजें पाती ।
मेरे पिया मो मांहि बसत हैं, कहूं न आती जाती ॥
पीहर बसूं न बसूं सासघर, सतगुरु सबद संगाती ।
ना घर मेरा ना घर तेरा, मेरा हरि रग राती ॥

मीरा जैसी व्यथानुभूति शायद ही किसी कवयित्री के काव्य में पाई जाती है । मीरा की प्रत्येक पंक्ति में उसका हृदय बोलता है । आज के अनेक रहस्य-वादी उसके काव्य में रहस्यवाद के भी दर्शन करते हैं ।

अन्य सन्त कवयित्रियां

सन्त कवयित्रियों में दयाबाई और सहजोबाई का नाम भी उल्लेखनीय है । सहजोबाई लिखती है—

साहन कूं तो भय घना, सहजो निर्भय रंक ।
कुंजर के पग बेड़ियां, चींटी फिरे निसंक ॥

दयाबाई भी सहजोबाई की भांति महात्मा चरणदास की शिष्या थी । वह मेवाड़ की रहने वाली थी । उसके पद भी मार्मिक हैं । कुंवरबाई की रचनाओं में भावना के साथ-साथ कला के भी दर्शन होते हैं । कहते हैं कि उन्होंने ग्यारह पुस्तकों की रचना की थी । ताज एक मुस्लिम स्त्री थी, परन्तु कृष्ण-भक्त थी । वह लिखती है—

नन्द के कुमार कुरबान तारणी सूरत पै हूं ।
तो तुरकानी हिन्दुआनी हो रहूँगी मैं ॥

ताज खड़ी बोली में भी रचना करती थी, जैसा कि निम्न पद से स्पष्ट है—

दुष्टजन मारे संतजन रखवारे 'ताज'।
चित हित वारे प्रेम प्रति करवारा है॥
नन्द जू को प्यारा जिन कंस को पछारा।
वह वृन्दावन वारा कृष्ण साहब हमारा है॥

रीति काल में

भक्ति-काव्य के बाद रीति-काव्य की परम्परा चली। यह समस्त काल नारी-सम्बन्धी काव्य का काल था। निर्लज्ज पुरुष-कवि नारी के नखशिख पर रीझे हुए थे। नारी इतनी निर्लज्ज नहीं हो सकी कि वह भी पुरुष को अभिसारी मान कर उसके नग्न शरीर का सांगोपांग वर्णन करती। वह तो काव्य का स्वयं ही लक्ष्य बन गई थी, क्या लिखती और क्या सुनाती? नारी जिधर जाती, शोहदे कवि उसी पर छींटे कसते। फिर भी शेख और प्रवीण दो कवयित्रियों के नाम रीतिकाव्य में मिलते हैं। केशव ने लिखा है—"*तिन में करति कवित्त इक, एक प्रवीन प्रवीन*" प्रवीण की शिक्षा के लिए ही हिन्दी संसार को केशव की 'कविप्रिया' मिली।

शेख ने रीतिकालीन काव्य किया है। कवि आलम से उसका प्रश्नोत्तर का दोहा बहुत प्रसिद्ध है। आलम ने एक अधूरा पद लिखा—

कनक छरी सी कामिनी, काहे को कटि छीन?

शेख ने वह कागज़ यह लिख कर आलम को लौटा दिया—

कटि को कंचन काटि विधि, कुचन मध्य धरि दीन।

शेख का ब्रजभाषा पर अच्छा अधिकार था। उसने कृष्ण पर भी रचनाएं की हैं। गिरिधर कविराय की स्त्री साईं ने भी कुण्डलियां लिखने में अपने पति से टक्कर ली है।

प्रताप कुंवरबाई, सुन्दर कुंवरबाई, रत्न कुंवर बीबी, चन्द्रकला आदि राज घराने की कुछ स्त्रियों ने भी हिन्दी में काव्य लिखे हैं। यह स्मरण रखना

चाहिए कि रीतिकाल में स्त्रियों की शिक्षा करीब-करीब बन्द हो गई थी। स्त्रियों का घर से निकलना ही सम्भव नहीं था। वे जो कुछ रचना करती थीं, लोकगीतों के रूप में और वे कभी लिपिबद्ध नहीं की गईं।

आधुनिक युग में

द्विवेदी युग में हिन्दी-साहित्य ने एक करवट बदली। श्रीमती राजरानी, सरस्वतीदेवी, गोपालदेवी आदि कुछ महिलाओं ने भी रचनाएं कीं। इन पर द्विवेदी युग की पूरी छाप थी। वही उपदेशात्मकता और वही देशप्रेम या सामाजिक कुप्रथाओं का वर्णन। वर्तमान युग का नेतृत्व करने वाली स्त्री-कवियों में श्रीमती तोरणदेवी लली का नाम उल्लेखनीय है। देशप्रेम की प्रधानता के साथ-साथ कला के भी दर्शन हमें उनकी कविताओं में होते हैं। भक्ति और रहस्यवाद की भी झलक इनकी कविताओं में मिलती है—'मुझसे मिल जाना इक बार,' सुन्दर कविता है। उसने भगवान को फूलों के कुंज के साथ-साथ देशप्रेम के अभिमान और वीरता के गुणगान में भी ढूंढा है। तारा पाण्डे, रामेश्वरी चकोरी, विद्यावती कोकिल, होमवती और सुमित्राकुमारी सिन्हा आदि कवयित्रियों ने भी हिन्दी-साहित्य की वृद्धि में भाग लिया है तथा अन्य अनेक महिलाएं भी हिन्दी-साहित्य को सुन्दर, सरस देन दे रही हैं।

महादेवी वर्मा

यदि मीरा ने भक्ति काव्य में अपनी अमूल्य देन दी थी, तो महादेवी वर्मा और श्रीमती सुभद्राकुमारी चौहान ने आज अपनी अनुपम देन देकर हिन्दी-साहित्य के निर्माण में महिलाओं का नाम अमर कर दिया है। महादेवी वर्मा भी मीरा की तरह वेदना का मूर्त रूप हैं। उनकी कविता में करुणा का सागर लहरें मारता है, दुःख और रोदन से ही प्रस्फुटित होकर उनकी कविता जन्म लेती है। उनके दुःखवाद में आध्यात्मिक तत्त्व प्रधान है। श्री रायकृष्णदास के शब्दों में "उनकी काव्य साधना आध्यात्मिक है। उसमें आत्मा का परमात्मा के प्रति आकुल प्रणय-निवेदन है। कवयित्री की आत्मा मानो इस विश्व में

बिछुड़ी हुई प्रेयसी की भांति अपने प्रियतम का रूप स्मरण करती है। उसकी दृष्टि से विश्व की सम्पूर्ण प्राकृतिक-शोभा-सुषमा एक अनन्त अलौकिक चिर-सुन्दर की छायामात्र है।" दार्शनिक चिन्तन, स्त्री-सुलभ कोमलता, साहित्यिक परम्पराओं से प्राप्त सौन्दर्य और प्रकृति का रंगीन चित्रण सब कुछ हमें महादेवी के काव्य में मिलता है। रहस्यवादी कवियों में उनका स्थान प्रमुख है। प्रेम प्रतीकों द्वारा आत्मा-परमात्मा, व्यक्त-अव्यक्त, ससीम-असीम, पूर्ण-अपूर्ण साकार-निराकार के पारस्परिक सम्बन्ध का गान महादेवी के काव्य में मिलता है—वे लीन होना चाहती हैं उस अनन्त शक्ति में और कहती है—

तुम मुझमें प्रिय, फिर परिचय क्या ?
चित्रित तू, मैं हूं रेखा क्रम
मधुर राग तू, मैं स्वर-संगम
तू असीम, मैं सीमा का भ्रम
काया छाया में रहस्यमय प्रेयसि-प्रियतम का अभिनय क्या ?

महादेवी मिलन की अपेक्षा विरह की तड़पन को, मिलने की चेष्टा को, अधिक पसन्द करती है। अमरता की अपेक्षा मर मिटना उन्हें अधिक पसन्द है। वे युग-युग तक साधना में ही लगे रहने को उत्सुक हैं—

"युग युगान्तर की पथिक मैं छू कभी लूं छाँह तेरी।
ले फिरूं सुधि दीप सी, फिर राह में अपनी अन्धेरी ॥"

विरह की पीड़ा उन्हें मिलन से अधिक पसन्द है—

काटूं वियोग पल रोते।
संयोग समय छिप जाऊं ॥

वे कहती हैं *वेदना में जन्म, करुणा में मिला अवसान।*

माया, नीरजा, दीपशिखा, रश्मि आदि उनके प्रसिद्ध काव्यसंग्रह हैं।

प्रकाशन, गैट-अप और चित्रकला आदि के कारण उनकी पुस्तकों का बहिरंग जितना सुन्दर है, उतना शायद किसी अन्य लेखक के प्रकाशन का बहिरंग सुन्दर नहीं है। श्री महादेवी वर्मा अच्छी कवयित्री ही नहीं, उत्कृष्ट गद्य लेखिका भी हैं। 'शृङ्खला की कड़ियाँ' स्त्री-सम्बन्धी समस्याओं पर एक अच्छा विवेचनात्मक ग्रंथ है। 'अतीत के चलचित्र' व 'स्मृति की रेखाएं' भी उनकी अच्छी गद्य रचनाएं हैं। रहस्यवाद की भूल-भुलैयां के विरोधी तो उन्हें पद्य की अपेक्षा गद्य-लेखन का ही श्रेय देते हैं।

सुभद्राकुमारी चौहान

सुभद्राकुमारी चौहान की 'झांसी वाली रानी' कविता ने असाधारण ख्याति पाई है, किन्तु काव्य की दृष्टि से वात्सल्यरस-पूर्ण रचनाएं अधिक सुन्दर हैं। 'मेरा बचपन' नामक कविता बहुत हृदयस्पर्शिणी है—

मैं बचपन को बुला रही थी, बोल उठी बिटिया मेरी।
नन्दन-वन सी फूल उठी, छोटी सी कुटिया मेरी॥
पाया मैंने बचपन फिर से, बचपन बेटी बन आया।
उसकी मंजुल मूर्ति देखकर, मुझमें नवजीवन आया॥

× × ×

मेरा मन्दिर, मेरी मस्जिद, काबा, काशी यह मेरी।
पूजा पाठ ध्यान जप तप है, घट घटवासी यह मेरी॥

महादेवी वर्मा के समान कवयित्री न होते हुए भी सुभद्राकुमारी अधिक लोकप्रिय हुई हैं। इसका कारण यह है कि वे जनसाधारण के विचारों को मूर्त रूप देती हैं, जब कि महादेवी की कविता भाव और भाषा दोनों दृष्टियों से अत्यन्त क्लिष्ट हैं। सुभद्राकुमारी चौहान को दो बार सेकसरिया पुरस्कार मिल चुका है। मुकुल, बिखरे मोती, उन्मादिनी, सीधे सादे चित्र आदि में इनकी रचनाएं संकलित हैं।

दिनेशनन्दिनी डालमिया, रामकुमारी चौहान, सूर्यदेवी दीक्षित आदि महिलाएं भी हिन्दी-काव्य की अभिवृद्धि कर रही हैं।

गद्य साहित्य में भी

उपन्यास और कहानी साहित्य के क्षेत्रों में भी स्त्रियां लगातार आगे बढ रही हैं। कंचनलता सब्बरवाल और उषा मिश्रा के अनेक उपन्यास निकल चुके हैं। कमलादेवी चौधरी व होमवती, श्रीमती सत्यवती मलिक, चन्द्रकिरण सोनरिक्सा के कहानी संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं। चन्द्रवती लखनपाल मंगला-प्रसाद पुरस्कार ले चुकी हैं, जबकि सेकसरिया पुरस्कार एक दर्जन से अधिक महिलाएं ले चुकी हैं।

ज्यों-ज्यों नारी-शिक्षण का प्रसार होता जायगा, त्यों-त्यों हिन्दी-साहित्य को भी भारतीय नारी अपना पूर्ण अंश प्रदान करती जायगी। नारी आज के साहित्य में फैले अविचार, नग्नता तथा हिंसाद्वेष की भावना के विरुद्ध साहित्य-सर्जन करके न केवल हिन्दी-साहित्य-श्री की अभिवृद्धि करेगी, अपितु भारतीय समाज का भी कल्याण करेगी, ऐसी हमारी आशा है।

साहित्य में प्रकृति-सौन्दर्य

रूपरेखा

वैदिक-साहित्य में प्रकृति का सुन्दर वर्णन—ज्ञानप्रधान उपनिषदों में इसकी कमी—संस्कृत-साहित्य के कवि प्रकृति-सौन्दर्य के उपासक थे—बाल्मीकि और कालिदास—मेघ को दूत बनाकर प्रकृति से एकात्मता की व्यापक भावना—भवभूति का प्रकृति प्रेम।

वीर काव्य में प्रकृति स्वतन्त्र नहीं, केवल रतिभाव को बढ़ाने या महाकाव्य की शर्त पूर्ण करने के लिए प्रकृति-वर्णन।

निर्गुण कवियों के प्रकृति वर्णन अध्यात्म-प्रचार के दृष्टान्त रूप में—जायसी आदि का प्रकृति वर्णन अधिक सुन्दर।

तुलसीदास प्रकृति सौन्दर्य के द्रष्टा थे, पर सूर नहीं। प्रकृति उद्दीपक रह गई।

रीतिकाल में प्रकृति का एकमात्र उद्देश्य कामवासना की वृद्धि—नखशिख वर्णन में प्रकृति उपमान रह गई—प्रकृति वर्णन की रूढ़ि का पालन।

भारतेन्दु और द्विवेदी युग के कवि प्रकृति सौंदर्य पर मुग्ध थे—प्रकृति स्वयं आलम्बन भी बन गई।

प्रकृति में मानवता के दर्शन—छायावादी कवियों के युग में प्रकृति और भी प्रधान व सजीव—निराला—प्रसाद—पन्त सभी कवि प्रकृति के प्रति आकृष्ट—जूही की कली इस दिशा में एक दीपस्तंभ-पन्त का छाया-चित्रण।

मातृभूमि का प्राकृतिक सौंदर्य—बन्देमातरम् का साहित्य पर प्रभाव प्रगतिवादी प्रकृति के रूक्ष और कठोर रूप पर मुग्ध हो गया। दृष्टान्त और अलंकारों के रूप में भी प्रकृति वर्णन।

वेदों में प्रकृति वर्णन

वैदिक साहित्य में, जो विश्व का सबसे प्राचीन काव्य है, प्रकृति का वर्णन सुन्दर है। बड़े-बड़े हिमवान् पर्वत, विशाल जलनिधि सागर, प्रातः-काल संसार को प्रकाश देनेवाला सूर्य—यह सब वैदिक काव्य के विषय हैं। प्रकृति के इन सब अद्भुत चित्रों का दर्शन इन सबके मूल में निहित रहस्यमय शक्ति को स्मरण कराता है। वेद पौरुषेय हो अथवा अपौरुषेय, उनके पढ़ने से यह स्पष्ट है कि प्राचीन काल के ऋषि मुनि प्रकृति में आनन्द की अनुभूति करते थे! प्रकृति उनके जीवन का प्रधान अंग थी। वे लोग लहलहाते खेतों, प्रातःकाल नित नई आभा लेकर उदित होने वाले सूर्य और नील आकाश को रजनी में भर देनेवाले तारों या राका के पूर्ण-चन्द्र को देखकर आनन्द से विभोर हो उठते थे। उपनिषदों में प्रकृति के साथ इतने साहचर्य के दर्शन नहीं होते। उपनिषदें हृदय नहीं, मस्तिष्क प्रधान हैं। उस समय आत्मा, परमात्मा और मुक्ति के दार्शनिक विवेचन ने ऋषियों की दृष्टि अन्तर्मुखी कर दी थी।

प्रकृति की उपेक्षा असम्भव

आदि कवि वाल्मीकि ने रामायण में प्रकृति के रम्य दृश्यों का स्थान-स्थान पर सुन्दर वर्णन किया है। कवि का हृदय प्रकृति की उपेक्षा कर ही नहीं सकता। यह असम्भव है कि सर्वत्र सौंदर्य का दर्शन करने वाला कवि बर्फीले चमकते हुए विशाल पर्वतों, गंगा और यमुना के समान बहने वाली नदियों, खिलते हुए रंगबिरंगे फूलों तथा तारों से चमकते हुए आकाश में सौंदर्य के दर्शन न करे। संस्कृत काव्यों में प्रकृति के वर्णन स्थल स्थल पर मिलते हैं। कवि-कुल शिरोमणि कालिदास ने तो 'शकुन्तला नाटक' में प्रकृति और पुरुष में एकात्म बुद्धि का अनुभव किया है। शकुन्तला केवल पशुपक्षियों से प्रेम नहीं करती, अपने फूलों, लताओं, पौदों में भी अपने हृदय के दर्शन करती है। मेघ को दूत बनाकर तो कालिदास ने सचमुच प्रकृति में भी उसी चैतन्य का आरोप किया है, जो मानव में है। ऋतुसंहार नामक काव्य में प्रत्येक ऋतु का

पृथक्-पृथक् वर्णन किया गया है। यह ठीक है कि प्रत्येक ऋतु शृंगार रस के उद्दीपन के रूप में ही उपस्थित की गई है। भवभूति ने उत्तररामचरित में सीता और राम को अरण्य-दर्शन कराने के बहाने से प्रकृति का सुन्दर वर्णन किया है। दूसरे संस्कृत कवियों ने भी कहीं स्वतः आलम्बन और कहीं उद्दीपन के रूप में प्रकृति का चित्रण किया है।

वीर काव्यों में प्रकृति की उपेक्षा

हिन्दी-साहित्य के प्रारम्भ काल में संभवतः कवियों को प्रकृति की अद्भुत लीला के दर्शन करने का अवसर ही नहीं मिला। वे तो युद्ध-क्षेत्रों में रणदुन्दुभि के घोष, तलवारों की चुन्धियाती हुई तीव्र रोशनी तथा विध्वंस लीला में ही व्यस्त रहे। उनका लक्ष्य तो शत्रु था, इस दौड़फांद में प्रकृति के दृश्य देखने और उनमें रस लेने की फुरसत ही उन्हें कहां थी ? उनका सौन्दर्य वीर नायक की नायिका में सीमित हो गया था। कहीं-कहीं प्रकृति का वर्णन हुआ है, तो नायक या नायिका के रतिभाव को बढ़ाने के लिए। महाकाव्य की प्रकृति-वर्णन की शर्त को पूर्ण करने के लिए भी कवियों ने प्रकृति का वर्णन विवश होकर किया है।

ज्ञानमार्गी कवि और प्रकृति

वीरकाव्य के बाद आते हैं निर्गुण शाखा के कवि कबीर, दादू, नानक आदि। प्रकृति की ओर इन कवियों का ध्यान भी कम गया है। यह स्वाभाविक भी था। उपनिषद् काल के ऋषियों की तरह कबीर आदि भी ज्ञानमार्गी थे। इनके हृदय की अनुभूति प्रबल अवश्य थी, परन्तु ज्ञान और विवेचन के भार से वह दब गई थी। इन्होंने प्रकृति-वर्णन अवश्य किया है, पर वह स्वतन्त्र रूप से नहीं। उनके काव्य में वर्षा, फाग वसन्त आदि के वर्णन आध्यात्मिक तत्त्वों के निरूपण के लिए ही किये गये हैं। प्रेममार्गी कवियों ने प्रकृति की इतनी उपेक्षा नहीं की। जायसी का प्रकृति-चित्रण अधिक पूर्ण है। विरह में तड़पते हुए प्रेमी प्रकृति पर भी विरह का प्रभाव डालने से नहीं चूके। सूरज,

मजीठ, टेसू, वनस्पति आदि सब का लाल रंग उसी अद्भुत शक्ति के अनुराग के कारण है।

चांद सुरज और नखत तराई
तेहि उर . अंतरिख घिरहि सवाई।
पवन जाई तहं पहुंचे चहा
मारा तैस लोटि भुई रहा।
अगिनी उठी, जरी बुसी त्रिआना,
धुआं उठा उठ बीन त्रिलाना।

सृष्टि के प्राकृतिक तत्वों की यह सभी हलचल उसी शक्ति को पाने के लिए है, परन्तु वह किसी के हाथ नहीं आता। पद्मावत में बारह-मासा वर्णन और नखशिख वर्णन आये हैं। नागमती के वेदना-पूर्ण हृदय का मर्मस्पर्शी वर्णन शेष सृष्टि में संवेदन शक्ति और सहानुभूति के भी दर्शन कराता है। विरह की व्यापकता सारे संसार में दिखाई गई है। सारा संसार विरही के साथ विरहमय हो जाता है। कौए काले हो गये हैं, वृक्ष सूख गए हैं।

भक्तिकाव्य में प्रकृति

संत तुलसीदास प्रकृति के सौंदर्य को सचमुच अनुभव करते थे। प्रकृति किसी उद्दीपन के रूप में नहीं, सुन्दर व आकर्षक आलम्बन के रूप में ही रामायण में चित्रित की गई है। शरत का वर्णन, तालाब नदी और पर्वतों के वर्णन सुन्दर हुए हैं। इन दृश्यों का वर्णन इसलिये नहीं किया गया कि राम या सीता के किन्हीं भावों को उद्दीप्त करना था, परन्तु प्रकृति के दृश्यों में स्वयं कवि ने सौंदर्य के दर्शन किये थे। सूरदास के काव्य में यह बात नहीं मिलती। विरह वर्णन की कवि-परम्परा के अनुकूल ही ऋतुओं का उद्दीपक रूप में वर्णन किया गया है। वर्षा को वे विरहिणी के रूप में दिखाते हैं। कभी वह बादलों में अपने प्रियतम की सदृशता देखकर अपनी स्मृति को और भी सजीव तथा सजल बना लेती है। सूर ने चन्द्र आदि उद्दीपनों को खूब कोसा है कि वे मथुरा जाकर कृष्ण को क्यों नहीं सताते? सूर की

दृष्टि में कालिंदी यमुना कृष्ण-विरह के कारण ही काली पड़ गई थी

रीतिकाव्य में प्रकृति

रीतिकाव्य में प्रकृति वर्णन बहुत अधिक हुआ है, परन्तु इसकी यह विशेषता है कि वह केवल नायक नायिका के संयोग या वियोग शृंगार रस के उद्दीपन के रूप में ही किया गया है। नायिकाओं के सौंदर्य चित्रण में अथवा उनके नखशिख वर्णन में प्राकृतिक उपमानों की झड़ी उन्होंने लगाई है। मुख की उपमा चांद से, आंखों की मीन या खंजन से, कमर की कमल-नाल से और टांगों की उपमा कदली वृक्ष से दी गई है। प्रकृति के विभिन्न वर्णन भी इसलिए नहीं किये गये कि वे कवि के हृदय मे कोई विशेष आह्लाद उत्पन्न करते थे। बल्कि इसलिए कि वे नायक नायिका के भावों को प्रकृति के साथ समता करके और अधिक चामत्कारिक रूप में उपस्थित करना चाहते थे। वर्षा के काले-काले बादल गरजकर परदेश गये प्रेमी को उसकी प्रेमिका का संदेश देते हैं, काली काली घटाएं विरहिणी के हृदय को पीड़ित करती हैं, बसन्त में कोयल की कू-कू प्रेमी के हृदय में विरह वेदना को प्रज्वलित करती है। शिशिर हो अथवा ग्रीष्म, वर्षा हो या वसन्त, सभी ऋतुएं विरह वेदना को बढाती हैं। रीतिकाल में कवियों ने प्रकृति के स्वतन्त्र अस्तित्व को अनुभव नहीं किया और पहचानते भी किस तरह, उन्हें तो अपनी नायिकाओं के बीसियों भेदों और नखशिख वर्णन से ही फुरसत नहीं मिलती थी। षट् ऋतु वर्णन की परम्परा का भी मूल उद्देश्य यही था। केशव की रामचन्द्रिका में प्रकृति का वर्णन स्वाभाविक नहीं हो सका। वे राजदरबार के कवि थे। उन्हें स्वाभाविक प्रकृति का ज्ञान भी न था। सेनापति का प्रकृति-वर्णन अन्य रीतिकालीन कवियों की अपेक्षा कुछ अच्छा हुआ है। प्रकृति को आलम्बन मानकर सेनापति ने कुछ वर्णन किये हैं, अधिकांश वर्णन उद्दीपन रूप में ही है। अलंकारों की अधिकता इन वर्णनों में पाई जाती है। शाब्दिक चमत्कार के लिए भी प्रकृति के वर्णन किये गये दीखते है। बिहारी में भी कहीं-कहीं चमत्कार का आधिक्य पाया जाता है।

भारतेन्दु और द्विवेदी युग

रीतिकाल के बाद आये भारतेन्दु युग और द्विवेदी युग। इन युगों में प्रकृति के सौन्दर्य से मुग्ध होकर अनेक कवियों ने उसका वर्णन किया है।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने यमुना वर्णन में तमाल कुंजों, कमलपंक्ति, शैवाल-जाल, चन्द्रिका ज्योति, चन्द्र प्रतिबिम्ब, लोल-लहर इत्यादि एक-एक अंग को लेकर सन्देहालंकार की सृष्टि कर दी है। श्री राय देवीप्रसाद 'पूर्ण' का वर्षा आगमन देखिये—

सुखद शीतल सुचि सुगन्धित पवन लागी बहन,
सलिल बरसन लग्यो, वसुधा लगी सुखमा लहन।
लहलही लहरान लागीं सुमन वेली मृदुल,
हरित कुसुमित लगे भूमन, विरिछ मजुल विपुल।

संस्कृत ग्रंथों से भी प्रकृति वर्णन के अनुवाद किये जाने लगे। कवियों ने प्रकृति को जिस रूप में देखा, उसी का वर्णन कर दिया है। इनमें श्रीधर पाठक प्रमुख हैं। 'काश्मीर सुषमा' में प्राकृतिक शोभा का ही विस्तृत वर्णन है। गिरिधर शर्मा, रामचन्द्र शुक्ल, सत्यनारायण कविरत्न, मैथिलीशरण गुप्त, अयोध्यासिंह उपाध्याय आदि अनेक कवियों ने जलप्रपात, सरिता, झरना, मेघ, वन, तड़ाग आदि के क्रियात्मक वर्णन किये हैं। इन सब में प्रकृति के विविध रूपों को आलम्बन मानकर उपस्थित किया गया है—उद्दीपन बना करके नहीं। वस्तुतः प्रकृति आनन्द, विस्मय और उन्माद का उद्रेक करने लगी। विद्याभूषण 'विभु' तितली को देखकर पागल हो गये, तो कोई कवि इन्द्र-धनुष या मेघमाला को देखकर मस्त हो गया। प्रियप्रवास का प्रायः प्रत्येक अध्याय प्रकृति वर्णन से प्रारम्भ होता है। 'पथिक' के पहले अध्याय में प्रकृति-वर्णन ही है। ये प्रकृति-वर्णन मुख्य घटनाक्रम की पृष्ठभूमि के रूप में चित्रित किये गये हैं। इसी समय कवि प्रकृति को माता के रूप में भी देखने लगे थे।

प्रकृति में चेतनता के दर्शन

प्रकृति में चेतन की कल्पना छायावाद की प्रमुख देन मानी जाती है,

किन्तु इसका पहले भी सर्वथा अभाव न था। स्वयं कालिदास का मेघदूत इसका प्रमुख उदाहरण है। मेघ को प्राणवान चेतन मानने की पृष्ठभूमि पर ही सारा काव्य लिखा गया है। महाकवि भारवि ने शरद्-वर्णन में प्रकृति को वधू के रूप में स्मरण किया है, जिसका अनुवाद श्री गिरिधर शर्मा ने किया है—

कृश हुई पर है प्रिय दिग्वधू।

गो० तुलसीदास ने भी प्रकृति में मानवी वृत्ति देखी थी—

नदी उमगि अम्बुधि कह पाई, संगम करहिं तलाब तलाई।

भारतेन्दु युग के कवियों ने प्रकृति में चेतनता के दर्शन करने प्रारम्भ कर दिये थे। श्री पूर्ण ने अमलतास को ग्रीष्म की दुपहरी में भी सरस देखकर उसे भक्त से उपमा दी। श्री गोपालशरणसिंह ने भी प्रकृति की चिन्मयता का चित्रण किया है—

फूलों के मिस लतिकाएं सब मन्द मन्द मुसकाती हैं
पल्लव रूपी पाणि हिलाकर मन के भाव बताती हैं।

रामचरित उपाध्याय का पवनदूत और प्रियप्रवास की पवनदूती प्रकृति के मानवीकरण के अच्छे उदाहरण हैं। पवन को प्रेमदूत बनाने का अर्थ यह है कि कवि अपने सुख-दुःख में प्रत्येक चर-अचर से सहानुभूति की आशा करता है।

छायावाद में प्रकृति सजीव हो उठी

प्रकृति का यही मानवीकरण छायावादी युग में अत्यन्त प्रमुख रूप में हमारे सामने आया। अब प्रकृति केवल मनोरंजन की वस्तु न रही थी। वह शुद्ध रूप से चेतन हो गई थी।

प्रकृति केवल रमणीय और मानव को आनन्द देने वाली जड़ वस्तु न रही थी, किन्तु स्वयं भी चेतन हो चुकी थी और मानव आत्मा की भांति हंसती, खेलती, अंगड़ाइयां लेती, चलती, फिरती, रुग्ण होती, विह्वल होती, क्रोध करती, प्रेमी को प्यार करती और प्रेम के विरह पर वेदना की अग्नि से जलती। सुमित्रानन्दन पन्त, जयशंकर प्रसाद और निराला ने प्रकृति में उसी चेतन

आत्मा का दर्शन किया,जो प्राणि जगत् में व्याप्त है। श्री निराला की 'जूही की कली' प्रकृति के मानवीकरण की दिशा में एक दीपस्तम्भ हो गई। कली साधारण कली न रहकर एक नायिका के रूप में देखी गई है और मालयानिल प्रेमी नायक के रूप में।

नायक ने चूमे कपोल,
डोल उठी वल्लारी की लड़ी जैसे हिंडोल
इस पर भी जागी नहीं,
× × ×
निर्दय उस नायक ने
निपट निठुराई की कि
झोंकों की झड़ियो से
सुन्दर सुकुमार देह सारी झकझोर डाली
मसल दिये गोरे कपोल गोल
चौंक पड़ी युवती—चारो ओर
चकित चितवन निज फेर
हेर प्यारे को सेज पास
नम्रमुखी हसी खिली
खेल प्यारे संग

रामकुमार को ऐसा दिखाई देता हैं कि "*ये शिलाखण्ड मानो अनेक पापो के फैले हैं समूह*" पन्त को 'जतु गृह सा विकराल सोने का सांध्यकाल' जलता हुआ दीखता है। कभी लहरें पन्त को चूमने को उठती प्रतीत होती हैं, तो तारा पाण्डे को नीरव नभ भी रोता हुआ प्रतीत होता है। 'निराला' प्रकृति को मां कहते हैं, तो बहुत से कवि उसे सहचरी, सजनी अथवा रानी के रूप मे देखते हैं।" 'प्रसाद' की 'किरण' एक अनुगामिनी बाला के रूप में हमारे सामने आती है। इस दिशा में सुमित्रानन्दन पन्त की 'छाया' प्रकृति के मानवीकरण का एक निभ्रन्ति उदाहरण है। कभी वह व्रजवनिता के रूप मे दिखाई देती हैं तो कभी दमयन्ती के—

कहो कौन हो दमयन्ती सी तुम तरु के नीचे सोई ?
हाय, तुम्हें भी त्याग गया क्या अलि ! नल सा निष्ठुर कोई !
पीले पत्तों की शय्या पर तुम विरक्ति सी, मूर्छा सी ?
विजन विपिन में कौन पड़ी हो विरहमलिन दुखविधुरा सी ।

"सौरभ के मिस" वसन्त की सुषमा को कोई मौन संदेश भेजता हुआ पन्त को प्रतीत होता है । यमुना की लहरों में अतीत के गौरवगान 'निराला' को सुनाई देते हैं । गुप्तजी की पंचवटी, 'पन्त' का पल्लव और प्रसाद की कामायनी में प्रकृति के हृदयस्पर्शी चित्रण हिन्दी-साहित्य की अमर सम्पत्ति हैं । पंचवटी में ऊषा का वर्णन करते हुए गुप्तजी लिखते हैं—

कुछ कुछ अरुण, सुनहली कुछ कुछ प्राची की अब भूषा थी ।
पंचवटी का द्वार खोल कर स्वयं खड़ी वहां ऊषा थी ॥

कामायनी में प्रकृति के विविध रूपों का चित्रण प्रसादजी ने किया है । जलप्लावन में प्रकृति के पांचों तत्वों का संघर्ष कवि ने किया है । ऊषाकालीन संध्या का वर्णन कितना सुन्दर है—

उषा सुनहले तीर बरसती जय लक्ष्मी सी उदित हुई,
उधर पराजित कालरात्रि भी जल में अन्तर्निहित हुई ।
नव कोमल आलोक बिखरता हिम-संसृति पर भर अनुराग,
सित सरोज पर क्रीड़ा करता जैसे मधुमय पिंग पराग ॥

'निराला' द्वारा संध्या का वर्णन देखिये –

दिवसावसान का समय,
मेघमय आसमान से उतर रही है
वह संध्या सुन्दरी परी सी
धीरे धीरे धीरे,
तिमिरांचल में चचलता का नहीं कहीं आभास,
मधुर मधुर हैं दोनों उसके अधर,
किन्तु गंभीर—नहीं है उनमें हास विलास ।

अलमोड़ा के सुन्दर पार्वत्य प्रदेश से प्रकृति का सौन्दर्य रस हिन्दी-साहित्य में उंडेलने वाला 'पन्त' लिखता है—

पावस ऋतु थी, पर्वत प्रदेश, पल पल परिवर्तित प्रकृति-वेश।
मेखलाकार पर्वत अपार, अपने सहस दृग-सुमन फाड़,
अवलोक रहा है बार बार, नीचे जल में निज महाकार,
जिसके चरणों में पला ताल दर्पण-सा है फैला है विशाल ॥

मातृभूमि का प्राकृतिक सौन्दर्य

बंकिम ने 'वन्देमातरम्' में मातृभूमि को सुजलां, सुफलां, मलयज शीतलां शस्यश्यामलां और शुभ्रज्योत्स्ना पुलकित यामिनी, फुल्लकुसुमित द्रुमदल शोभिनी के रूप में देखा है। भारत का राष्ट्रीय कवि भी प्रकृति के इस रूप की उपेक्षा नहीं कर सका। 'दिनकर' ने हिमालय का वर्णन किया हैं—

मेरे नगपति, मेरे विशाल,
साकार दिव्य, गौरव विराट्,
पौरुष के प्रेमी भूतज्वाल,
मेरी जननी के हिमकिरीट,
मेरे भारत के दिव्य भाल,
मेरे नगपति, मेरे विशाल ॥

वह प्रकृति के रुद्ररूप का दर्शन करता हुआ कहता है—

सुनूं मैं सिन्धु क्या गर्जन तुम्हारा स्वय युगधर्म की हुंकार हूं मैं।

प्रकृति का भयंकर रूप

आज का प्रगतिवादी कवि भी प्रकृति के रुद्र रूप का स्मरण करता है और उसमें कराहते हुए मानव का दर्शन करता है। शहरियों से तंग आकर ग्रामों के प्रति आकर्षण ने भी उन्हें प्रकृति के निकट पहुंचाया है। शोषण और वर्तमान व्यवस्था के प्रति विद्रोह और क्रान्ति की भावना ने इन्हें प्रकृति में भी कठोर रूप को अधिक चित्रित किया है वसन्त के स्थान पर पतझड़ कविता का विषय बन गया। 'आरसी प्रसाद' जी 'ताण्डव' शीर्षक से लिखते हैं—

अर्ध सन्ध्या के धूमानच्छन्न व्योम प्रस्तर में आत्मविभोर,
रक्तरंजित, तमत्यजित, तोमघनों के अन्तराल में घोर,
कौन तुम उतर आज चुपचाप, नृत्य करते हो बन अभिशाप ?
काल का कोप तरणि का ताप।

किसी समय प्राची द्वारा पथ में स्वर्ण हंसों के रथ में आने वाली के लिए पाटल बिछाने वाला कवि नरेन्द्र कभी अपने को "मरघट का पीपल तरु" के रूप में स्मरण करता है, तो कभी ज्येष्ठ के मध्यान्ह का वर्णन करता है।

दृष्टान्त व अलंकार रूप में

प्रकृति के द्वारा दृष्टान्त और उपदेश देने की प्राचीन परिपाटी अब तक भी चल रही है। 'पन्त' गुंजन में लिखते हैं--

वन की सूनी डाली पर सीखा कलि ने मुसकाना,
मैं सीख न पाया अब तक सुख से दुख को अपनाना।

अलंकारों के लिए तो प्रकृति का कवियों ने जी खोल कर उपयोग किया है। उपमा में, उत्प्रेक्षा में, अपह्नुति में, भ्रान्तिमान में और सबसे बढ़कर रूपक में प्रकृतिगत उपमानों का उपयोग होता है कवि प्रसाद ने रूप वर्णन के लिए प्राकृतिक अवयवों से ही साधन जुटाये—

अरुण रागरंजित कोमल हिमखण्ड से—
सुन्दर गोल कपोल सुन्दर नासा बनी
चपला सी है ग्रीवा हसी है बढ़ी
रूप जलधि में लोल लहरियां उठ रहीं
मुक्ता गण हैं लिपटे कोमल कम्बु में।

इस तरह हम देखते हैं कि हिन्दी-साहित्य में प्रकृति का वर्णन भिन्न-भिन्न रूपों में मिलता है। समय के अनुसार इसमें परिवर्तन होता रहा है और कौन कह सकता है कि प्रकृति को भावी साहित्यकार किसी नये रूप में देखने की प्रतिभा नहीं पावेगा ?

साहित्य में नारी के विविध चित्र

रूपरेखा

१—वैदिक-साहित्य में नारी का ऊंचा स्थान—संस्कृत-साहित्य में आदर्श नारी, किन्तु पुरुष के अस्तित्व में लीन, स्वतंत्र व्यक्तित्व नहीं।

२—वीर-काव्य में नारी पत्नी है. किन्तु वीर पति की कामना करने वाली नारी वीर भी है, फिर भी उसे समाज में कोई स्वतंत्र सत्ता प्राप्त नहीं।

३—विद्यापति द्वारा नारी के रमणी और विलासिनी रूप में दर्शन।

४—कबीर आदि सन्तों का नारी के प्रति घृणा फैला कर वैराग्य का प्रचार।

५—सूफी कवियों ने आराध्य देवता की प्रतीक नारी को माना रत्नसेन पद्मिनी के लिए तड़पता रहा।

६—गो० तुलसी ने सीता, मन्दोदरी का चित्रण किया—नारी को पतिव्रत धर्म का उपदेश दिया—मन्थरा कैकेयी व शूर्पणखा का भी वर्णन जनसाधारण की हीनभावना का प्रकाशन।

७—कृष्ण-काव्य में प्रेम-विह्वल नारी : राधा प्रकृति का प्रतीक या कामा-सक्त—राधा नारी का भावात्मक रूप।

८—रीतिकाल में रूपवती, पर विलासिनी व्यभिचारिणी नारी के दर्शन।

९—भारतेन्दु युग में नारी की दुर्दशा के प्रति सहानुभूति : सामाजिक कुप्रथाओं के विरुद्ध घृणा।

१०—नारी के सम्मान की भावना बढ़ी : प्रेमचन्द व 'प्रसाद' ने भारतीय नारी का उज्ज्वल रूप सामने रखा—श्री द्विजेन्द्रराय के नाटकों में भी नारी

का स्वतत्र ऊंचा व्यक्तित्व-देशभक्त, तेजस्विनी वीरांगना नारी—मैथिलीशरण ने उपेक्षित यशोधरा व उर्मिला को साहित्य पट पर अङ्कित किया।

??—छायावाद रहस्यवाद में नारी की सुन्दरता सुकमारता को सामने रखकर शृङ्गार का विषय बनाया। प्रगतिवाद ने पीड़ित नारी के दर्शन किये।

नर और नारी मिलकर संपूर्ण मनुष्य बनते हैं। नर के बिना नारी और नारी के बिना नर अपूर्ण रहते हैं। दोनों एक दूसरे के लिए अनिवार्य हैं। प्रकृति ने सृष्टि का क्रम ही ऐसा बनाया है और यही कारण है कि एक दूसरे के प्रति आकर्षण दोनों में अनायास हो जाता है। केवल मानव में नहीं, संपूर्ण प्राणीमात्र में नर और नारी एक दूसरे के प्रति अनिवार्य रूप से आकृष्ट होते हैं। इसलिए साहित्य में नारी का चित्रण न हो, यह असंभव था। प्रायः प्रत्येक काल और प्रत्येक देश के साहित्य में नारी साहित्य का एक प्रधान विषय रहा है। मानवजीवन की व्याख्या ही तो साहित्य है और नारी मानव का पुरुष के समान ही तो प्रधान अंग है।

संस्कृत साहित्य में नारी

समय-समय पर समाज में नारी की जैसी स्थिति रही, पुरुष ने नारी को जिस रूप में देखा, उसका साहित्य पर विशेष प्रभाव पड़ा है। वैदिक-साहित्य में नारी का पद बहुत ऊंचा माना गया है। वह गृह की साम्राज्ञी है, पूज्य है, वीरों का प्रसव करने वाली माता है, महान् गुणों से युक्त है। वेद में नारी भोग की वस्तु नहीं मानी गई और न वह पुरुष की दासी मानी गई है। वह भी मंत्रद्रष्टा है, ऋषि हैं, बहुत से वेद मंत्रों की देवता है। वह गृहस्थ की चर्चा में पुरुष के समान ही मानी गई है। यदि नारी पुरुष से प्रार्थना करती है, तो पुरुष भी नारी से प्रार्थना करता है।

लौकिक संस्कृत-साहित्य में नारी का यह स्थान लुप्त हो गया। उसका पृथक् अस्तित्व नहीं रहा। कवियों ने संस्कृत-साहित्य में उसका नर के अभिन्न अंग के रूप में तो वर्णन किया, किन्तु उसकी स्वतंत्र सत्ता स्वीकार नहीं की। वह अपने पति की अनुगामिनी पतिव्रता के रूप में ही चित्रित हुई है।

बाल्मीकि ने सीता को अग्नि परीक्षा आदि के समय तेजस्विनी रूप में चित्रित अवश्य किया है, पुत्र संजय को उपदेश देती हुई विदुला भी मिलती है, किन्तु ऐसे प्रसंग संस्कृत-साहित्य में बहुत कम आये हैं। महाभारत में द्रौपदी पुरुष के मनोरंजन की वस्तु रह गई थी, जिसके सतीत्व के साथ कौरव अपमान करने से भी नहीं चूके। एक नारी पांचों भाइयों की उपभोग्य वस्तु बन गई, सुभद्रा का अपहरण करते हुए अर्जुन को संकोच नहीं हुआ और बलपूर्वक अपहरण को भी विवाह का वैध रूप माना जाने लगा था। नारी का स्वतंत्र अस्तित्व संस्कृत-साहित्य में बहुत कम प्राप्त होता है। स्वयंवर की प्रथा में वीर पति पाने की लालसा थी या वीर दामाद पाने की, यह संदिग्ध है। परन्तु यह सब होते हुए भी नारी केवल विलास की वस्तु के रूप में चित्रित नहीं की गई। वह अपने धर्म का, मर्यादाओं का पालन करने वाली थी। सीता, अनुसूया, मंदोदरी, द्रौपदी, गांधारी, रुक्मिणी आदि सभी महिलाएं अपनी तेजस्विता भी रखती थीं। संस्कृत-काव्यों और नाटकों में भी नारी का यही धर्मप्राण और संयत जीवन मिलता है। कालिदास की शकुन्तला तेजस्विनी नारी है, वह दुष्यन्त द्वारा तिरस्कृत होने पर गिड़गिड़ाती नहीं, न पिता के पास जाती है। वह अन्यत्र तपोवन में जाती है, जहां से कुछ वर्षों बाद दुष्यन्त स्वयं उसे मना कर वापस लाता है। किन्तु संस्कृत-साहित्य में नारी को उपभोग और विलास की रमणीय वस्तु के रूप में भी चित्रित किया गया है। वीर पुरुष को देखकर वह मुग्ध होती है। पुरुष भी सुन्दर रमणी को देखकर मुग्ध होता है उससे विवाह कर लेता है और फिर वह धर्मभीरु बनकर उसकी सेवा में अपना जीवन अर्पित कर देती है। यह कम आश्चर्य की बात नहीं है कि संस्कृत-साहित्य में नारी का रूप केवल अपूर्व सौन्दर्य की प्रतिमा, रमणी या आदर्श कर्तव्य परायण पत्नी ही है, माता, बहन या राष्ट्र की नेत्री का रूप उसे नहीं दिया गया।

वीर काव्यों में पुरुष का अंग नारी

हिन्दी-साहित्य पर स्वभावतः संस्कृत-साहित्य का असाधारण प्रभाव पड़ा

है। वीर काव्यों में इसके अतिरिक्त नारी का कोई रूप नहीं है कि वह वीर पति को पसन्द करती है। संयोगिता अपने पिता के शत्रु तक से विवाह करने में संकोच नहीं करती। वह स्वयं भी वीर है, पति के साथ रणक्षेत्र में जाती है। दूसरी नारियां भी वीर हैं, वीर पति चाहती हैं, परन्तु किसी कवि ने किसी नारी के साहस और वीरतापूर्ण कार्यों का चित्रण करने के लिए कोई स्वतंत्र काव्य नहीं लिखा। नारी सदा पुरुष के एक अंग के रूप में ही चित्रित हुई है। वीर पुरुष सदा नारी सौन्दर्य का पिपासु रहा है और यही कारण है कि सभी वीर काव्यों में शृङ्गार रस के सुन्दर वर्णन मिलते हैं। नारी सदा नायिका ही बनी रही। यह कम आश्चर्य की बात नहीं है कि राजपूत काल में न मीरा पर कोई पृथक् काव्य लिखा गया और न रुक्मणी, दुर्गा, तारा या कर्मवती पर। जैसे उनका कोई पृथक् अस्तित्व ही नहीं था। वीर पुरुष एक साथ अनेक नारी रत्नों को अपने अन्तःपुर में एकत्र करने में अपना गौरव समझते थे और नारी भी उन्हें हृदयदान देना अपना कर्तव्य समझती थी।

नारी का रमणी रूप

यही काल था, जब विद्यापति मैथिली भाषा में 'गीत-गोविन्द' के अनुकरण में नारी का केवल रमणी रूप देख रहे थे। उनकी राधा कामकेलि में चतुर है, अत्यन्त विलासिनी है।

> *"केलि कलावति कुसुम-सरसि-कुल, कौसल करल पयान।"*

राधा को इस संसार से, संसार के सुख दुःख से कोई प्रयोजन नहीं, वह तो केवल कामक्रीड़ा चाहती है।

नारी के प्रति विरक्ति व घृणा

वीर काल के बाद हिन्दी में भक्ति-साहित्य का प्रादुर्भाव हुआ। यह भक्ति साहित्य वस्तुतः सन्तों की रचना थी और सन्त भी ऐसे, जो इस संसार से कोई वास्ता नहीं रखते (तुलसीदास इसमें अपवाद हैं)। उन्हें तो संसार से वैराग्य होगया है, उन्हें केवल आराध्यदेव की चिन्ता है। उन्होंने गृहस्थ आश्रम

में बन्धन देखा और इसका कारण नारी और उसके सौन्दर्य को पाया। इसलिए प्रायः सभी सन्त कवियों ने नारी को त्याज्य और उन्नति की शत्रु बताया। संभवतः वाममार्ग के प्रचार ने नारी का कुत्सित रूप ही समाज के सामने रखा था, इसलिए कबीर ने जी खोलकर नारी की निन्दा की।

छोटी मोटी कामिनी, सब ही विष की बेलि।
बैरि मारैं दाव परि, यह मारैं हसि-खेलि॥
सांप बीछि को मन्त्र है, माहुर झारे जात।
विकट नारि पाले परी, काटि करेजो खात॥
नारी की झाईं परत, अन्धा होत भुजग।
कबिरा तिनकी कौन गति, नित नारी के संग॥

यह ठीक है कि सन्त कवियों ने परमात्मा के भक्त को पतिव्रता नारी की उपमा देकर पतिव्रता नारी की स्तुति की है और कुछ कवियों ने परमात्मा को मां के रूप में भी याद किया है (हरि जननी मैं बालक तोरा—कबीर) किन्तु सन्त कवियों ने भोग विलास का प्रलोभन समझ कर नारी को माया रूप कह कर अधिकतर निन्दा ही की है। इन सन्त कवियों का जीवन एकांगी था। वे गृहस्थ आश्रम के उज्ज्वल पथ को देख ही नहीं सके और इसका संभवतः प्रमुख कारण था तत्कालीन रीतिकाव्य की प्रतिक्रिया।

आराध्य की प्रतीक नारी

इसके बाद आया प्रेममार्गी और सगुण भक्ति का काव्य। आराध्य देवता ने शरीर धारण कर लिया, भले ही वह सूफी कवियों का केवल प्रतीक हो या तुलसी और सूर के राम। गृहस्थ शरीर की आवश्यकता है और उसका एक धर्म है। प्रेम-काव्य भी नारी के बिना चल नहीं सकता। इसलिए प्रेममार्गी हिन्दी-साहित्य ने नारी को दूसरे रूप में देखा। जायसी प्रभृति सूफ़ी कवियों ने नारी को ही आराध्य माना। सिंहल की राजकुमारी पद्मावती को पाने के लिए रतनसेन का कष्ट उठाना, तपस्या करना व्यर्थ नहीं था। नारी छोड़ने की जगह

ग्रहण करने की—तपस्या करके पाने की वस्तु बन गई। भले ही इसमें नारी का सौन्दर्य या असाधारण रूप ही भौतिक आकर्षण का कारण बना। निर्गुण कवियों ने यदि भक्त को स्त्रीरूप देकर परमात्मा पुरुष के लिए उसे तड़पाया, तो सूफ़ी कवियों ने पुरुष को नारी के पीछे पागल बनाया। इनके काव्यों के नाम मृगावती, मधुमालती, पद्मावती, इन्द्रावती आदि भी यही बताते हैं कि इन्होंने नारी में वह सौन्दर्य देखा, जिसके पाने के लिए पुरुष तड़पता है और यही कारण है कि उसे ही आराध्य का प्रतीक बनाया। यह एक आश्चर्य की बात है कि एक ओर सूफ़ी कवि नारी को सर्वोच्च शक्ति का प्रतीक मानते थे, दूसरी ओर वे नारी को कामातुर बताने में संकोच नहीं करते। जायसी की पद्मावती को कामदेव सताने लगता है, तो नागमती विवाह से पूर्व अवारा बन जाती है। जायसी नारी बुद्धि की आलोचना करने से भी नहीं चूके—

"*तुम तिरिया मति हीन तुम्हारी, मूरख सो जो मतै घर नारी*"

गो० तुलसी : देवी और दानवी दोनों रूप

सगुण भक्तों के आराध्य राम और कृष्ण नारी की ओर आकृष्ट हैं, यह स्वाभाविक ही था। इसलिए ये लोग परम वैरागी होते हुए भी नारी से घृणा नहीं कर सके। गो० तुलसीदास ने किसी प्रसंग में "*ढोल गवार शूद्र पशु नारी, ये सब ताड़न के अधिकारी*" कहा है, किन्तु वे नारी के प्रति विद्रोही कभी न थे। उनकी रामायण में माता कौशल्या, पतिव्रता सीता, मन्दोदरी और सुलोचना के वर्णन किसी भी नारी के लिए गौरव की वस्तु हैं। इन सब का उन्होंने अत्यन्त आदर के साथ नाम स्मरण किया है, परन्तु इसके साथ ही यह भी सच है कि तत्कालीन समाज नारी के प्रति ऊंची भावना नहीं रखता था और तुलसीदास ने यह कह कर जन सामान्य की भावना प्रकट करने से नहीं चूके।

नारी स्वभाव सत्य कवि कहहीं।
अवगुन आठ सदा उर बसहीं॥

कैकेयी, मन्थरा और ताड़का या शूर्पणखा का सजीव चित्रण करके वे नारी

के सम्बन्ध में उक्त प्रवाद का भी समर्थन करते हैं। लक्ष्मण जब मारीच के 'हा राम' शब्द सुनकर भी कुटिया छोड़ने को तत्पर नहीं होते, तब सीता के मुख से निकली कटूक्तियां स्त्री के हृदय की दुर्बलता को ही प्रकट करती हैं। राम सम्बन्धी काव्य विशुद्ध ऐतिहासिक थे, इसलिए कवि नारी के सम्बन्ध में स्वतन्त्र कल्पना से काम ले नहीं सके। सीता प्रायः सभी काव्यों में आदर्श महिला के रूप में ही चित्रित की गई है परन्तु कवियों की दृष्टि में नारी का आदर्श पतिव्रत धर्म है, उसका जीवन तो समर्पण का जीवन है—

वृद्ध रोग बस जड़ धन हीना।
अन्ध बधिर क्रोधी अति दीना॥
ऐसे हु पति कर किये अपमाना।
नारी पाव जमपुर दुखनाना॥

नारी का स्वतंत्र व्यक्तित्व बहुत कम प्रकट हो पाता है, रावण को मन्दोदरी के उपदेश के अतिरिक्त अन्यत्र शायद नारी की स्वतंत्र सत्ता कहीं प्रकट नहीं होती। वह अपने पति से भिन्न किसी दिशा में सोच ही नहीं सकती। यशोधरा, उर्मिला आदि पतिव्रता नारियां भी सदा उपेक्षित रहीं। इन पर कोई काव्य ही नहीं लिखा गया।

कृष्ण-काव्य में प्रेमविह्वल नारी

कृष्णकाव्य में नारी का चित्रण रामकाव्य से सर्वथा भिन्न रूप में हुआ है। कृष्ण की राधा और गोपियां कामासक्त हैं, भले ही अलंकार या प्रतीक का नाम देकर इस सत्य को छिपाया जाय। सूर की राधा प्रकृति का प्रतीक होते हुए भी साधारण नारी की तरह ही कृष्ण के सौन्दर्य पर रीझती है, उसके विरह में तड़पती है, कामासक्ति के सभी चिन्ह उसे प्रकट होते हैं। राधा केवल कृष्ण की नायिका नहीं है न वह विशुद्ध प्रकृति की प्रतीक दीखती है। वह तो किसी भी आसक्त रमणी का प्रतिरूप है। कुछ विद्वान् सूर की राधा को विशुद्ध भावात्मक मानते हैं। उनका कहना है कि—"राधा का अज्ञात और अनिंद्य नारी रूप तो विद्यापति के नारी चित्रों पर आधारित है और राधा का प्रौढ़रूप

जयदेव मे प्रभावित दीख पड़ता है। विद्यापति तथा राधा-रूप प्रेम-भाव के व्यक्त करने वाले अन्य कवियों ने नारी रूप की पराकाष्ठा उपस्थित की थी, उसे भावात्मक स्वरूप देने का कार्य वस्तुतः सूर ने किया। सूर की राधा पूर्णरूप से भावात्मक है, इसलिए उसमें विद्यापति की राधा की तरह प्रगल्भता नहीं। न उनके जैसा बुद्धि चमत्कार ही है। उसके व्यापारों में शुद्ध प्रणय-सम्बन्ध की रागात्मक अभिव्यक्ति हो पाई है। भ्रमरगीत इसका साक्षी है।" लेकिन इस कल्पना के लिए कुछ अधिक साहस और कुछ अधिक श्रद्धा की आवश्यकता है।

विलासिनी कामुक नारी

रीतिकाल में यही राधा बिल्कुल नग्न रूप में उपस्थित की जाने लगी। नारी केवल विलास की वस्तु रह गई। नारी का व्यक्तित्व शेष था, उसके प्रेम-विरह, हावभाव और लीला विलास में, किन्तु इसका भी उद्देश्य था, उसे अधिक प्रतीक्षा, उपयोग्य बनाना, संभोग, मान, विरह और अभिसार इन्हीं में उसका जीवन बीत जाता था। नारी को बिलकुल नग्न करके नखशिख का सूक्ष्म दर्शन ही साहित्य का प्रधान विषय बन गया। स्त्री का एक मात्र गुण उसका सौन्दर्य माना जाने लगा। सुन्दर स्त्री पति से पैर दबवाती थी, महावर लगवाती थी। रसखान के कान्ह राधा के पैर दबाते किसी कुंज में मिल सकते हैं, तो बिहारी की नायिका बेचारे पति को इसलिए फटकारती है कि उसे चोटी गूथना नहीं आता। नायिकाएं बीसियों प्रकार की हैं, कोई प्रौढ़ा है, तो कोई बालिका, कोई प्रोषित-पतिका है, तो कोई मानिनी, कोई पति को ही चाहती है, तो कोई किसी भी पुरुष का स्वागत करने को उद्यत है। रीतिकाल की नायिका विरह में तड़पती है, उसका बुरा हाल हो जाता है। यह सब पढ़ते समय ऐसा प्रतीत होता है कि इन कवियों की दृष्टि अत्यन्त हीन हो गई थी। नारी में न कोई व्यक्तित्व था, न आत्मा, यह केवल खिलौना थी। जो पुरुष चाहता, उससे खेलता, वह एक फूल थी, जिसे कोई भी मसल सकता था।

पीड़ित नारी के प्रति सहानुभूति

रीतिकाल बीत गया और आधुनिक काल का प्रारम्भ हुआ। आधुनिक

युग में हमारा दृष्टिकोण बदल गया। साहित्य का विषय भी बदला, उसकी दिशा भी बदली। नारी के प्रति दृष्टि भी बदली। सुधार युग में नारी की उन्नति का विचार सामने आया, उसकी शिक्षा पर बल दिया जाने लगा, विधवाओं के प्रति पीड़ित नारी के प्रति करुणा का प्रवाह चलने लगा। नारी में भी सजीवता है। वह भी कुछ चाहती है पुरुष के अत्याचारों से मुक्ति चाहती है, यह विचार साहित्य में प्रकट होने लगे। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, 'प्रेमघन', प्रतापनारायण मिश्र आदि कवियों ने स्त्री-शिक्षा, और विधवा-विवाह आदि सुधारों के पक्ष में लिखा। श्री प्रतापनारायण मिश्र ने लिखा—

निज धर्म भली विधि जानें, निज गौरव को पहचाने।
स्त्रीगण को विद्या देवे करि पतिव्रता यश लेवे॥
झूठी यह गुलाल की लाली धोवत ही मिट जाय।
बाल व्याह की रीति मिटाओ रहे लाली मुंह छाय॥

विनायक राव ने "*अहो सोच कन्या विवाह का वृथा हृदय नर धर हैं*" कहकर बाल-विधवाओं के प्रति लोगों का ध्यान आकृष्ट किया था। अब केवल स्त्री को पतिव्रत धर्म का उपदेश नहीं दिया जाता था, पुरुष को भी पत्नीव्रत का उपदेश दिया जाने लगा। जब भूषणकवि शिवाजी के प्रताप से यवनों के विनाश के साथ-साथ यवन स्त्रियों की दुर्गति की कल्पना में रस लेते हैं, तब जयशंकर 'प्रसाद' लिखते हैं—

सैनिक लोगों से मेरा सन्देश यह
कहिये—कभी न कोई क्षत्रिय आज से
अबला को दुख दें, चाहे हों शत्रु की।

नारी का सम्मान

इस प्रवृत्ति का कारण यह है कि नारी जाति के प्रति मान की भावना इस युग में बढ़ रही थी। नारी का भी हृदय है, उसके भी कुछ अरमान हैं, और उसके प्रति हमारे भी कुछ कर्तव्य हैं, यह भावना निरन्तर विकसित होती गई। श्रीधर 'हेमन्त' में विधवा की दशा नहीं भूल सके। शंकर तो स्त्रियों

की दशा देखकर फूट पड़े। गर्भरण्डा-रहस्य में विधवा की दुर्दशा का ही वर्णन है। पन्त ने "जीवन के उपकरण सदृश" नारी को "क्षुधा कामवश गत युग में पशुबल से जनशासित" व अधिकृत करने पर दुःख प्रकट किया। श्री रामशंकर त्रिपाठी के आनन्द और पथिक ही देशभक्त नहीं हैं, विजया और पथिकप्रिया भी कर्त्तव्य की पुकार सुनने में पीछे नहीं रहतीं। इसके साथ ही राजपूत वीर नारियों पर कविता होने लगी। यह सब कहने का अभिप्राय यह कभी नहीं कि नारी के प्रति प्रेम-वासना का काव्य सर्वथा विलुप्त हो गया। शृङ्गार रस तो आद्य रस है, उसे कवि छोड़ नहीं सके, किन्तु उसका क्षेत्र सीमित अवश्य हो गया।"

गद्य साहित्य में नारी का उज्ज्वल रूप

काव्य की अपेक्षा गद्य का प्रचार हिन्दी में इन दिनों निरन्तर बढ़ता जा रहा था। इसलिए साहित्य का नारी-सम्बन्धी नया दृष्टिकोण गद्य-साहित्य में देखना चाहिए। श्री प्रेमचन्द के उपन्यासों ने नारी को ऊंचे रूप में हमारे सामने रखा। सेवासदन की सुमन वेश्या होते हुए भी ऊंचा उठ सकी, यह नारी के प्रति बढ़ते हुए सम्मान भाव की सूचना थी। प्रेमाश्रम, रंगभूमि आदि उपन्यासों में भी नारी का चित्रण बहुत ऊंचा हुआ है। गांधीजी के असहयोग आन्दोलन ने नारियों का भी विदेशी वस्त्र त्याग के लिए आवाहन किया था। साहित्यकार ने भी नारी को यह संदेश दिया और राष्ट्रीय जीवन में उसके समान अधिकार को स्वीकार किया। यही दिन थे, द्विजेन्द्रलाल राय के नाटकों के अनुवाद हिन्दी संसार में छा गये थे। श्री राय ने नारी को बहुत ऊंचे धरातल पर चित्रित किया था। उनमें वह विलास की वस्तु न थी, वह देशभक्त, कर्तव्य-परायण, तपस्विनी और तेजस्विनी वीरांगना के रूप में हमारे सामने आई और इसका प्रभाव हिन्दी-साहित्य पर भी बहुत पड़ा।

'प्रसाद' व नारी

श्री जयशंकर 'प्रसाद' ने अपने नाटकों में तथा कामायनी महाकाव्य में नारी का जो चित्र उपस्थित किया, वह पुरुष से कहीं अधिक ऊंचा स्थान उसे देता है। स्कन्दगुप्त की देवसेना, सेवा, त्याग, कर्तव्य-परायणता, सहिष्णुता तथा

प्रेरणात्मक शक्ति की मूर्ति है। विभिन्न नाटकों में कमला, अलका, कल्याणी और ध्रुवस्वामिनी आदि का चित्रण भी काफी ऊंचे रूप में हुआ है। मानवीय दुर्बलता का इन स्त्रियों में अभाव नहीं है, किन्तु वे अपनी कमजोरियों पर विजय पाती हैं। स्कन्द गुप्त की देवसेना के समान ही कामायनी महाकाव्य की श्रद्धा भी भारतीय संस्कृति व आदर्श की एक असाधारण महिला हैं। श्रद्धा के हृदय का निर्माण अत्यन्त स्नेह और अगाध कोमलता से हुआ है। वह असाधारण क्षमाशील है, मनु को भीषण अपराध करने पर भी क्षमा करती है, किन्तु इसके साथ ही वह अपनी पृथक् सत्ता भी रखती है, उसे सुन्दर और गंभीर उपदेश देती है।

दया, माया, ममता, लो आज,
मधुरिमा लो अगाध विश्वास।

अथवा

नारी तुम केवल श्रद्धा हो,
विश्वास रजतनग पगतल में।
पीयूष स्रोत सी बहा करो,
जीवन के सुन्दर समतल में॥

तितली उपन्यास में तितली पर्वत सी अटल, सागर सी गंभीर और पृथ्वी सी सहिष्णु है। प्रसाद के शेष उपन्यासों में स्त्रियों का स्तर इतना ऊंचा नहीं रखा गया। वे प्रायः सभी दुर्बल हैं, वे गिरती हैं, पुरुष के अत्याचार का शिकार होती हैं, किन्तु मूक रहकर आत्म-समर्पण कर देती हैं। "वे वय के हिसाब से सदैव शिशु, कर्म में वयस्क और अपनी असहायता में निरीह हैं।" इस प्रकार का चित्र खींचकर नारियों पर होने वाले अत्याचार को प्रकट करना ही प्रसाद का उद्देश्य रहा है।

उर्मिला व यशोधरा

मैथिलीशरण गुप्त ने यशोधरा और साकेत लिखकर काव्य में सर्वथा

उपेक्षित महिमाशील नारियों का सुन्दर चित्रण किया है। वे नारी की उपेक्षित, करुण स्थिति की ओर निर्देश करते हुए कहते हैं—

अबला जीवन हाय ! तुम्हारी यही कहानी।
आंचल में है दूध भरा नयनों में पानी ॥

उनकी ऊर्मिला और यशोधरा दोनों का यही इतिहास है। वे दोनों अपने पतियों द्वारा उपेक्षित हैं, परन्तु समर्पण के भारतीय आदर्श को नहीं छोड़तीं।

प्रिय से स्वयं प्रेम करके ही. हम सब कुछ कर पातीं हैं।
वे सर्वस्व हमारे भी हैं, यही ध्यान में लाती हैं ॥

(पंचवटी)

फिर से शृङ्गार का विषय

छायावाद और रहस्यवाद के युग ने नारी के भारतीय आदर्श का तिरस्कार तो नहीं किया, किन्तु उसे फिर से शृङ्गार का विषय अवश्य बना दिया। शृङ्गारिकता और प्रकृति पर नारी रूप आरोपित कर प्रेम-भावना इस काव्य की एक विशेषता है। छायावादी इस संसार से ऊपर जाकर और सब कुछ भूल गया, वहां नारी की दुर्गति या उसके आदर्शों की ओर से भी उदासीन हो गया। वह प्रकृति के सौन्दर्य की तुलना नारी के सौन्दर्य से करने लगा। नारी के नखशिख या अप्रतिम सौन्दर्य का प्रतीक रूप से वर्णन इसे रीतिकाल की ओर ले जा रहा था कि प्रगतिवाद के रूप में एक जबर्दस्त प्रतिक्रिया हुई। प्रगतिवादी ने नारी को कोमल, मधुर, स्नेहपूर्ण और रसिक रूप में न देखकर दलित, शोषित, परिश्रमी पत्थर तोड़ने वाली नारी या सड़क पर झाड़ू देने वाली पीड़ित नारी के रूप में देखा। कुछ नये उच्छृङ्खल स्वच्छन्द कवियों ने नारी पर उपहास भी किये और फ्रायड से प्रभावित होकर वासना तृप्ति करने वाली के रूप में भी उसे देखा। हास्य रस की कविताओं में उस पर फब्तियां भी उड़ाई गईं, किन्तु ऐसी कविताएं हिन्दी-साहित्य में स्थिर स्थान नहीं बना पाईं। कवि पन्त ने ग्राम्या में नारी की युक्ति का संदेश देते हुए नारी-उर के भीतर एक ओर स्वर्ग और अधरों में सुखकर मादकता देखी, तो दूसरी ओर

नारी के अन्दर नरक के दर्शन किये, क्योंकि वही नव-जीवन का वर भी देती है और वही वासनावर्त में भी डालती है। लेकिन इससे पहले कवि पन्त पल्लव में स्नेहमयी सुन्दरतामयी नारी को हृदय अर्पित करता हुआ कहता है—

"देवि ! मां ! सहचरि ! प्राण !"

महादेवी वर्मा स्वयं नारी हृदय रखती हैं। उन्होंने नारी के जीवन में करुणा और दुःख ही पाया है। वे 'क्या नई मेरी कहानी' में नारी के प्रति पुरुष की चिरंतन उपेक्षा का वर्णन करती हैं।

पिता लड़की को युवती होने पर बिरानी कलिका की भांति दूर कर देता है। पतिगृह में पहले तो अतिथि बना कर उसका स्वागत होता है और कुछ दिन बाद वही सुधा क्षार पानी हो जाती है, यही नारी की अमिट कहानी है।

नारी के प्रति समाज के दृष्टिकोण के परिवर्तन के साथ-साथ साहित्य में भी नारी का रूप बदलता रहा है और आगे भी बदलता रहेगा।

हिन्दी का उज्ज्वल भविष्य

रूपरेखा

१—श्रीगणेशशंकर विद्यार्थी का मधुर स्वप्न—नये संविधान में राजभाषा नागरी राजलिपि।

२—१५० वर्ष तक हिन्दी को संघर्ष—अंग्रेजों व मुसलमानों का हिन्दी विरोध तथापि हिन्दी प्रचार बढ़ता गया—हिन्दी-साहित्य सम्मेलन—गुरुकुल कांगड़ी में उच्च शिक्षा का माध्यम हिन्दी—म० गांधी द्वारा दक्षिण-भारत में हिन्दी प्रचार—हिन्दी-साहित्य में अभिवृद्धि।

३—हिन्दी राजभाषा—उत्तर प्रदेश, पंजाब, राजस्थान, मध्यभारत आदि राज्यों में—केन्द्रीय सरकार का प्रयत्न—'सत्यमेव जयते' का आदर्श—वीरता के हिन्दी पदक—अदालतों में—

४—अपनी योग्यता के बल पर हिन्दी ने स्थान प्राप्त किया है—हिंदी सब प्रान्तीय भाषाओं के निकट—सन्त कवियों सिनेमा व तीर्थों द्वारा हिन्दी का प्रसार।

५—अन्तर्राष्ट्रीय भाषा बनेगी।

मधुर स्वप्न की पूर्ति

आज से एक चौथाई सदी पूर्व स्व० श्री गणेशशंकर विद्यार्थी ने एक स्वप्न लिया था—'वह एक दिन शीघ्र उदय होगा, जब इस देश के प्रतिनिधि अन्तर्राष्ट्रीय संधियों में अन्य स्वतंत्र देशों की तरह अपनी भाषा और अपनी लिपि में हस्ताक्षर किया करेंगे।' जब यह स्वप्न श्री विद्यार्थी ने लिया था, तब उन्हें भी यह ख़याल न होगा कि यह स्वप्न इतनी जल्दी क्रिया में परिणत हो जायगा। १९४७ में भारत के स्वतंत्र होते ही नये संविधान में देश की राजभाषा हिन्दी

और लिपि नागरी घोषित कर दी गई। संविधान का हिन्दी रूपान्तर भी उसके पास होने से पहले बन चुका था। बहुत से नेताओं और सदस्यों ने तो संविधान पर नागरी में हस्ताक्षर किये। यह हिन्दी भारती के उस उज्ज्वल भविष्य की सूचना थी, जो निकट भविष्य में आने वाला है।

संघर्ष के १५० वर्ष

हिन्दी का पिछली डेढ़ शताब्दि का इतिहास संघर्ष और कठिनाइयों से पूर्ण रहा है। अंग्रेज़ सरकार की अंग्रेज़ी को राजभाषा बनाकर हिन्दी की घोर उपेक्षा की नीति ही हिन्दी के मार्ग में बाधक न थी, हम भारतीय स्वयं भी विदेशी वेशभूषा और भाषा के फेर में पड़कर अपनी मातृ भाषा के व्यवहार में अपमान समझने लगे थे। मुसलमानों के साम्प्रदायिक उन्माद के साथ-साथ हिन्दी का विरोध भी बढ़ता जा रहा था। सरकार तो हिन्दी को सहन करने के लिए ही तैयार न थी। स्कूलों में भी हिन्दी शिक्षा का माध्यम न थी, सरकारी दफ्तरों और अदालतों में भी हिन्दी के साथ सौतेली लड़की का सा व्यवहार किया जाता था। उर्दू को राज्य का आश्रय था, हिन्दी को नहीं, ऐसे संघर्ष काल में भी हिन्दी अपने स्वाभाविक गुणों और योग्यता के बल पर बढ़ी। महामना मालवीय जी आदि ने हिन्दी-साहित्य सम्मेलन संस्था को जन्म दिया, श्री म० मुन्शीराम ने गुरुकुल कांगड़ी में उच्चशिक्षण का माध्यम ही हिन्दी कर दिया, आर्यसमाज ने उर्दू के गढ़ पंजाब में हिन्दी-प्रचार का बीड़ा उठा लिया और म० गांधी ने दक्षिण भारत में हिन्दी के प्रचार का। अनेक उत्साही हिन्दीप्रेमी हिन्दी में पत्र निकालने लगे। पुस्तक-प्रकाशन का कार्य शुरू हुआ। कविता, उपन्यास, कहानी और नाटक ही नहीं, अन्य विषयों पर भी हिन्दी में पुस्तकें प्रकाशित होने लगीं। सरकार को भी बाध्य होकर हिन्दी को कहीं-कहीं स्वीकृति देनी पड़ी। राजनैतिक स्वातंत्र्य की भावना के साथ अपने देश की भाषा से प्रेम भी स्वाभाविक था। परिणाम यह हुआ कि जब भारत स्वतंत्र होने लगा, तो हिन्दी का अपने अनेक गुणों के कारण राष्ट्रभाषा होने का दावा प्रायः सर्वसम्मत माना जाने लगा था। उसके स्वरूप और लिपि

के सम्बन्ध में जो थोड़ा बहुत सन्देह था, वह भी संविधान बनते-बनते तक दूर हो चुका था। हिन्दी स्वतंत्र भारत की राजभाषा घोषित कर दी गई।

हिन्दी राजभाषा

हिन्दी के अपने उचित अधिकार पर विदेशी शासन के कारण अंग्रेज़ी का जो पर्वत सम बोझ था, वह अंग्रेज़ों के जाने के बाद बहुत हल्का हो गया (यद्यपि हमारी अपनी मानसिक दासता के कारण वह पूरी तरह दूर नहीं हुआ)। उत्तर प्रदेश, मध्यप्रान्त, बिहार, मध्यभारत और राजस्थान राज्यों ने अपनी प्रादेशिक भाषा हिन्दी को ही स्वीकार कर लिया है। इन प्रदेशों के हाई स्कूलों में हिन्दी ही शिक्षा का माध्यम बन गई है और विश्वविद्यालयों ने भी हिन्दी को माध्यम स्वीकार कर लिया है। हैदराबाद जैसी कट्टर मुस्लिम रियासत में भी हिन्दी स्कूलों में अनिवार्य कर दी गई है, अन्य प्रान्तों में भी इसे अनिवार्य किया गया है। सरकारी नौकरों की भर्ती के लिए हिन्दी ज्ञान अनिवार्य कर दिया गया है। तार तक नागरी लिपि व हिन्दी में जाने लगे हैं। आश्चर्य की बात यह है कि बम्बई सरकार ने अपने प्रान्त में गुजराती की बजाय हिन्दी को अंतःप्रादेशिक भाषा स्वीकार किया है। बम्बई प्रान्त में कन्नड़, गुजराती, मराठी तीनों भाषाएं बोली जाती हैं। तीनों भाषा-भाषा ताल्लुके आपसी कारोबार हिन्दी में ही करेंगे। केन्द्रीय सरकार की भाषा हिन्दी होने वाली है, उसके कर्मचारियों, विद्वानों, विशेषज्ञों और वैज्ञानिकों के लिए हिन्दी-भाषा व नागरी लिपि का ज्ञान अनिवार्य हो जायगा। इसलिए सभी राज्यों के विश्वविद्यालयों में शिक्षा का माध्यम हिन्दी रखना भी अनिवार्य हो जायगा। बंगला, तामिल व मराठी में उच्चशिक्षा प्राप्त अधिकारी अपने प्रान्त से बाहर काम न कर सकेगा। आज की अंग्रेज़ी का स्थान हिन्दी ले लेगी।

संविधान में हिन्दी को स्वीकृत करके ही संतोष नहीं किया गया, सरकार को आदेश दिया गया है कि वह १५ वर्ष तक हिन्दी को पूर्णतः प्रयुक्त कर दे और अहिन्दी-प्रदेशों में हिन्दी-प्रचार की जिम्मेवारी भी उस पर डाल दी गई है। फलतः भारत सरकार ने हिन्दी-परिषद् का संगठन किया है, जो

हिन्दी-प्रचार के साथ-साथ हिन्दी-तार, टाइपराइटिंग, शीघ्र-लिपि आदि के शिक्षण और परीक्षाओं का भी प्रबन्ध करेगी। सेना में भी हिन्दी-शिक्षण अनिवार्य किया जा रहा है।

हिन्दी का प्रवेश

किसी समय भारत-सरकार का आदर्श-वाक्य अंग्रेज़ी या लैटिन में होता था, किन्तु अब तो 'सत्यमेव जयते' है। हमारे राष्ट्र का चिन्ह अशोक का धर्मचक्र है। युद्ध में अद्भुत साहस और वीरता का परिचय देने वाले अब विक्टोरिया क्रास आदि नहीं पाते, उन्हें परमवीर चक्र, महावीरचक्र आदि पदक मिलते हैं, भारत सरकार के प्रमुखतम शासक राष्ट्रपति कहाते हैं और उनका भव्य भवन 'गवर्नमैन्ट हाउस' के स्थान पर राष्ट्रपति भवन कहाता है। गवर्नर, पार्लमेण्ट आदि का स्थान राज्यपाल, संसद् आदि शब्द ले रहे हैं। संसद् में राष्ट्रपति अपना प्रारम्भिक भाषण हिन्दी में देने लगे हैं। बहुत से राज्यों की अदालतों में हिन्दी का प्रवेश शुरू हो चुका है। ऐसी कितनी ही और बातें यहां गिनाई जा सकती हैं। ये सब राष्ट्रभाषा हिन्दी के उज्ज्वल भविष्य के शुभ संकेत हैं।

अपनी योग्यता के बल पर

हिन्दी की यह उन्नति केवल धींगा-धींगी या ज़बर्दस्ती से नहीं की जा रही। हिन्दी में अपनी कुछ योग्यताएं और विशेषताएं ऐसी हैं कि वह इस पद को पा सकी है। भारतवर्ष में बोली जाने वाली भाषाओं में हिन्दी सर्वप्रधान है। बिहार, उत्तरप्रदेश, मध्यप्रदेश, मध्यभारत, राजस्थान संघ, हिमाचलप्रदेश की ही यह भाषा नहीं है, पूर्वी पंजाब में भी इस भाषा का प्रचलन है तथा अन्य प्रान्तों में भी हिन्दी का प्रयोग होता है। सूर, तुलसी, कबीर तथा मीरा के पद केवल हिन्दी प्रान्तों की सम्पत्ति नहीं रहे, वह समस्त देश में फैल गये थे। हरिद्वार, वृन्दावन तथा काशी के तीर्थों ने सब प्रान्तों के दर्शनार्थियों को हिन्दी का कुछ न कुछ ज्ञान करा दिया था। फिर हिन्दी ही एक ऐसी भाषा है, जो अन्य प्रान्तीय भाषाओं से अधिकतम समानता रखती है। मराठी की

लिपि ही देवनागरी है। बंगला, गुजराती आदि की वर्णमाला नागरी है। थोड़े बहुत प्रयत्न से गुजराती समझी जा सकती है। बंगला, तथा दक्षिण भारत की भाषाओं का उद्गम स्रोत संस्कृत है, वही हिन्दी का भी है, इसलिए तत्सम शब्द ही नहीं, तद्भव शब्दों में भी एक प्रकार की समानता है। अन्य किसी प्रान्तीय भाषा भाषियों की संख्या भी हिन्दी भाषियों से बहुत कम है। संस्कृत के रूप में अत्यन्त तथा विशाल स्रोत उसे प्राप्त है, जिससे प्रत्येक समय प्रत्येक आवश्यकता पूर्ण की जा सकती है।

उज्ज्वल भविष्य

हिन्दी का भविष्य इतना उज्ज्वल है कि वह केवल इस देश की राष्ट्रभाषा न रहकर अन्तर्राष्ट्रीय भाषा बन जायगी। संसार में जिन भाषाओं के बोलने वाले हिन्दी भाषियों से भी अधिक हैं, वे हैं केवल दो भाषाएं—अंग्रेज़ी और चीनी। अंग्रेज़ी इंग्लैण्ड, अमेरिका तथा आस्ट्रेलिया की भाषा है। चीन के निवासी ४० करोड़ हैं और चीनी बोलते हैं। इसके बाद हिन्दी का स्थान आता है। इसके बोलने वाले १६ करोड़ हैं और यदि म० गांधी के अनुसार हिन्दी के उर्दू रूप को भी हिन्दी मान लिया जाय, तो यह संख्या २२-२३ करोड़ तक पहुँच जाती है। संसार की अन्य कोई चौथी भाषा ऐसी नहीं है, जो हिन्दी की समानता संख्या की दृष्टि से कर सके। इसलिए यह निश्चित है कि अन्तर्राष्ट्रीय जगत् में रूसी और फ्रांसीसी से अधिक सम्मान हिन्दी पा सकती है। इसका एक और भी कारण है। बरमा, लंका इण्डोनीशिया, स्याम और हिन्दचीन की भाषाएं भी संस्कृतनिष्ठ हैं। लंका में सारे वैज्ञानिक शब्द संस्कृत से निर्माण किये जाते हैं—तूर्य भाएड्य – पियानो, रथचक्र-बाइसिकल, यंत्रकार—इंजिनीयर। स्याम के दो तीन शब्द देखिये—कदाचार, कनिष्ठ भगिनी, कर्म जल प्रदान (सिंचाई विभाग) इण्डोनीशिया में कर्मकार परिषद् (डायरैक्टर पूछना पड़ेगा), उपराज (वायसराय), उपचक्षु (चश्मा) आदि सैकड़ों संस्कृ शब्द प्रचलित हैं। इसलिए यह बहुत संभव है कि दक्षिणी पूर्वी एशियायी देश भारत की हिन्दी को पारस्परिक अन्तर्राष्ट्रीय व्यवहार के रूप में

स्वीकार कर लें। तब हिन्दी भाषा का गौरव और भी अधिक बढ़ जायगा।

परन्तु हिन्दी-भाषा के इस गौरवमय उज्ज्वल भविष्य का स्वप्न लेने से ही हमारे कर्तव्य की इतिश्री नहीं हो जाती। यह महान् गौरवमय भविष्य देखकर हम हिन्दी प्रेमियों का कर्तव्य और उत्तरदायित्व और भी अधिक बढ़ जाता है। हमें स्वयं घोर परिश्रम करना होगा, ताकि हिन्दी-साहित्य इतना उन्नत और गौरवपूर्ण हो जाय कि वह विश्व की किसी भाषा के साहित्य से टक्कर ले सके। साहित्य और धर्म ही नहीं, विज्ञान, राजनीति व अर्थशास्त्र की विभिन्न शाखाओं में भी हिन्दी में उत्कृष्ट ग्रन्थ सुलभ होने चाहिएं। इस दिशा में दूसरा कार्य यह है कि आज भी हमारे शासकों, नेताओं और विद्वानों में अंग्रेज़ी का जो मोह पिछले संस्कारों के कारण बचा है, उसे समाप्त कर दें और १५ की जगह ५ वर्षों में ही हिन्दी को राष्ट्रभाषा के अपने पद पर आसीन करने में लग जावें।

कुछ महत्त्वपूर्ण निबंधों
की रूपरेखा

पुस्तक का कलेवर बढ़ जाने के भय से हिन्दी साहित्य के सभी महत्त्वपूर्ण विषयों पर विस्तृत निबन्ध देना संभव नहीं है, किन्तु कुछ महत्त्वपूर्ण निबन्धों की रूपरेखा यहां दी जाती है। इन रेखाओं में ऐसे आवश्यक उपयोगी संकेत दे दिये गए हैं, जिनकी सहायता से विद्यार्थी निबन्ध लिखने में कठिनता अनुभव न करेंगे।

हिन्दी में वीर काव्य

हिन्दी-साहित्य के शैशवकाल में वीर काव्य का जन्म राजपूत राजाओं में परस्पर विरोध तथा ईर्ष्या के कारण निरन्तर संघर्ष वीररस के उद्रेक का कारण—पृथ्वीराज रासो, आल्हाखण्ड, तथा चारणों के डिंगल काव्य—खुमान रासो, वीसलदेव रासो, परमार रासो, आदि—यह वीर काव्य राजपूत युग की देन—वीरता के प्रदर्शन, व्यक्तिगत मानापमान तथा विवाह आदि के लिए।

वीरकाव्य की विशेषताएं—आश्रयदाताओं की प्रशंसा, वीर रस के साथ शृंगार रस का पुट, युद्धों का सजीव वर्णन, इतिहास की अपेक्षा काव्य की अधिक मात्रा। भाषा का परिष्कार कम—

भक्ति-काल में वीरता का रूप सार्वजनिक—रावण से युद्ध पाप से युद्ध—तुलसी ने युद्धों का सजीव वर्णन—

रीति-काल में भूषण वीर रस के प्रसिद्ध कवि—हिन्दू-गौरव की भावना वीर-काव्य का प्रमुख कारण—लाल, सूदन और जोधराज के काव्यों में भी

भारतेन्दु-काल में देश-भक्ति और अतीत गौरव के भाव में वृद्धि और इसीलिए प्रताप शिवाजी संबंधी कविताएं—भारतगीत, भारतभारती, वीरसतसई–

पथिक, हुंकार आदि देश-भक्ति के निरंतर काव्य—गांधीजी के कारण वीरता का रूप बलिदान ने ले लिया—गुप्त, माखनलाल चतुर्वेदी, नवीन के काव्यों में से कुछ उदाहरण—

प्रगतिवाद का भी प्रभाव—प्रलय और सर्वनाश करके नये संसार व समाज की इच्छा—शोषकों और अत्याचारियों के विरुद्ध विद्रोह व क्रान्ति के वीरभाव—

देव और बिहारी

देव और बिहारी की तुलना पर अनेक ग्रन्थ-दोनों में कौन श्रेष्ठ, इस पर मत भेद

दोनों रीतिकाल के प्रधान कवि-दोनों का मुख्य विषय श्रृंगार—दोनों ने ब्रज भाषा अपनाई-दोनों न मुक्तक छन्द लिखे—

परन्तु भेद भी—देव ने संयोग श्रृंगार को अपनाया, बिहारी ने वियोग श्रृंगार का

देव ने आभूषणों को प्रधानता दी है, बिहारी ने शरीर सौन्दर्य को।

देव ने शुद्ध प्रेम का सुन्दर वर्णन किया, बिहारी ने प्रेम की तल्लीनता का वर्णन किया है।

प्रकृति पर्यवेक्षण, कल्पना की उड़ान तथा विचार की सूक्ष्मता में बिहारी देव से अधिक ऊंचे हैं।

बिहारी की सूक्ष्म दृष्टि अधिक थी, देव ने इस कमी को आचार्यत्व और काव्यांगों के वर्णन से पूर्ण किया है। आचार्यत्व में देव बिहारी ही नहीं, मतिराम और केशव से भी ऊंचे—

अलंकार विधान में दोनों ऊंचे हैं। देव उपमा और स्वभावोक्ति में तथा बिहारी अन्युक्तियों के चमत्कार में शब्दों के श्लेष से उसने लाभ उठाया है।

दोनों कवियों का भाषा पर पूर्ण अधिकार—बिहारी कहीं कहीं शब्दों को शुद्ध नहीं रख सके—देव से बिहारी के पदों में अनुप्रास व यमक का अधिक चमत्कार व सुमधुर संगीत—बिहारी में भाव अधिक शब्द कम—

देव ने घनाक्षरी और सवैये छन्द चुने हैं, बिहारी ने दोहा। देव ने २७ ग्रन्थ लिखे, विहारी ने केवल एक सतसई, किन्तु उसी एक के कारण वे प्रमुखतम कवियों में—सतसई पर सब से अधिक टीकाएं।

बिहारी ने सतसई लिखकर हिन्दी में सतसइयों की शृंखला आरंभ कर दी—कई सतसइयां लिखी गईं—सब पर बिहारी का प्रभाव—६०० दोहे शृंगार के—सुन्दर शब्द चयन, मधुर शब्दयोजना, अत्यधिक मार्मिकता—हर एक दोहा स्वतंत्र काव्य—अनेकार्थ, विविध रस, कई अलंकार—बिहारी की प्रतिभा के उदाहरण—"*सतसइया के दोहरे* ...."

बिहारी के दोहों में गागर में सागर—

देव ने रस, अलंकार, नायक-नायिका भेद आदि पर सुन्दर रचना— राग रागिनियों और पिंगल पर भी— काव्य रसायन से उनका आचार्यत्व— भावों की उड़ान, चमत्कार भाषा में आर्द्रता-वेग

एक लेखक के शब्दों में—देव केशव की भांति आचार्य और बिहारी की भांति कवि

"बिहारी की कविता यदि जूही या चमेली का फूल है, तो देव की कविता गुलाब, या कमल कुसुम है। दोनों में सुवास है, भिन्न भिन्न लोग भिन्न भिन्न सुगन्ध के प्रेमी हैं।" —कृष्ण बिहारी मिश्र

नोट :—साधारणतः तुलनात्मक निबंधों के लिखते समय यह ध्यान रखना चाहिए कि ऐसी तुलना प्रायः समकक्ष कलाकारों में ही की जाती है। इसलिए किसी एक को बिल्कुल गिरा देना और किसी को एक दम ऊंचा उठा देना अनुचित है। दोनों के गुण लिखकर उनमें अपेक्षाकृत तुलना करनी चाहिए।

श्री मैथिलीशरण गुप्त

खड़ीबोली में कविता के प्रथम प्रमुख लेखक—महावीरप्रसाद द्विवेदी के शिष्य—श्रीधर पाठक, हरिऔध जी खड़ीबोली के कवि थे, किन्तु खड़ी-बोली पर अविभक्त निष्ठा गुप्त जी की थी। भारतभारती, जयद्रथवध आदि लिखकर गुप्त जी ने खड़ी बोली को कविता की प्रचलित भाषा बना दिया।

गुप्तजी द्विवेदी युग की इतिवृत्तात्मकता व उपदेशात्मकता को लेकर चले, किन्तु समय के साथ उनकी कविता तथा भाषा दोनों में परिष्कार तथा कला का विकास होता गया—भारत-भारती से पंचवटी—फिर यशोधरा और साकेत।

प्रेमचन्द ने गद्य में लिखकर राष्ट्र की समस्याओं पर जनता को विचार सामग्री दी, गुप्तजी ने काव्य लिखकर—भारत-भारती राष्ट्र की प्रेरणा का प्रमाण—देश की दशा देखकर दुःख।

गुप्तजी अतीत को प्रेम करते हैं—भारतीय संस्कृति व इतिहास में रुचि—अतीत के विविध युगों के प्रतीक विविध काव्य। रामायण—साकेत, महाभारत—जयद्रथवध, सैरन्ध्री, द्वापर आदि, पौराणिकता—चन्द्रहास, तिलोत्तमा, शकुन्तला; मध्यकालीन संस्कृति—यशोधरा, अनघ, कुणाल गीत; सिख तथा राजपूत संस्कृति—रंग में भंग, गुरुकुल, सिद्धराज आदि। वर्तमान, राष्ट्रीय युग—भारतभारती, किसान व विश्ववेदना; मुस्लिम संस्कृति—काबा व कर्बला, अर्जन व विसर्जन। राम के प्रति अनन्य भक्ति और हिन्दू भावना के दर्शन उनके काव्य में बराबर होते हैं, यद्यपि काबा और कर्बला लिखकर मुसलमानों के भी प्रियपात्र बनने का प्रयत्न किया है।

मैथिलीशरण गुप्त द्विवेदी युग को वर्तमान से जोड़ने वाले प्रमुख कवि—कला को कला के लिए नहीं मानते,

मानते हैं जो कला के अर्थ ही स्वार्थिनी करते कला का व्यर्थ ही।

× × ×

केवल मनोरंजन न कवि का कर्म होना चाहिए।
उसमें उचित उपदेश का भी मर्म होना चाहिए।।

उनका समस्त काव्य इसी आदर्श को सामने रखकर लिखा गया है। फिर भी कला की उपेक्षा नहीं—कला का क्रमशः विकास—अनुभूति और संवेदना के कुछ उदाहरण—यशोधरा और उर्मिला का विरह वर्णन—मन्थरा, केकैयी और यशोधरा के मनोवैज्ञानिक वर्णन हृदय स्पर्शी हैं—'भरत से सुत पर भी सन्देह' कैकेयी के हृदय में बैठ जाती है। यशोधरा का 'सखि वे मुझे कहकर जाते' कम मर्म भेदी नहीं। नारी जीवन का त्यागमय जीवन—'*आंचल में है दूध और आखों में पानी,*' प्रकृति वर्णन में उत्कृष्टता—

श्री गुलाबराय की सम्मति में गुप्तजी प्राचीन सभ्यता के वैतालिक, नवीन सभ्यता के अग्रदूत अथवा प्राचीनता और नवीनता के स्रोत।

रामचन्द्र शुक्ल की सम्मति में गुप्तजी सामंजस्यवादी कवि, प्रतिक्रिया प्रदर्शन करने वाले अथवा भेद में झूमने वाले कवि नहीं।

सब प्रकार की उच्चता से प्रभावित होने वाला हृदय उन्हें प्राप्त है। प्राचीन के प्रति पूज्य भाव और नवीन के प्रति उत्साह दोनों उन में हैं।

(देखिए गुप्तजी के दो काव्य)

गुप्त जी के दो काव्य

(साकेत और यशोधरा)

युग के साथ-साथ गुप्त जी का विकास, भारत-भारती में राष्ट्रीयता किन्तु वीरता का आदर्श पुरातन ही है—जयद्रथवध, किसान, स्वदेश संगीत, गुरुकुल आदि द्वारा विविध काल की विविध मांगों को पूरी करते हुए साकेत तक—साकेत में प्रगति-शीलता का पूर्ण विकास, गांधी युग की भावनाओं का विकास—साकेत की देश-भक्ति गांधीजी की तरह धार्मिक—अनियमित राजतंत्र का विरोध—राम-राज्य का आदर्श—

कथा में कोई नवीनता नही, रवीन्द्र के सुझाव पर उपेक्षित उर्मिला

की कथा—उर्मिला की निवास भूमि अयोध्या के नाम पर साकेत नाम—रामचन्द्र के राज्याभिषेक से कथा का प्रारंभ—रामायण की सारी कथा के साकेत में ही दर्शन—समस्त क्रियाओं का केन्द्र अयोध्या या साकेत—इसी कारण पुरानी कथा भी नये रूप में आ गई है—

समस्त घटनाओं का केन्द्र अयोध्या होने से प्रबंध-काव्य में कुछ शिथिलता—गीतात्मक शैली की प्रधानता—उर्मिला का विरह स्वयं एक पृथक् काव्य—

साकेत रामायण से भिन्न—अवतार होने पर भी राम मनुष्य—उर्मिला के विरहोद्गार भी मानवीय हैं—पात्र भी अलौकिक नहीं, कैकेयी और मन्थरा का चरित्र-चित्रण तुलसीदास से भी उत्कृष्ट और अधिक मनोवैज्ञानिक—राम-सीता का निर्वाह भी आधुनिक है—देश-भक्ति का स्वर जो तुलसी में बिलकुल लुप्त—ऊर्मिला का प्रधान चित्र—स्वाभाविक आकर्षक चित्रण—विरह वर्णन अत्यन्त उत्कृष्ट—

साकेत में खड़ीबोली का भाषा-सौन्दर्य, अत्यन्त प्रांजल रूप में—अलंकारों का सुन्दर प्रयोग—साकेत कवि की अमर साधना का सार, प्रकृति चित्रण सुन्दर, भाषा और नवों रसों पर अधिकार।

यशोधरा—साकेत की उर्मिला की भांति बुद्ध की विरहिणी पत्नी यशोधरा इस काव्य की प्रधान नायिका—यशोधरा के चित्रण में स्वाभाविकता तेजस्विता—स्त्री सुलभ दर्द—बुद्ध के नगर में आने पर भी स्वयं मिलने न जाना – परन्तु पति के प्रति विरोध भाव नहीं श्रद्धा के भाव हैं—मातृत्व तथा पत्नीत्व में समन्वय और संघर्ष दोनों—आन्तरिक संघर्ष व सुन्दर चित्रण—संयोग की अपेक्षा अनन्य वियोग ही काव्य का प्रमुख विषय—यशोधरा घटना प्रधान नहीं, भाव प्रधान है। काव्य वर्णन स्वाभाविक और सरस—

नाटकीय ढंग पर यशोधरा की रचना

युगान्तरकारी पन्त की प्रगति

द्विवेदी और मैथिलीशरण ने आधुनिक युग के अनुरूप कविता को भाषा तो दी थी, किन्तु काव्य के कोमल शिशु प्राणों में स्पन्दन की कमी रही—इस कमी की पूर्ति पन्त ने की। छायावाद का प्राकृतिक सौन्दर्य, हृदय की कोमलता और संवेदनाशील अनुभूति तथा कलापक्ष सभी कुछ पन्त ने हिन्दी को दिया।

पल्लविनी में पन्त मुख्यतः प्रकृति का कवि–रात का कवि, सूर्य का प्रकाश नहीं, चान्दनी की शुभ्र आलोक, अन्धकार की प्रगाढ़ कालिमा और स्वप्नों का धुन्धलापन। प्रकृति-चित्रण में उल्लास, आनन्द और विस्मय तथा अनुभूति पल्लविनी में पन्त ने नवीन भाषा, नवीन संगीतमयता, नवीन रूपरेखा और नवीन कला प्रदान की है। कभी-कभी पन्त की भाषा संस्कृत भार से दब जाती है, किन्तु शब्दावली की दीनता कभी स्वीकार नहीं करती। पल्लविनी में इस संघर्षमय संसार के प्रति उपेक्षा व गहरे विषाद की झलक भी है।

समय बदला—छायावाद को स्वयं क्षयरोग ने आ घेरा, वह समय और देश से बहुत दूर जा पड़ा, पन्त ने भी अपने को बदला युगान्त में 'बापू के प्रति' कविता से छायावादी युग के अन्त की सूचना कवि ने दी। प्रकृति के अभिनव रूप—विलास को छोड़कर मानवी समस्याओं की चिन्ता का श्रीगणेश इस कविता ने कर दिया। तब आई क्रमशः युगवाणी और ग्राम्या।

युगवाणी नवीन दिशा में सफल प्रयास। 'युग के गद्य को पन्त ने वाणी' दी। कवि की दार्शनिकता कला की प्रधानता को पीछे छोड़ रही थी। 'गुंजन' में इस चिन्तन के दर्शन होने लगे थे, जिसमें उसमें सुख-दुःख दोनों को देखता था, परन्तु आशावाद को नहीं छोड़ता था। युगान्त सेवा-भाव के द्वारा जीवन को सार्थक करना चाहता था, परन्तु युगवाणी में चिन्तन अधिक गम्भीर हो गया। बुद्धिवादी दृष्टिकोण के कारण युगवाणी की कविताएं अधिक संयमशील और ठण्डी हैं, किन्तु गति का प्रवाह रुका नहीं–" खुल गये छन्द के

नन्ध, प्रास के रजत पाश, अब गीत मुक्त, और युगवाणी बहती अयास"—अब कवि प्रकृति के विराट् सौन्दर्य को छोड़कर इस धरातल पर उतरा और उसे संसार की कुरूपता—पीले पत्ते, टूटी टहनी, छिलके, कंकर-पत्थर, कूड़ा-करकट सब कुछ भूपर लगते सार्थक सुन्दर लगता है। इसका अर्थ है कि पन्त आदर्श से यथार्थ की ओर, आध्यात्मिक रहस्य से भौतिकता की ओर आ रहा था। मार्क्सवाद का प्रभाव कवि पर लगातार पड़ रहा था—मार्क्स के प्रति, साम्राज्यवाद, समाजवाद, गांधीवाद आदि कविताएं इसी का परिणाम है। कला पीछे चली गई, मार्क्स का कठोर प्रचार सामने आ गया।

ग्राम्या द्वारा कवि ने विकास की ओर नया कदम रखा। भारत ग्रामों में वास करता है। शहरों के पुतलीघरों या उनके मजदूरों की कोठरियों में नहीं। युगवाणी में कला क्षीण हो गई थी, अनुभूति को, मस्तिष्क ने अभिभूत कर दिया था। ग्राम्या में कवि ने दर्शन, भावना और कल्पना का संगीत के साथ समन्वय किया। यथार्थ के साथ कला ने मिलकर कवि के अपने स्वरूप को प्रकट किया। संस्कृतनिष्ठ कृत्रिम भाषा नगरों की वस्तु है। ग्रामों का वर्णन करते हुए भाषा भी सरल और हलकी हो गई। पहले वे सोना, चांदी, मरकत आदि से उपमाएं देते थे, अब उपमाएं बदलीं। ग्राम्या में अभिनव प्रकृति विलास, जीवन मेले का रेखाचित्र है और संगीत में चंचलता, उल्लास और माधुरी। ग्राम-देवता, संध्या के बाद, खिड़की से आदि उत्कृष्ट कविताएं।

किन्तु कठोर नास्तिकतापूर्ण मार्क्सवाद पन्त जैसे कोमल प्राण व्यक्ति को परितोष नहीं दे सका, चिरंतन अध्यात्म सत्य की ओर मुड़ा—उसे सामाजिक जीवन से कहीं महत् अन्तर्मन प्रतीत हुआ और 'स्वर्णधूलि' व 'स्वर्णकिरण' का प्रादुर्भाव हुआ। भौतिकता का तिरस्कार नहीं, परिष्कार पन्त को प्रिय है। तीन चार वर्ष तक रोगी रहने, मृत्यु का प्रायः साक्षात् करने के बाद कवि अध्यात्म चिन्ता की ओर स्वभावतः प्रवृत्त हुआ। जीवन और जगत्, विकर्षण आकर्षण, सभी में वह समन्वय देखना चाहता है, बहिश्चेतना जागृत है, अन्तर्मानव निद्रित है, यह उसे पसन्द नहीं। वह भूपर विश्वसंस्कृति प्रतिष्ठित

करना चाहता है। स्वर्णधूलि में वैदिक ऋचाओं का भव्य अनुवाद है। "*श्रवण गान में गूंज रहे स्वर, ओं क्रतो स्मर, कृतं क्रतो स्मर।*"

अभी पन्त और क्या कुछ देगा, कौन जानता है ?

"पन्तजी सुन्दरं के ही कवि है—यद्यपि वह शिवं और सत्यं से शून्य नहीं हैं। सौन्दर्य—प्राकृतिक, मानसिक और आत्मिक सौन्दर्य ही इनकी कविता का असली विषय है। उसमें ये सुमन-चयन-प्रवृत्ति सबसे मुख्य हैं।"

—नगेन्द्र

प्रसाद की चतुर्मुखी प्रतिभा

१. रवीन्द्र की भांति ये सर्वतोमुखी प्रतिभाशाली साहित्यकार प्रसाद—कवि, कहानीकार, उपन्यासकार और नाटककार तथा विवेचक—युगप्रवर्तक कवि, साहित्यस्रष्टा, असाधारण समीक्षक और दार्शनिक तथा अध्ययनशील ऐतिहासिक—

२. कवि प्रसाद—काव्य प्रतिभा का क्रमशः परन्तु तीव्रगति से विकास—झरना में प्रारम्भिक कविताएं—आंसू, शुद्ध विप्रलंभ का कलापूर्णकाव्य, जिसमें आंसू के माध्यम से कवि की वेदना प्रकट की गई है, श्रृङ्गार और प्रेम, परन्तु अन्त में वह भौतिक से आध्यात्मिक रूप लेता गया—लहर, संगीत और कल्पना का सम्मिश्रण, प्रेम की भावना आध्यात्मिकता की ओर, प्रकृति के सुन्दर चित्र—कामायनी, हिन्दी और विश्वसाहित्य को प्रसाद की अमर देन—अत्यन्त हृदयग्राही कथानक, महाकाव्य के सभी गुणों से युक्त, एक महान् रूपकमय आख्यान—प्रसाद का कीर्तिस्तंभ कामायनी।

३. प्रसाद रहस्यवाद का प्रमुख कवि—प्रसाद, पन्त, निराला की त्रिमूर्ति में एक, रहस्यवाद को प्रसाद की असाधारण देन—प्रेम और सौन्दर्य कवि प्रसाद का मुख्य विषय, किन्तु प्रेम लौकिकता से अलौकिकता की ओर—प्रेम

में विरह की करुणा—प्रकृति प्रेम के साथ मिल कर ईश्वरोन्मुख, प्रेम की रहस्यवाद में परिणति—भाषा पर पूर्ण अधिकार—काव्य प्रतिभा व कला के पूर्ण दर्शन अलंकारों व रहस्यवादी प्रतीकों का पूर्ण प्रयोग।

(रहस्यवाद(पृष्ठ ५४) और छायावाद (पृष्ठ ४६) के लेख भी देखिये)

४. नाटककार प्रसाद - अध्ययनशील प्रवृत्ति और पुरातत्व प्रेम के कारण नाटकों के सब कथानक बौद्धकालीन इतिहास से—प्राचीन भारतीय संस्कृति का गौरव, देशप्रेम, उच्च नारी चरित्र, यथार्थ पर आदर्श की विजय, मानसिक संघर्ष प्रेम और त्याग का निदेश प्रसाद के नाटकों का विषय—अजातशत्रु, चन्द्रगुप्त और स्कन्दगुप्त तीनों मिलकर बौद्धकालीन संस्कृति का क्रमबद्ध इतिहास उपस्थित करते हैं—राज्यश्री ध्रुवस्वामिनी, जनमेजय अन्य भी ऐतिहासिक नाटक किन्तु कामना, एक घूंट और विशाख काल्पनिक नाटक—नाटकों में कुछ त्रुटियां भी-अधिक लम्बा होना, पात्रों की अधिकता, भाषा की कठिनता नाटकीयता पर काव्यत्व का प्रभाव—भाषा, भाव और शैली का वैचित्र्य प्रसाद की विशेषता।

५. उपन्यासकार प्रसाद - कंकाल और तितली—यथार्थवाद की कुछ अधिक मात्रा—मानव जीवन का मनोवैज्ञानिक अध्ययन—कंकाल के पात्र दार्शनिक।

६. निबंधकार प्रसाद—गंभीर अध्ययन और प्रौढ़ विचार—काव्य और कला तथा चित्रकार नामक दो निबंध संग्रह—परन्तु प्रसाद में 'प्रसाद' गुण की कमी।

७. आकाशदीप और पुरस्कार आदि कहानियों में अन्तर्द्वन्द्व।

८. प्रसाद की बहुमुखी प्रतिभा—हिन्दी-साहित्य को थोड़ी ही आयु में सरस्वती का यह वरद पुत्र बहुत कुछ दे गया।

कामायनी

१. प्रसाद की सर्वश्रेष्ठ कृति—एक सफल महाकाव्य सर्वतोमुखी प्रतिभा के दर्शन—नीति और प्रबन्ध काव्य का अद्भुत सम्मिश्रण।

२. कामायनी की कथा वैदिक उपाख्यान से—जल प्लावन की कथा प्रायः सभी धर्म ग्रंथों में—मानव की प्राचीनतम कथा। कल्पना से प्राण भर दिया गया है।

३. कथा का सार—महाप्रलय से बचे देवयुग के अकेले मनु का श्रद्धा से परिचय—कामायनी मानवता की मूर्ति—शुद्ध कामायनी के मातृत्व या शिशु-पालन से मनु में ईर्ष्या और भाग जाना—सारस्वत प्रदेश में इडा से भेंट - शासन कार्य में उसे सहायता—इडा पर बलात्कार की चेष्टा--प्रजा का विद्रोह और मनु का घायल होना—श्रद्धा को स्वप्न में मनु की दुर्गति का ज्ञान तथा ढूंढ कर उसकी शुश्रूषा - लज्जा और ग्लानि से मनु का फिर भागना - दुखी इडा को श्रद्धा से अपना पुत्र सौंप कर मनु की तलाश में मनु से एक घाटी में भेंट—श्रद्धा का नेतृत्व—संसार के विविध रूप देखने के बाद कैलाश पर पहुंचना—विराट् नृत्य का दर्शन जीवन के सब रहस्यों का आनन्द में विलय—प्रारम्भ में कथा की शिथिल प्रगति, उत्तरार्ध-कथा की गति तीव्र हो गई है—छन्द परिवर्तन आदि से कथा नीरस नहीं हुई।

४. मानव जीवन की सब भावनाओं का क्रमिक विकास। चिन्ता, आशा, श्रद्धा, काम, वासना, लज्जा, कर्म, ईर्ष्या आदि एक प्रकार का रूपक—श्रद्धा और मनन के सहयोग से मानवता का विकास—बुद्धि के सहयोग से नवीन सुखमार्ग की खोज--फिर जिज्ञासा और अन्त में आध्यात्मिक शान्ति इच्छा, ज्ञान और कर्म के समन्वय का संदेश—ज्ञान व भक्ति, वैष्णव व शैव मतों का समन्वय।

कामायनी में तीन चरित्र—मनु के चरित्र में भारी हलचल.. पौरुष का दम्भ, किन्तु विवेक की कमी, अहंभाव, ईर्ष्या, श्रद्धा का चित्रण अनुभूतिमय—

श्रद्धा, कर्तव्य, बलिदान का मूर्तरूप नमता व कोमलता पशुओं तक विस्तृत, क्षमा व आत्मसमर्पण—नारी का उत्कृष्ट चित्र—इडा द्वारा मनु को बुद्धिवाद की ओर प्रेरणा, कठिनता, आज के युग की नारी।

प्रकृति कथा के पृष्ठभाग में निरन्तर उपस्थित रही है—वस्तुतः कथानक का चतुर्थ पात्र प्रकृति है—पात्रों की मनःस्थितियों के अनुसार प्रकृति में भी वसन्त, उषा अथवा प्रलय के चीत्कार—प्रकृति का अद्‌भुत वर्णन—प्रकृति के पांचों तत्त्वों का संघर्ष—संयोग और वियोग श्रृङ्गार का वर्णन।

भाषा सरल, प्रवाहमयी, कोमल, किन्तु कहीं-कहीं क्लिष्ट कल्पना, प्रसाद की कमी, किन्तु प्रवाह की निरन्तरता, गीति काव्यों के उपयुक्त भाषा—सुन्दर शब्दचित्र, अलंकारों की बहुलता, नयी उपमाएं व श्रृङ्गार व शान्त रस-प्रधान – वासना सर्ग में श्रृङ्गार का सुन्दर चित्रण।

प्रेमचन्द और उनका गोदान

प्रेमचन्द हिन्दी उपन्यास क्षेत्र में युगान्तरकारी नेता—विषय, भाव, चरित्र-चित्रण, सभी में क्रान्ति—मानव जीवन की व्याख्या और विस्मृत समाज का चित्रण तथा विषम समस्याओं का समाधान प्रेमचन्द की कृतियों में—श्रृङ्गार तिलिस्मी अथवा कुतूहल प्रधान घटना—चक्र से ऊपर उठकर प्रेमचन्द की विशाल दृष्टि समाज के सब अंगों पर गई वेश्या, विधवा, पीड़ित, दलित आदि सामाजिक प्रथाएं, जमींदार—किसान, मिल मालिक-मजदूर आदि आर्थिक प्रश्न, राष्ट्रीय स्वातंत्र्य आदि राजनैतिक समस्याएं, सभी कुछ प्रेमचन्द का क्षेत्र—वे युग के प्रतिनिधि थे, नेता थे, मार्गदर्शक थे – युग की मूक वेदना को उन्होंने शब्दचित्र देकर रेडियो की भांति झोंपड़ियों से महलों तक प्रसार—मानवता के कवि—उनके उपन्यास सामाजिक संघर्षों के चित्रों का विचित्र और आवरणहीन एलबम।

प्रगतिशील-लेखक संघ के प्रवर्तक होते हुए भी मार्क्स की अपेक्षा गांधी का प्रभाव उन पर बहुत अधिक—गांधीवादी भारतीय आदर्शों की स्थापना पर बल।

'कला कला के लिए' का सिद्धान्त उन्हें मान्य नहीं था। वे जीवन के लिए कला को स्वीकार करते थे—यथार्थवाद और आदर्शवाद का सुन्दर समन्वय उनकी रचनाओं में—पर कहीं-कहीं आदर्शवादी उपदेशक की वृत्ति अधिक गहरी हो गई है। *कलापक्ष—उपन्यासों में मनोवैज्ञानिक चित्रण प्रेमचन्द की देन*—प्रायः सभी उपन्यासों में प्रधान पात्रों का चरित्र निम्न से उच्च की ओर विकसित हुआ है।

भाषा सरल, प्रवाहमयी, मुहावरेदार, आडम्बर-शून्य परन्तु गौरवपूर्ण—पात्रानुकूल भाषा—सजीव कथोपकथन—सूक्तियों की भरमार।

ग्रामीण जीवन का सजीव चित्रण सबसे बड़ी विशेषता—किन्तु नागरिक जीवन का भी सूक्ष्म निरीक्षण कम नहीं है।

सेवा सदन, वरदान, प्रेमाश्रम, रंगभूमि, निर्मला, प्रतिज्ञा, कर्मभूमि, गबन, कायाकल्प और गोदान आदि उपन्यास तथा दो नाटक और सैकड़ों कहानियां।

गोदान

प्रेमचन्द की अन्तिम, परन्तु सर्वश्रेष्ठ कृति--भावपक्ष के साथ साथ कलापक्ष भी उत्कृष्ट—भाषा अधिक सरस।

कथा—दो कथाएं एक साथ ग्राम्य और शहरी जीवन की कहानियां, परन्तु बाद में जाकर आपस में एक दूसरे से मिल जाती हैं, यद्यपि शहरी जीवन की कहानी पृथक् हो सकती है—कथावस्तु में पूरी गति—जीवन के सुख दुःखमय चित्र—ग्रामीण और शहरी जीवन की तुलना—ग्राम में भोलापन, धर्म-भीरुता व दुःख और नगर में विलास और पाप तथा आडम्बर—भारतीय जीवन का दर्पण गोदान है। पात्र—चरित्र का सुन्दर विकास, परस्पर

विरोधी तत्वों से वह और भी अधिक खिल उठा—मालती और देहाती लड़की, तंखा और मेहता, देहाती व शहरी समाज, पूंजीपति और जमींदार तथा सम्पादक—सबके ऊपर धर्मभीरु किन्तु अन्तिम क्षण तक कर्मशील किसान होरी, परिस्थितियों के कठोर आघात खाकर भी कर्मशील निर्धन किन्तु स्वाभिमानी, अशिक्षित और आहत होकर भी आत्मनिष्ठ और सहृदय—होरी यदि किसानों में आदर्श है तो मालती नवशिक्षित कुमारियों में, गोविन्दी गृहस्थ स्त्रियों में और धनिया ग्रामीण स्त्रियों में—इन सब की समष्टि में ही प्रेमचन्द का पूर्ण आदर्श—मेहता उसी आदर्श के समर्थक—सभी पात्र सजीव और व्यक्तित्वपूर्ण—मानव प्रकृति का अद्भुत ज्ञान।

प्रेमचन्द की कला भी आदर्श के लिए—गोदान में अनेक समस्याओं पर प्रकाश—किसानों की गरीबी, जमींदारों द्वारा शोषण, किसानों के आन्तरिक दोष, गृहकलह, सदाचार, सामाजिक कुप्रथाएं, शहरी जीवन की कृत्रिमता व सारशून्यता, मिलों के मजदूर, नवशिक्षित रमणियों का थोथा जागरण और नारी का सच्चा आदर्श, लोकतंत्र का दम्भ।

कथोपकथन सजीव, भाषा पर पूर्ण अधिकार—वस्तुतः गोदान हिन्दी-साहित्य की एक गौरवपूर्ण विभूति।

कुछ उद्धरण

मुन्शी प्रेमचन्द और उनकी कला के सम्बन्ध में विभिन्न विद्वानों के मत इसलिये नीचे दिये जा रहे हैं कि विद्यार्थियों को विषय समझने में सरलता रहे।

"संस्कृत का समग्र-साहित्य और हिन्दी का प्राचीन-साहित्य जिस क्षेत्र में प्रवेश न कर सका, उस क्षेत्र में प्रेमचन्द ने अवतीर्ण होकर यह प्रदर्शित किया कि हम इस बांध को तोड़ सकते हैं—अपने सामाजिक जीवन को उन्नत कर सकते हैं। रूढ़ियों और अन्ध विश्वासों के लिए उन्होंने समाज को दोषी ठहराया।"

—प्रो० मुन्शीराम

"प्रेमचंद गांधी के आचार्य हैं।

गोदान में प्रेमचंद की उपमाएं और उनके रूपक पुस्तक का एक भारी महत्व हैं। मन में एकदम प्रकाश सा कर देते हैं और कल्पना को उत्तेजित कर देते हैं।

प्रेमचंद ने अपनी कला में भारतीय जीवन के उस विशाल एवं विस्तृत स्तर को छुआ है, जो अब तक अदृश्य और अछूता था। उन्होंने भारत के मूक समाज को वाणी दी है और अभूतपूर्व साहित्यिक जीवन ! यही आपकी बड़ी विभूति है ! इसी दृष्टिकोण से प्रेमचंद कलाकार रवि बाबू और शरत् बाबू से भी एक कदम आगे हैं।" —प्रकाशचंद्र गुप्त

"पूर्व संस्कारवश उनमें जो सामाजिक मर्यादा का ध्यान था, उससे उनके कृतित्व में गंभीरता आई, आधुनिक युग के प्रति उसमें जो प्रेरणा थी, उससे उनकी कला में शक्ति आई और उर्दू की व्यंजना के कारण रोचकता। इस प्रकार प्रेमचंद जी अपने कलाकार रूप में प्राचीनता और नवीनता के संगम थे। प्राचीनता की अन्तिम सीमा और नवीनता के आदि निर्देशक वे थे।

गोदान मुन्शी प्रेमचंद की अन्तिम कृति है। यह उनकी मृत्युशय्या का गोदान है।" —गुलाबराय

"प्रेमचंद को यथार्थवाद से इसीलिए भय है कि वह भयंकर है और मनुष्य को पतन की ओर ले जाने वाला है।" —डा० रामविलास

"गरीबों के प्रति सहानुभूति और भारतीय संस्कृति का अभिमान—ये दो विशेषताएं प्रेमचंद की हैं।" —बा० वि० पराड़कर

"प्रेमचंद ने अपनी कृति में जो चिरस्थायी और कर्मशील प्रेम का बीज रख दिया है, वह सामयिक नहीं, उसमें स्थायित्व है।" —जैनेन्द्र

"प्रेमचंद ने अत्यन्त सचेत होकर साहित्य को युग जीवन का माध्यम बनाया है। उन्होंने युगधर्म के साथ पूर्ण तादात्म्य स्थापित करते हुए सर्वाङ्ग जीवन को ग्रहण किया है।

उनके विवेक ने एकांगिता और अतिवाद से सदैव ही उनकी रक्षा की है।

हिंदी में जैनेन्द्र, भगवतीप्रसाद वाजपेयी, अज्ञेय, इलाचंद्र जोशी और बहुत अंशों में यशपाल के उपन्यास भी कामलिप्त हैं। शरत्‌चंद्र तो एक प्रकार से इससे अभिभूत हैं। किन्तु प्रेमचंद ने इस विषय में अद्‌भुत स्वास्थ्य का परिचय दिया है। काम जीवन की एक प्रमुख प्रवृत्ति है, परन्तु वह समग्र जीवन नहीं है, प्रेमचंद का यही दृष्टिकोण था।

प्रेमचंद के जीवन-दर्शन का मूल तत्व है मानववाद। इस मानववाद का धरातल सर्वथा भौतिक अर्थात् व्यावहारिक है।"

—नगेन्द्र

हिन्दी में गीतिकाव्य की परम्परा

आनन्द या दुःख का भावातिरेक संगीत में प्रकट होने पर गीतकाव्य का जन्म—अंग्रेज़ी का 'लिरिक' शब्द वाद्यविशेष पर गेय होने के कारण—

संगीत शरीर है तो भावातिरेक आत्मा। गीतिकाव्य का समाज से सम्बन्ध नहीं है, वह कवि की अपनी भावुकता है।

संस्कृत में गीतिकाव्य—वेद स्वयं गीतात्मक काव्य—गीतगोविन्द प्रसिद्ध गीतिकाव्य।

मैथिल-कोकिल विद्यापति ने गीतगोविन्द का ही अनुकरण किया—केलि कथाओं के लिए मुक्तक गीत।

सूर के पद शृङ्गार के साथ वात्सल्य व शान्तरस-प्रधान—सुन्दर गीत परम्परा कृष्ण काव्य में—मीरा के पदों में तन्मयता—कबीर, नानक, दादू ने भी गीतिकाव्य को अमूल्य निधि दी।

तुलसी का विनयपत्रिका नामक सुन्दर गीतिकाव्य—रीतिकाल में प्रबंध काव्यों की अपेक्षा स्वतंत्र मुक्तक गीत ही अधिक चले।

भारतेन्दु, श्रीधर पाठक आदि के भी गीत गेय हैं।

छायावाद व रहस्यवाद ने तो गीतों को एक नया कलेवर दिया। प्रसाद, महादेवी वर्मा, पन्त, 'निराला'—वर्तमान गीतिकाव्यों पर अंग्रेज़ी साहित्य का प्रभाव—वर्तमान गीत प्राचीन गीतों की अपेक्षा कुछ कठिनता से गाये जाते हैं—मैथिलीशरण गुप्त, बच्चन, नरेन्द्र शर्मा ने भी पर्याप्त गीत दिये हैं।

गीत के विषय—प्रकृति के प्रेम जीवन मीमांसा, आध्यात्मिक विरह गांधीवादी राष्ट्रीय गीत, लौकिक प्रेमगीत तथा प्रगतिवादी गीत

गीतों में कोमल पदावली व संगीतात्मकता भावों का संक्षिप्त सन्तुलन—निजी रागात्मकता, भावुकता व हृदयस्पर्शिता आदि गुणों की आवश्यकता—निजी भावना की प्रधानता से पुराने छन्दोबंधन भी तोड़ दिये गये—अनेक अंग्रेज़ी गीतों का भी हिन्दी में ग्रहण—सिनेमा क्षेत्र में गीतों की लोकप्रियता।

"साधारणतः गीतिकाव्य, व्यक्तिगत सीमा में तीव्र सुख-दुःखात्मक अनुभूति का वह शब्दरूप है, जो अपनी ध्वन्यात्मकता में गेय हो सके।"

—महादेवी वर्मा

सामाजिक निबन्ध

महापुरुषों का निर्माण

रूपरेखा

महापुरुषों का निर्माण कुल या सम्पत्ति के कारण नहीं—अनेक महापुरुषों के उदाहरण—साधारण कुलों में महापुरुषो का जन्म।

महापुरुषों का निर्माण विद्यार्थी जीवन में—उदाहरण।

महापुरुषों के तीन मुख्य गुण—परिश्रम व लगन—हृदय में दया का भाव—दृढ़ चरित्र—प्रत्येक गुण के लिए महापुरुषों के उदाहरण—अन्य महान् गुण।

संसार में जितने महापुरुष हुए हैं, वे सब इसीलिए महान् नहीं बन गये कि उनके पिता या दादा किसी देश के राजा थे या किसी बड़े नगर में प्रमुख व्यापारी थे जिनकी लाखों की आमदनी होती हो। वे इसलिए भी महापुरुष नहीं बने कि उनके पिता या गुरु समाज के बड़े भारी नेता थे। उनके महापुरुष बनने का कारण यह भी न था कि वे भीम जैसे बलवान अथवा अत्यन्त रूपवान थे। उनके महापुरुष बनने के कारण कुछ और ही थे।

साधारण कुलों में जन्म

प्रायः सभी महापुरुष साधारण घरों में उत्पन्न हुए। राम, बुद्ध और

अशोक जैसे राजवंशों में पैदा होने वाले अपवाद बहुत कम हैं। सिख धर्म के प्रवर्तक गुरु नानक एक गरीब बनिये के घर पैदा हुए। गो० तुलसीदास एक मामूली घर में पैदा हुए थे। शिवाजी के गुरु समर्थ रामदास एक साधारण कुल में पैदा हुए थे। परन्तु इन तीनों ने क्रमशः पंजाब, उत्तर प्रदेश और महाराष्ट्र में ऐसी ज्योति जगाई जो इतिहास में सदा अमर रहेगा। आज से सवा दो हजार वर्ष पूर्व जिस महामति ने प्रायः सम्पूर्ण भारतवर्ष को एक शासन सूत्र में ला दिया था, वह आचार्य चाणक्य बहुत साधारण घर में उत्पन्न हुए थे। ऋषि दयानन्द या म० गांधी की महापुरुषता में भी उनके कुल से कोई सहायता नहीं मिली। इसी तरह भारत के इतिहास से और भी बीसियों उदाहरण दिये जा सकते हैं। सम्पूर्ण यूरोप को किसी समय कंपा देने वाले नैपोलियन को बहुत कम लोग जानते थे। इटली का निर्माता मुसोलिनी एक साधारण लुहार का पुत्र था। १६४२-४३ में प्रायः समस्त यूरोप पर छा जाने वाला हिटलर किसी सम्पन्न कुल में उत्पन्न नहीं हुआ था। रूस में महान क्रान्ति करने वाले लेनिन या स्तालिन के सम्बन्ध में भी यही बात कही जा सकती है। बिजली के अद्भुत चमत्कारों से विश्व को विस्मय सागर में डालने वाला एडिसन किसी समय रेलवे स्टेशनों पर अखबार बेच-बेच कर अपना पेट भरता था। ऐसे सैंकड़ों उदाहरण और भी तलाश किये जा सकते हैं।

इन सब उदाहरणों से यह स्पष्ट है कि महान् पुरुष होने का कारण न सम्पत्ति है और न ऊंचा वंश। सचमुच सम्पत्ति और ऊंचे कुल से लोग महापुरुष नहीं बनते। वे बनते हैं अपने संस्कारों, गुणों और परिश्रम के कारण। अतः एक कवि ने ठीक ही कहा है।

गुणाः सर्वत्र पूज्यन्ते, पितृवंशो निरर्थकः।
वासुदेवं नमस्यन्ति वसुदेव न मानवाः॥

विद्यार्थी-जीवन में

ये सब महापुरुष बचपन में ही अपने असाधारण गुणों का संकेत देते थे।

महात्मा बुद्ध बालक ही थे कि उनमें वैराग्य की भावना प्रकट होने लगी थी। शिवाजी भी विद्यार्थी जीवन में वीरता का प्रदर्शन करने लगे थे। बालक नानक मां का दिया हुआ रुपया दुकानदार को देकर ज़रूरी चीज़ लाने के बदले एक फ़कीर को दे आये थे। एडिसन विद्यार्थी जीवन में ही अखबार बेचते हुए विज्ञान के परीक्षण करने लगे थे। म० गांधी ने विद्यार्थी-जीवन में ही सत्य बोलने का व्रत ले लिया था।

वस्तुतः महापुरुषों का निर्माण विद्यार्थी जीवन में ही होता है। इस समय जो अपना जीवन निर्माण करते हैं, वे सफल भी हो जाते हैं। यह सब महापुरुष किसी समय साधारण बालक ही थे, यह देखकर हम सबका हृदय आत्मविश्वास से भर सकता है कि जब ये साधारण अवस्था से महापुरुष बन गये, तो हम सब भी अपने जीवन में सफल हो सकते हैं। यदि आज हम दृढ़ संकल्प कर लें और गम्भीरता से प्रयत्न करें, तो कोई कारण नहीं कि इतिहास के पृष्ठों में हमारा नाम भी न आ जाय। परन्तु इस सुनहले स्वप्न में एक बड़ा भारी 'यदि' है।

परिश्रम व लगन

महापुरुषों का विकास उनके जिन गुणों के कारण होता है, उनमें सबसे प्रथम है परिश्रम और लगन। वे एक बार जिस काम को प्रारम्भ करते है, उसमें पूरी रुचि लेते हैं और छोटा काम हो या बड़ा उसे ईमानदारी से करते हैं। हजार विघ्न आने पर भी उसे वे छोड़ते नहीं। अमेरिका के प्रेजिडेण्ट अब्राहम लिंकन एक गरीब लकड़हारे के यहां पैदा हुए थे। वे एक अमेरिकन कालेज में इसीलिए प्रवेश पा सके थे कि उन्होंने प्रिंसिपल के कमरे में झाड़ू बहुत अच्छी तरह दिया था। ऋषि दयानन्द को सच्चे ज्ञान की इच्छा इतनी तीव्र थी कि वे बरसों तक उसके लिए शहरों, ग्रामों, तीर्थों और जंगलों की खाक छानते रहे। म० गांधी ने जब दक्षिण अफ्रीका में सत्याग्रह किया अथवा भारत में स्वातंत्र्य-आन्दोलन किया, कितनी विकट बाधाएं उनके सामने आई, किन्तु वे कभी अपने मार्ग से विचलित नहीं हुए और उन सब पर विजय पाते

गये। जितने बड़े-बड़े वैज्ञानिक आविष्कार करने में सफल हुए हैं, जिन साहसी वीरों ने समुद्र के वक्षःस्थल को चीरकर सुदूरवर्ती प्रदेशों को ढूंढकर इस संसार को हमारे लिए सुगम किया है, वे सब परिश्रम और लगन के पुतले थे। यदि कोलम्बस मार्ग की कठिनाइयों के सामने हार मान लेता, तो क्या कभी अमेरिका का ज्ञान यूरोप को हो जाता ? शिवाजी यदि प्रारम्भ में मुसलमानों के बल के आगे सिर झुका देते, तो क्या कभी दक्षिण में स्वराज्य स्थापित कर सकते थे ? विद्यार्थी ही यदि किसी पुस्तक को कठिन देखकर धीरज छोड़ दे, तो क्या कभी परीक्षा में वह सफल हो सकेगा ? मीराबाई को भक्ति के मार्ग में कितनी बाधाओं का सामना करना पड़ा। उसे विष तक पीना पड़ा, पर वह अपने पथ से विचलित नहीं हुई। धैर्य, लगन और परिश्रम के ये गुण हम विद्यार्थी जीवन में ही प्राप्त कर सकते हैं। एक विद्वान् ने कहा है कि—

प्रारभ्यते न खलु विघ्नभयेन नीचैः,
प्रारभ्य विघ्नविहता विरमन्ति मध्याः।
विघ्नैः सहस्रगुणितैरपि हन्यमानाः
प्रारब्धमुत्तमगुणा न परित्यजन्ति ॥

अर्थात् क्षुद्र लोग विघ्नों के भय से काम ही प्रारम्भ नहीं करते, मध्यम श्रेणी के लोग विघ्न पड़ने पर काम छोड़ देते हैं, पर महान् पुरुष हज़ारों विघ्न पड़ने पर भी प्रारम्भ किये हुए काम को नहीं छोड़ते।

दया का भाव

महापुरुषों का दूसरा गुण है उनके हृदय में दया का भाव। अपने स्वार्थ के लिए तो बहुत लोग परिश्रम करते हैं। चोर, डाकू, और लुटेरे भी कम परिश्रम नहीं करते, किन्तु दूसरों के लिए दया का भाव ही महापुरुषों को उनसे पृथक् करता है। *'मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे'* उनका आदर्श रहता है। कोई भी पीड़ित हो, उसकी सेवा करना वे अपना कर्तव्य समझते हैं। वे किसी का दुःख देख नहीं सकते, किसी को दुःखी देख कर उनका हृदय पसीज जाता है। ऋषि

दयानन्द को दलितों, गौओं और विधवाओं के प्रति करुणा के भाव ने ही सेवा के लिए प्रेरित किया। हिन्दू जाति की करुण दशा देखकर हरिद्वार में सर्वस्व त्याग कर सेवा के लिए निकल पड़े। म० गांधी तो दया और प्रेम की मूर्ति थे। वे किसी का दुःख देख नहीं सकते थे। चम्पारण के किसानों पर उन्हें दया आई, वे वहां उनके उद्धार के लिए पहुंचे। किसानों पर दया आई, बारदोली का सत्याग्रह प्रारम्भ हुआ। मज़दूरों पर दया आई, तो अहमदाबाद के मज़दूरों की हड़ताल संगठित की। दलितों की स्थिति पर दया आई तो अपने प्राणों की बाजी तक लगा बैठे। भारतीयों की दुःखजनक करुण स्थिति देखकर वे स्वराज्य संग्राम में कूद पड़े। किसी कवि ने ठीक ही कहा है—

वज्रादपि कठोराणि, मृदूनि कुसुमादपि।
लोकोत्तराणां चेतांसि, को हि विज्ञातुमर्हति॥

जो ऋषि दयानन्द और म० गांधी क्रमशः सामाजिक कुरीतियों और ब्रिटिश सरकार से संग्राम करने में वज्र से भी कठोर थे, उनके हृदय पीड़ितों के लिए कुसुम से भी कोमल थे। लोकोत्तर पुरुषों के चित्त का यही रहस्य है। पीड़ित या दुःखी के प्रति दयाभाव ही उन्हें दृढ़ संकल्प, परिश्रम व त्याग की प्रेरणा देता है। केवल अपने माता-पिता आदि तक ही उनका परिवार सीमित नहीं रहता। वे समस्त विश्व को अपने परिवार-सदस्य के रूप में देखते हैं—

"उदारचरितानान्तु वसुधैव कुटुम्बकम्"

दृढ़ चरित्र

महापुरुषों का तीसरा गुण, जो उन्हें असाधारण बना देता है, होता है उनका दृढ़ चरित्र। महात्मा बुद्ध, ईसा, शंकराचार्य, शिवाजी, ऋषि दयानन्द, स्वामी श्रद्धानन्द और म० गांधी आदि का चरित्र दूध जैसा धवल था। सदाचार और संयम उनके जीवन का मूलमन्त्र था। उन लोगों के चरित्र पर कोई अंगुली नहीं उठा सकता था। धन और नारी उन्हें कभी विचलित नहीं कर सकते थे। हिटलर और मुसोलिनी जैसे नेता भी व्यक्तिगत

चरित्र की दृष्टि से बहुत ऊंचे थे। महात्मा गांधी के देश में इतने अधिक प्रभाव का कारण भी उनका उज्ज्वल चरित्र था। ऐसे ही महापुरुषों के लिए कहा है—

मातृवत्परदारेषु, परद्रव्येषु लोष्ठवत् ।
आत्मवत्सर्वभूतेषु, यः पश्यति स पण्डितः ॥

सब स्त्रियों को माता के समान, दूसरे की सम्पत्ति को मिट्टी के ढेले के समान और सब प्राणियों को अपने समान देखने वाले ही पण्डित महापुरुष होते हैं।

महापुरुषों के और भी बीसियों गुण गिनाये जा सकते हैं, जैसाकि भर्तृहरि ने एक श्लोक में सुन्दरता से उन्हें गिना दिया है—

तृष्णां छिन्धि, भज क्षमां, जहि मदं, पापे रतिं मा कृथाः
सत्यं ब्रूह्यनुयाहि साधुपदवीं, सेवस्व विद्वज्जनम् ।
मान्यान्मानय, विद्विषोऽप्यनुनय, प्रख्यापय प्रश्रयं
कीर्तिं पालय दुःखिते कुरु दयामेतत्सतां चेष्टितम् ॥

तृष्णा या लालच का नाश, क्षमा, पाप से घृणा, सत्य भाषण, साधुओं का अनुसरण, विद्वानों की सेवा, माननीय पुरुषों का आदर, शत्रुओं से भी प्रेम, पीड़ित को आश्रय, कीर्ति में वृद्धि, दुःखी पर दया—ये सब महापुरुषों के गुण होते हैं। ये सभी गुण सचमुच बहुत ऊंचे हैं, किन्तु यदि हम ऊपर कुछ विस्तार से बताये गये गुणों को ही अपने जीवन में धारण करने की चेष्टा करें, तो यह असंभव नहीं है कि हमारा भी नाम इतिहास के पृष्ठों में लिखा जाय।

युग-प्रवर्तक दयानन्द

रूपरेखा

ऋषि दयानन्द के जन्म के समय देश की परिस्थिति—आन्तरिक त्रुटियां तथा बाहरी विदेशी चकाचौंध का आक्रमण।

जन्म गुजरात में—शिवरात्रिव्रत – गृह त्याग—शिक्षा—गुरुदक्षिणा।

सर्वस्व त्याग कर प्रचार का दृढ़ निश्चय।

दो प्रमुख कार्य—तर्क व बुद्धिवाद का आश्रय—सामाजिक कुरीतियों का खण्डन—भारतीयता से प्रेम—आत्माभिमान—स्वराज्य की भावना—आर्य समाज की स्थापना।

ऋषि दयानन्द के सिद्धान्त व मन्तव्य—डेविस की वाणी।

"निन्दन्तु नीति निपुणा यदि वा स्तुवन्तु
लक्ष्मीः समाविशतु गच्छतु वा यथेष्टम्।
अद्यैव वा मरणमस्तु युगान्तरे वा
न्याय्यात्पथः प्रविचलन्ति पदं न धीराः॥"

देश की परिस्थिति

जो महान् आत्मा शताब्दियों बाद दुर्दशा-ग्रस्त समाज और देश का उद्धार करने के लिए पुण्यभूमि भारत में अवतरित हुए हैं, उनमें ऋषि दयानन्द का नाम विशेषरूप से उल्लेखनीय है। ऋषि दयानन्द ने भारत में ऐसे समय जन्म लिया था, जब देश की स्थिति बहुत चिन्तनीय थी। एक ओर हिन्दूसमाज अपनी आन्तरिक कुरीतियों के कारण जर्जर और खोखला हो

रहा था, दूसरी ओर पश्चिम की चकाचौंध भारत के शिक्षित समाज को अभिभूत करती जा रही थी। एक ओर अन्ध श्रद्धा, अशिक्षा, निष्कर्मण्यता और विकृत परम्पराएं हिन्दू समाज को निर्जीव और निसत्व कर रही थीं, दूसरी ओर विदेशी शासक अपनी सत्ता का दुरुपयोग करते हुए भारत को मानसिक दृष्टि से भी दास बनाने का षड्यंत्र कर रहे थे। अंग्रेज़ी पढ़े लिखे लोग अपने देश के अतीत गौरव को भूल रहे थे, अपने देश के धर्म, अपने देश की भाषा, साहित्य, सभ्यता, संस्कृति और रहन-सहन से घृणा करने लगे थे। उनके लिए भारतवर्ष जैसे कुछ था ही नहीं, जो कुछ था यूरोप और उसकी सभ्यता थी। एक ओर मिथ्या विश्वास और वहम ने हमारी आंखें बन्द कर रखी थी और हम कुछ भी न सीखने के लिए दृढ़ निश्चय किये बैठे थे, दूसरी ओर मानसिक दासों की एक सेना तैयार हो रही थी। इन दोनों प्रवृत्तियों का परिणाम था देश की अवनति, भारतीय धर्म, भारतीय सभ्यता और भारतीय संस्कृति का पतन। आन्तरिक और बाह्य ये दोनों शत्रु भारतीय समाज के लिए खतरनाक थे।

जन्म, बोध व शिक्षा

ऋषि दयानन्द का जन्म गुजरात की उसी पुण्यभूमि में १९ वीं शताब्दी के प्रथम चरण के अन्त में हुआ था, जिसमें आधी सदी बाद विश्व की सर्वश्रेष्ठ विभूति म० गांधीने अवतार लिया। बालक मूलशंकर प्रारम्भ से ही मेधावी था। १४ वर्ष की आयु तक बहुत से शास्त्र व ग्रन्थ कण्ठस्थ कर लिये थे। पिता शैव थे, उन्होंने एक दिन मूलशंकर से भी शिवरात्रि का व्रत रखने को कहा। श्रद्धालु बालक ने व्रत रखा। मन्दिर में जब सब बड़े बूढ़े सो गये, यह बालक बड़ी श्रद्धा के साथ जागता रहा। मूर्ति पर चूहों को मिठाई खाते देख बालक की जिज्ञासा जाग उठी कि क्या यह भगवान् शिव चूहों को भी नहीं हटा सकते। पूछने पर पिता ने बताया कि यह सच्चा शिव नहीं है, वे तो कैलाश पर्वत पर रहते हैं। बस, सच्चे शिव की जिज्ञासा उत्पन्न हो गई। घर छोड़ा, जंगलों की खाक छानी, वर्षों तक घोर तपस्या की और जिज्ञासा तभी शान्त

हुई, जब वर्षों बाद गुरु विरजानन्दजी के चरणों में बैठकर सत्य ज्ञान प्राप्त कर लिया।

प्रज्ञाचक्षु गुरु ने शिष्य की मेधा, प्रतिभा, कार्यक्षमता और सबसे अधिक उनके सच्चरित्र और महान् हृदय को पहचान लिया था और इसीलिए उनसे लौंगों की बजाय सत्य ज्ञान के प्रचार की गुरुदक्षिणा मांगी। आने वाले वर्षों में देखा कि योग्य गुरु के योग्य शिष्य ने इसी गुरु दक्षिणा चुकाने के लिए अपना जीवन अर्पित कर दिया।

निर्भीक प्रचार और बलिदान

आजन्म संन्यासी रहकर दयानन्द ने देश भर में घूम-घूम कर सत्य ज्ञान का प्रचार किया। मार्ग में कितनी बाधाएं आईं, कितने प्रलोभन मिले, किन्तु गुरु के आगे जो प्रतिज्ञा की थी, वह पूर्ण किये बिना एक क्षण का आराम नहीं लिया। कार्य कठिन था, लोग किसी तरह अपने पुराने कुसंस्कारों को छोड़ने के लिए उद्यत न होते थे। वेदादि सच्छास्त्रों का ज्ञान रहा न था, प्रकाण्ड पण्डित भी स्वतंत्र दृष्टि न रखते थे, बाबा वाक्य को प्रमाण मानकर लकीर पर चले जा रहे थे। ऋषि दयानन्द अकेला कौपीन बांधकर खड़ा होगया और एक साथ ही भारतीय समाज को नष्ट करने वाली सामाजिक कुरीतियों तथा अन्धश्रद्धा व अज्ञान पर कठोर प्रहार करने लगा। मेवाड़ के महाराणा ने मूर्तिपूजा का विरोध न करने और करोड़ों रु० की सम्पत्ति के मन्दिर एकलिंगजी का पुजारी बनने के लिए कहा तो उत्तर मिला कि मैं तुम्हारे राज्य की सीमा तो एक दौड़ में पार कर सकता हूं, पर सत्यस्वरूप निराकार परमात्मा राज्य से कहां बाहर जाऊंगा। कई बार विष दिया गया, परन्तु वह महान् पुरुष सब प्रलोभनों और बाधाओं पर विजय पाकर सत्य प्रचार में लगा रहा और अन्त में सत्य की वेदी पर ही जहर खिलाये जाकर इस निर्भीक ऋषि ने दीपमाला के शुभ दिवस पर अपने प्राण उत्सर्ग कर दिये।

दो प्रमुख कार्य

ऋषि दयानन्द के सामने, जैसा कि हम ऊपर लिख आये हैं, दो प्रमुख

कार्य थे। एक आन्तरिक शत्रु का मुकाबला और दूसरे बाह्य शत्रु का प्रतिकार। इन दोनों कार्यों में वह महान् ऋषि सफल हुआ। ऋषि ने तर्क और बुद्धिवाद का आश्रय लिया और हमें स्वतंत्र दृष्टि दी। उन्होंने बताया कि किसी बात को तब तक मत स्वीकार करो, जब तक कि वह तर्क और युक्ति से वह सत्य सिद्ध न हो जाय। मध्यकाल में जो कुरीतियां विभिन्न कारणों से भारतीय समाज मे जड़ जमा चुकी थी और भिन्न-भिन्न मत-मतान्तरों का जो जाल सा फैल चुका था, उन सबके विरुद्ध वह खड़ा हो गया। उसने एक साथ ही बाल विवाह, अनमेल विवाह, जातपांत और छूआछूत का विरोध किया, झूठे अवैज्ञानिक विश्वासों और मिथ्या धारणाओं का खण्डन किया। उन्होंने बताया कि जन्म से कोई ऊंच नीच नहीं होता, सभी परमात्मा के पुत्र हैं। गुण कर्म से वर्ण होते हैं। वेद पढ़ने और यज्ञ करने का सभी को एक समान अधिकार है। स्त्री और पुरुष तथा दलित और ब्राह्मण एक समान हैं। धर्म के नाम पर दम्भ करने और भोली-भाली जनता को बहकाने वालों के विरुद्ध उन्होने कठोर वाणी का प्रयोग किया। हिन्दू धर्म पर जो लांछन लग रहे थे, उन्हें दूर कर धर्म का वास्तविक रूप दिखाने में वे सफल हुए।

भारतीयता व राष्ट्रीयता

दूसरी ओर उन्होंने भारतीय सभ्यता, भारतीय धर्म और भारतीय दर्शन का प्रबल समर्थन किया। अंग्रेज़ी सभ्यता के प्रवाह में बहने वाले भारतीय शिक्षित वर्ग को सम्बोधन करते हुए उस देशभक्त स्वाभिमानी सन्यासी ने कहा—हमारा भारत सभ्यता का आदि गुरु देश था। यहां के वेद शास्त्र, यहां का धर्म, यहां के दर्शन सभी वैज्ञानिक दृढ़ आधार पर स्थित हैं। इन्हीं को अपनाने से देश और विश्व का कल्याण हो सकता है। पश्चिम की भौतिक संस्कृति विश्व को विनाश की ओर ले जाने वाली है। भारत के अतीत गौरव का स्मरण कराकर उन्होंने देशवासियों में स्वाभिमान की वह भावना उत्पन्न कर दी, जिसे नष्ट करने के लिए अंग्रेज़ सरकार ने मैकाले की शिक्षा योजना का षड्यन्त्र किया। उन्होंने ललकार कर कहा कि पश्चिम का ईसाई मत और

बाईबल अवैज्ञानिक तथा वैदिक धर्म की तुलना में हेय है। वेद को सर्वोत्कृष्ट बताते हुए उन्होंने इस हीन भावना को दूर कर दिया, जो अंग्रेज़ी शिक्षा व शासन के कारण हम लोगों में पैदा हो रही थी। भारतीय गौरव का स्मरण कराने के साथ ही उन्होंने हमें स्वराज्य का संदेश भी दिया। उन्होंने आज से तीन चौथाई शताब्दी पूर्व स्पष्ट घोषणा की कि अच्छे से अच्छा विदेशी राज्य भी बुरे से बुरे स्वदेशी शासन से बुरा होता है। ऋषि ने अत्यन्त दूर-दृष्टि से देख लिया था कि हिन्दी ही समस्त देश की राष्ट्रभाषा होगी। उन्होंने गुजराती होते हुए भी अपने समस्त ग्रन्थ हिन्दी में लिखे। स्वदेशी कपड़े और स्वदेशी व्यवसाय का विचार उन्होंने निर्भीकता से रखा। यह आत्मगौरव व स्वदेश प्रेम और समाज-सुधार की बहुमुखी भावना थी, जिसने कुछ वर्षों बाद देश में नई राष्ट्रीय व उदार भावना को जन्म दिया। किसी भी देश की राजनैतिक क्रांति से पूर्व सामाजिक व विचार क्रांति अनिवार्य हुआ करती है। ऋषि दयानन्द ने वही क्रांति करके भारत के पुनर्जागरण की वह दृढ़ आधारशिला रखी, जिस पर स्वतंत्र नवीन भारत का भवन स्थिरता से खड़ा किया जा रहा है।

ऋषि के मन्तव्य

ऋषि दयानन्द बहुत अच्छे संगठन-कर्ता थे। आर्यसमाज को लोकतंत्र के आधार पर स्थापित कर उन्होंने तेजस्विनी, सजीव और सक्रिय संस्था बना दिया। वे प्रकाण्ड विद्वान थे। शास्त्रार्थों और प्रचार का भारी काम होते हुए भी उन्होंने ऋगवेद का तीन चौथाई और समस्त यजुर्वेद का भाष्य किया, सत्यार्थप्रकाश, ऋगवेदादि-भाष्य-भूमिका और संस्कार-विधि आदि विद्वत्तापूर्ण ग्रन्थ लिखे। वह असाधारण कार्यक्षम व्यक्ति थे। वे एक ओर सामाजिक कुरीतियों का विरोध कर रहे थे, दूसरी ओर अतीत-गौरव व स्वराज्य का मान करके राष्ट्रीयता का संचार कर रहे थे। नारी और शूद्र पर होने वाले अत्याचारों के विरुद्ध उन्होंने जिहाद छेड़ दिया था। उनका विश्वास था कि चारों वेद ईश्वरीय ज्ञान हैं और पुराण व स्मृतियां विशुद्ध ऐक्य को प्रकट नहीं करती। भारत के

प्राकृतिक बाधाओं—सरदी, गरमी, बीमारी, आदि को दूर कर सके ।

(२) भूख-प्यास, सरदी-गरमी मानव जीवन को कष्ट देती है, किन्तु मानव हृदय इस भौतिक जगत् से बाहर भी कुछ सोचता है—यह आत्मा कहां से आया, संसार को कौन शक्ति चलाती है आदि । सभ्य मानव असभ्य की अपेक्षा इस दिशा में बहुत कुछ सोचता है, इसलिए सभ्यता की दूसरी कसौटी तत्त्व ज्ञान का चिन्तन है ।

(३) केवल प्रकृति पर विजय मानव के लिए पर्याप्त नहीं है, एक जंगली राक्षस अद्‌भुत शक्ति पाकर अपने पड़ोसियों को भारी कष्ट दे सकता है । विज्ञान के बल पर अनन्त शक्ति पाकर मनुष्य पिशाच का रूप धारण कर लेता है । इसलिए ज्ञान और बल के साथ मानव कल्याण की सत्प्रवृत्तियां सभ्यता की तीसरी कसौटी है ।

(४) इस उलझन भरे पेचीदे संसार में मानव प्राणी अकेला उन्नति नहीं कर सकता । उसे समाज के संगठन का अंग बनकर रहना पड़ता है । जिस देश में समाज संगठन व समाज की सेवा की भावना जितनी तीव्र होगी, उतना ही वह अधिक सभ्य गिना जायगा । यह सामाजिक चेतना सभ्यता की चौथी कसौटी है ।

(५) व्यक्ति समाज का अंग है, इसलिए उसे समाज का हित देखना है, किन्तु समाज भी तो व्यक्तियों से बना है, इसलिए समाज का भी कर्त्तव्य है कि वह व्यक्ति के सुख दुःख व उन्नति का ध्यान रखे । व्यक्ति और समाज के समन्वय को सभ्यता की पांचवीं कसौटी कहा गया है ।

भारतीय सभ्यता

इन पांचों कसौटियों पर कसने से भारतीय सभ्यता बहुत ऊंची दीखती है । भारत का आयुर्वेद आज भी किसी चिकित्सा विज्ञान का मुकाबला करता है । भारत की प्राचीन वास्तुकला और भवन विद्या आज भी वैज्ञानिकों को विस्मय में डाल देती है । ज्योतिष, गणित, राजनीति, चित्रकला, वस्त्र-

निर्माण आदि सभी में प्राचीन भारत किसी समय बहुत उन्नत था। अजन्ता के रंगीन चित्र प्रकृति के सब तत्त्वों का सामना करते हुए आज तक यथापूर्व सुरक्षित हैं। आध्यात्मिक तत्त्व-ज्ञान में तो संसार का कोई भी देश भारत का सामना नहीं कर सकता। वेदान्त, उपनिषद्, गीता तथा छहों दर्शनों का इस सम्बन्ध में नामोल्लेख ही पर्याप्त है। आत्म संयम, त्याग, सादगी, आडम्बर शून्यता तो भारतीय जीवन का मूल आधार रही है।

चन्द्रगुप्त मौर्य के विशाल साम्राज्य का सूत्रधार चाणक्य फूस की झोंपड़ी में रहता था। तपस्वी ब्राह्मण का सम्मान राजा व धनकुबेर से सदा ऊंचा था। समाज की सेवा भारतीय जीवन का आदर्श रहा है। एक विद्वान ने सर्वभूतहित और सत्य इन दो शब्दों को हिन्दू धर्म का सार बताया है। हमारे यहां प्रतिदिन प्रत्येक गृहस्थ के लिए आवश्यक बलि वैश्वदेव यज्ञ तो पशुओं व पक्षियों तक में ममता और आत्मीयता की भावना का प्रत्यक्ष प्रमाण है। 'केवलाघो भवति केवलादी' कहकर अकेले भोग को पाप घोषित किया गया है। व्यक्ति और समाज का जो समन्वय प्राचीन वर्णाश्रम व्यवस्था में मिलता है, उसका उदाहरण अन्यत्र दुर्लभ है। राज्य और देश देशान्तरों में जाकर आर्य-राज्य व आर्य-संस्कृति का प्रचार, बौद्धसंघों का विशाल संगठन, राजनीति व शासन की अद्भुत व्यवस्था समाज-संगठन के उत्कर्ष का सूचक रहे हैं। इस तरह सभ्यता की उपर्युक्त पांचों कसौटियों की दृष्टि से देखा जाय, तो भारतीय सभ्यता अपने उत्कर्ष पर थी।

पाश्चात्य सभ्यता से भेद

भारतीय सभ्यता के कुछ प्रमुख तत्त्वों के इस संक्षिप्त विवेचन के बाद यह देखना आवश्यक है कि पश्चिम की सभ्यता व भारतीय सभ्यता के दृष्टिकोण, व्यवस्था तथा विधान में क्या मुख्य अन्तर है और क्या समानता है ?

प्रकृति पर विजय

प्रकृति पर विजय प्राप्त करने में यूरोप का विज्ञान आज अवश्य बाज़ी

मार ले गया है। विद्युत या अन्य विस्मयकारी विज्ञान ने प्रकृति के तत्वों को वश में कर लिया है। आज वैज्ञानिक की मेज़ पर शब्द, प्रकाश, ताप, विद्युत अथवा सभी तत्व एक बटन में नियंत्रित रहते है, किन्तु इसके साथ ही यह भी मानना होगा कि विज्ञान के इन कृत्रिम साधनों से मानव की अपनी कार्य-क्षमता का व सहनशक्ति कम होती जा रही है। भारतीय सरदी गरमी लगने पर न गरम कपड़े पहनता था. न पंखा चलाता था, वह अपने शरीर की सहन-शक्ति बढ़ाता था। वह नग्न रह कर ही अपने शरीर को प्रकृति से अधिक बलवान बनता था। यह भी प्रकृति पर विजय है, तथापि इसमें सन्देह नहीं कि आज के मानव ने विज्ञान की सहायता से प्रकृति को पहले से अधिक वश में कर लिया है।

आध्यात्मिकता और अपरिग्रह

तत्त्वज्ञान या आध्यात्मिकता का यूरोप में प्रायः अभाव रहा है। भारतीय सभ्यता व धर्म का प्रायः आधार ईश्वर रहा है। ईसा ने ईश्वर की सत्ता को स्वीकार अवश्य किया, किन्तु यूरोप की सभ्यता नास्तिकता-प्रधान रही है और गांधी जी के शब्दों में *'ईश्वरविहीन संस्कृति'*। यूरोप व भारत के दृष्टिकोण का प्रमुख अन्तर ही यह रहा है कि यूरोप जब बहिर्मुखी रहा है, भारत के ऋषि सदा अन्तर्मुखी रहे हैं। यूरोप ने विज्ञान पर अधिक बल दिया, भारतीय नेताओं ने अध्यात्म पर। यूरोप भौतिक सौन्दर्य के पीछे भागा, भारत ने आन्तरिक सौन्दर्य को पाने का प्रयत्न किया। भारत के पुराने बाग़ों में चमेली जूही, गुलाब आदि सौरभपूर्ण फूल पसन्द किए जाते थे, आज पार्कों व कोठियों के लानों में रूपवान् फूल खिलते हैं, चाहे उनमें सुगन्ध का सर्वथा अभाव हो। यूरोप बाहरी वेशभूषा तथा तड़क-भड़क की ओर गया और भारत आडम्बर शून्यता की ओर। यूरोप ने जन समृद्धि का एक उपाय बताया— आवश्यकताएं बढ़ाओ। भारत ने त्याग और तपस्या का — अपरिग्रह का उपदेश दिया।

तत्राहिंसा सत्यास्तेयशौचापरिग्रहा यमाः।

वर्ण-व्यवस्था से शक्ति-संतुलन

यही कारण था कि यूरोप में सम्पत्ति व शक्तिशाली ने सम्मान प्राप्त किया और समाज का सन्तुलन शिथिल हो गया। शक्ति व धन प्राप्त करने की होड़ लग गई। पूंजीवाद व साम्राज्यवाद इसी पद्धति का परिवर्धित रूप हैं। इसके विपरीत भारत के प्राचीन विचारकों ने वर्ण-व्यवस्था स्थापित करके सम्मान, धन व शक्ति को विकेन्द्रित कर दिया। धनी का सम्मान होता था, किन्तु इन दोनों से ऊपर त्यागी तपस्वी ब्राह्मण था। अत्याचारी राजा वेन को एक दरिद्र ऋषि दरबार में आकर भर्त्सना कर सकता था और उसे गद्दी से पृथक् कर सकता था। सत्ता, धन और सम्मान के इस विकेन्द्रीकरण से ही भारत में यूरोपियन शोषण के दर्शन नहीं हो सकते। यहां यह स्पष्ट कर देना चाहिए कि दीर्घकाल के राजनैतिक सामाजिक परिवर्तनों के कारण देश की वर्णाश्रम व्यवस्था विकृत हो गई, समाज में अनेक कुरीतियां आ गईं, पर वे विकार संस्कृति के मूल अंग नहीं बने।

आश्रम व्यवस्था

आश्रम व्यवस्था मनुष्य को जीवन का अन्तिम लक्ष्य मानव कल्याण व मोक्ष बताती थी। विद्यार्थी जीवन में ब्रह्मचारी अपने शरीर, मन, बुद्धि व आत्मा का विकास करता था। गृहस्थी संसार-चक्र चलाता हुआ उसका भोग भी करता था। परन्तु यह गृहस्थ और संसार-भोग उसका लक्ष्य नहीं बनता था। "*तेन त्यक्तेन भुंजीथाः मा गृधः कस्यस्विद्धनम्*" (त्याग भाव से इस संसार का भोग करो। किसी दूसरे के धन या अधिकार का अपहरण मत करो।') का पाठ पढ़ता हुआ वह गृहस्थ जीवन को छोड़कर वानप्रस्थ और सन्यास आश्रम में प्रवेश करता था तथा मानव कल्याण में अपनी शेष आयु व्यतीत करता था। यहां राजा को अपने जीवन-काल में ही पुत्र को राज्य सौंपकर वानप्रस्थ होना पड़ता था, क्योंकि राज्य करना जीवन का उद्देश्य न था। वह तो संसार के प्रति कर्त्तव्य था। राजा जनक विदेह कहलाते थे, क्योंकि उन्हें इस देह से—देह की भौतिक आवश्यकताओं में रुचि न थी।

व्यक्ति समाज पर भार नहीं होता था और समाज व्यक्ति की उन्नति में बाधक नहीं था। अपनी योग्यता और गुण कर्म से कोई भी व्यक्ति सम्मान का अधिकारी हो सकता था। अत्यन्त साधारण या अज्ञात कुल में उत्पन्न होकर भी लोग अपनी तपस्या, विद्वत्ता व चरित्र के बल पर ऋषि कहलातेथे। न नारी के लिए उन्नति में कोई बाधा थी, न शूद्र के लिए। समभाव की यह पराकाष्ठा थी कि पांच महायज्ञों में बलि वैश्वदेव—अपने भोजन से पूर्व पशु पक्षियों के भोजन की चिन्ता गृहस्थ का आवश्यक कर्त्तव्य था।

पुनर्जन्मः परलोक की चिन्ता

पुनर्जन्म भारतीय दर्शन का एक प्रमुख सिद्धान्त रहा है। हमारे जीवन का लक्ष्य इहलोक के साथ-साथ परलोक की उन्नति भी रहा है। पारलौकिक सुख की भावना धर्म या कर्त्तव्य की प्रेरणा देती रही है। इस जन्म में सुख-प्राप्ति को परलोक की अपेक्षा गौण समझकर अधिकार पर कर्त्तव्य की विजय को हमारे जीवन का दृष्टि-बिन्दु माना गया है।

अधिकार व कर्त्तव्य

आज यूरोप में अधिकार-लालसा का जिस तीव्रता के साथ प्रकाशन होता है, वह संघर्ष और असंतोष का मूल कारण है। आज तो भौतिक सुख को अपना लक्ष्य मान लेने के कारण मजदूर मालिक से, किसान जमींदार से, जनता शासक से और विद्यार्थी अध्यापकों से संघर्ष करने लगा है। यहां तक कि नारी भी अपने अधिकारों के लिए अपने ही दूसरे भाग पुरुष से संघर्ष करन लगी है। मानव और नागरिक के अधिकारों पर जितनी पुस्तकें लिखी जाती हैं, उसका शतांश भी कर्त्तव्य पर नहीं। संयुक्त राष्ट्रसंघ ने कई वर्ष और लाखों रुपये व्यय करके मानवीय अधिकारों की घोषणा की है; किन्तु कर्त्तव्यों का निर्देश नहीं किया। कुछ वर्ष पूर्व म. गांधी से पूछा गया था कि आपकी सम्मति में मानव के अधिकार कौन से हैं। म. गांधी ने उत्तर दिया कि मैं तो इस भाषा में सोचता ही नहीं, मैं तो यह जानना चाहता हूं कि मानव के कर्त्तव्य

क्या हैं ? अपना कर्त्तव्य करने लगेंगे तो अधिकार का प्रश्न ही खड़ा नहीं होगा। भारतीय और पश्चिमी सभ्यता में दृष्टि का यही प्रमुख भेद है।

विज्ञान और सुख

आज पश्चिमी सभ्यता अपनी वैज्ञानिक और व्यावसायिक उन्नति पर बहुत अभिमान करती है और इसमें सन्देह नहीं कि विज्ञान के द्वारा मानव ने चमत्कारपूर्ण शक्ति प्राप्त कर ली है। एक मिनट में न जाने कितने हजार गज़ कपड़ा बुन लिया जाता है, कितनी मोटरें बन जाती हैं। ये वायुयान, ये रेलगाड़ियां और बड़े-बड़े विशाल-काय लोह-शरीर और अकल्पित बल की पुंज अणु-शक्ति सचमुच अभिमान और विस्मय की वस्तुएं हैं। यूरोप इस पर अभिमान करता है और इसे अपनी संस्कृति का बहुत ही उज्ज्वल रूप बताता है। किन्तु क्या सचमुच इस वैज्ञानिक और व्यावसायिक उन्नति ने मानव को संतोष और सुख प्रदान किया है ? क्या इससे मानवसमाज की समस्याएं सुलझ गईं ? भौतिक शक्ति प्राप्त कर लेना ही क्या हमारा लक्ष्य है ? क्या शरीर ही सब कुछ है, आत्मा नहीं ? क्या यह वैज्ञानिक और व्यावसायिक उन्नति ही साम्राज्यवाद, पूंजीवाद और संघर्ष का कारण नहीं बनी ? क्या इसी आधी शताब्दी में दो भयंकर विश्वव्यापी युद्धों द्वारा कल्पनातीत विध्वंस का कारण यही लोहसंस्कृति नहीं है ? आज सभ्यताभिमानी पश्चिम एक दूसरे को नष्ट करने के लिए इसी विज्ञान के बल पर क्या अणु-बमों से भी अधिक संहारकारी शस्त्रास्त्र बनाने की होड़ में नहीं लगा हुआ ? पहले मानवजीवन का लक्ष्य संतोष और त्याग था, आज विज्ञान ने उसे धन और ऐश्वर्य के पीछे उन्मत्त कर दिया है।

अनेक यूरोपियन विचारक स्वयं इस वैज्ञानिक सभ्यता से चिन्तित हो उठे हैं। प्रो० हक्सले तो इस भौतिक उन्नति में न कोई आदर्श देखते हैं और न स्थिरता, इसलिए वे ऐसे दयालु धूम्रकेतु का स्वागत करने को तैयार हैं, जो अकस्मात् आकर सारे संसार का संहार कर दे। वे आज के व्यावसायिक जीवन का परिणाम आचारहीनता, अनैतिकता, बीमारी और पाशविक वृत्ति की वृद्धि

में देख रहे हैं। दूसरे प्रसिद्ध विचारक रस्किन तो व्यावसायिक सभ्यता को पुराने दासों से भी हजार गुणा अधिक कड़वी और पतनकारी समझते हैं। श्री हैवल ने भारतीयों को पश्चिमी सभ्यता न अपनाने की सलाह देते हुए लिखा है कि भारत में भयंकर से भयंकर अकाल के समय में किसी भी प्रान्त में इतनी दुराचार की सीमा, इतना निराशाजनक, शारीरिक, नैतिक और आत्मिक पतन नहीं पाया जाता. जितना वर्तमान व्यवसायवाद के उपायों के कारण यूरोप के व्यवसायप्रधान नगरों में पाया जाता है। गांधीजी कहा करते थे कि यदि आज के सब वैज्ञानिक साधनों - कल कारखानों, रेलगाड़ियों, मोटरों-को एक साथ समुद्र में डुबो दिया जाय, तो मुझे कोई दुःख नहीं होगा।

गांधी और स्तालिन

समाज सुख का एक उद्देश्य होते हुए स्तालिन और गांधी के जीवन और विचारधारा में जो अन्तर है, उसका मुख्य कारण यही सांस्कृतिक मतभेद है। स्तालिन मशीनरीवाद, बड़े-बड़े नगरों व निरंकुश एकाधिकार का समर्थक है। गांधी ग्रामोद्योगों, ग्रामों और जन-पंचायतों का समर्थक है। स्तालिन मज़दूरों और किसानों को भी मोटरें देना चाहता है, गांधी अमीरों को भी त्यागमय जीवन का उपदेश देता है। स्तालिन संघर्ष और पशुबल का पुजारी है, गांधी शान्ति और प्रेम तथा आत्मबल का। स्तालिन शरीर पर शासन करता है, मतभेद को सहन नहीं करता किन्तु गांधी हृदय में प्रवेश करना चाहता है और सब में अच्छाई देखने को उद्यत है। स्तालिन की परलोक में श्रद्धा नहीं है, गांधी ईश्वर पर अगाध विश्वास और परलोक का भी सुख चाहता है। स्तालिन और गांधी पश्चिमी और पूर्वी सभ्यता के उज्ज्वल उदाहरण हैं

शिक्षा और उसका स्वरूप

रूपरेखा

१. शिक्षा क्या है—सिर्फ़ साक्षरता नहीं, 'सा विद्या या विमुक्तये'।

२. प्राचीन काल में शिक्षा—जनसाधारण तक रस कथाओं के द्वारा निरन्तर प्रवाह—शिक्षित व अशिक्षित में सम्बन्ध।

३. अंग्रेज़ी शासन में शिक्षा का उद्देश्य—अभारतीय युवक तैयार—नई शिक्षा, नीति - उसके दुष्परिणाम—शिक्षित और अशिक्षित जनता में खाई, साहस और मौलिकता का अभाव, चरित्र की शिथिलता, विदेशी संस्कृति के दास—अभारतीयता।

४. अब क्या करें ? — मातृभाषा में शिक्षा—सर्वसाधारण तक प्रसार - शिक्षा कम खर्चीली हो—भारतीय साहित्य की शिक्षा—चरित्र शिक्षण - उद्योगधन्धों का शिक्षण—स्त्री शिक्षा।

विद्या नाम नरस्य रूपमधिकं प्रच्छन्नगुप्तं धनं,
विद्या भोगकरी यशःसुखकरी विद्या गुरूणां गुरुः।
विद्या बन्धुजनो विदेशगमने विद्या परा देवता,
विद्या राजसु पूज्यते न हि धनं विद्याविहीनः पशुः॥

शिक्षा क्या है ?

साधारणतः पुस्तकें पढ़ लेने को शिक्षा माना जाता है. जिसने दो-चार पुस्तकें पढ़ लीं और दो-चार अक्षर लिखने सीख लिये, वह शिक्षित कहा जाता है। शिक्षा तो मानव संस्कार को पवित्र और परिष्कृत करने और बन्धनों से

मुक्त करने वाली होती है। हमारे प्राचीन शास्त्रकारों ने विद्या का लक्षण किया है *सा विद्या या विमुक्तये*। जो ज्ञान मनुष्य को अज्ञान के अन्धकार तथा झूठे बन्धनों से मुक्ति दिलाता है. वही विद्या है। विद्या सत्य का दर्शन कराती है, सत्य-असत्य का विवेक देती है और जीवन को चरित्रवान् बनाती है। जो पुस्तकें ऐसा नहीं करती, उन्हें पढ़ा लिखा मनुष्य साक्षर हो सकता है, शिक्षित और विद्वान् नहीं। विद्या सबसे बड़ा धन है, जो यश और सुख देता है। विद्वान की पूजा सर्वत्र होती है।

प्राचीनकाल में शिक्षा-प्रसार

प्राचीन काल में अध्यापक को आचार्य कहते थे, क्योंकि वह पुस्तकज्ञान के साथ-साथ आचार का पाठ विद्यार्थी को देता था। उस समय साक्षरता की अपेक्षा चरित्र और मानसिक विकास की ओर अधिक ध्यान दिया जाता था। बालक प्रारम्भ में ही प्रकृति के साथ विचरण करता था और उससे वह सहज ज्ञान प्राप्त कर लेता था। खेतों में, जंगलों में, पहाड़ों पर, नदियों व नालों तथा गौ, बैल, घोड़ा बकरी आदि पशुओं के सम्पर्क में रहकर वह बहुत ज्ञान प्राप्त कर लेता था। इतिहास की कहानियां सुनकर वह बहुत कुछ जान लेता था और तब वह पुस्तकों को पढ़ता था। श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर लिखते हैं कि— "पुस्तकीय ज्ञान की विशेष चर्चा तो होती थी मन्दिरों के शिवालयों में, किन्तु उस विद्या की भूमिका सारे देश तक प्रसारित होती रहती थी। पण्डित-मण्डली का अपण्डित जनता के साथ सम्बन्ध विच्छेद नहीं था। हमारे देश में ऐसा कोई अनादृत स्थान था ही नहीं, जहां रामायण, महाभारत, पुराणकथा तथा धर्म व्यवस्था आदि नाना धाराओं में होकर प्रतिदिन उसका प्रसार न होता हो।" कठिन से कठिन शुष्क आध्यात्मिक विषय भी जनसाधारण की पहुंच में सदा रहता था। "वृक्षों की खुराक जब पानी से भली-भांति तरल हो जाती है, तभी वृक्ष उसे अपनी शाखा प्रशाखाओं में ग्रहण कर सकता है, ठीक उसी तरह प्राचीन काल में कठिन शुष्क विद्या को रस (काव्य-कथा-साहित्य के रस) में गला कर सर्व साधारण के मन पर सींचा जाता था। × ×

विद्या तब विद्वानों की सम्पत्ति नहीं थी, वह थी सम्पूर्ण समाज की सम्पदा।" यही कारण है कि भारत का ग्रामीण उस परम्परा के विकृत हो जाने पर भी आध्यात्मिक चर्चा में रस लेता है। ध्रुव, प्रह्लाद, सीता, शकुन्तला, दमयन्ती, सत्यवादी हरिश्चन्द्र और दानी कर्ण की कथाएं विचित्र रसों के योग से जन-हृदय को न केवल आप्लावित करती थीं, किन्तु उसे चरित्र के विकास की दिशा की ओर प्रेरित भी करती थीं। श्री रवीन्द्र लिखते हैं कि अन्य देशों में शिक्षा पिछले कुछ समय से अनिवार्य की जा रही है, किन्तु भारत की जन-शिक्षा स्वैच्छिक थी। यह परम्परा से आती रही है—इसके पीछे न कोई कानून था, न कोई बन्धन। घर-घर में स्वतः इसका संचार था, जैसे पूरे शरीर में रक्त का संचलन स्वयं होता है।

प्राचीन काल में अन्य देशों में चाहे शिक्षा की ओर उतना क्रमबद्ध और नियमित रूप से ध्यान न दिया जाता हो, भारत में इस का महत्त्व असाधारण था। विद्या का दान सबसे उत्कृष्ट दान माना गया है—"*सर्वेषामेव दानानां ब्रह्मदान विशिष्यते*।" सब विद्यार्थी अमीर-गरीब के विवेक के बिना गुरुकुलों में पढ़ते थे, जहां उन्हें कठोर तपस्यामय जीवन व्यतीत करना पड़ता था। गुरु व आचार्य के सम्पर्क व तत्त्वावधान में चौबीसों घण्टे रहकर विद्यार्थी चरित्र का विकास करते थे, ब्रह्मचर्यमय जीवन व्यतीत करते थे। एकसा रहन-सहन, एकसा खान-पान उनमें समानता की भावना पैदा करता था। शिक्षा के लिए कोई शुल्क न था, यह बेचने की चीज़ समझी भी न जाती थी। बौद्ध काल में तक्षशिला, नालन्दा आदि बड़े-बड़े विश्वविद्यालयों का वर्णन मिलता है। इन विद्यालयों में पढ़ने के लिए केवल भारत के सब प्रान्तों के ही नहीं, अन्य भी देशों से लोग पढ़ने के लिए आते थे।

अंग्रेजी शासन में शिक्षा का स्वरूप

मुस्लिम काल में शिक्षा पद्धति में कुछ परिवर्तन हुए, किन्तु गांवों की स्वावलम्बिनी शिक्षा-पद्धति पहले की भांति चलती रही। मुसलमान शासकों ने शिक्षा की प्राचीन संस्था पर दृढ़ आघात नहीं किये। शिक्षा पर राज्य का

कोई नियंत्रण नहीं थोपा गया। अंग्रेज़ शासकों ने हमारी शिक्षा-पद्धति में आमूल-चूल परिवर्तन कर डाला। लार्ड मैकाले को यह चिन्ता थी कि भारतवर्ष में ऐसे विद्यार्थी निकलें, जो वर्ण से भले ही भारतीय हों, किन्तु दिल व दिमाग़ से वे अंग्रेज़ बन जावें। इसी मंत्र को आधार मानकर समस्त शिक्षा-व्यवस्था की गई। इसके लिए निम्नलिखित उपाय काम में लाये गये—

(१) शिक्षा-व्यवस्था को सरकार ने स्वयं अपने हाथ में ले लिया। गांवों की धार्मिक सम्पत्तियां, जो देश के हृदय में शिक्षा-प्रसार का साधन थीं, छीन ली गईं।

(२) शिक्षा का माध्यम भारतीय भाषा के स्थान पर अंग्रेज़ी कर दिया गया।

(३) भारतीय-साहित्य की जगह अंग्रेज़ी-साहित्य पढ़ाया जाने लगा। कालिदास और तुलसी की जगह शैली, टैनीसन, वर्ड्सवर्थ तथा शेक्सपीयर पढ़ाये जाने लगे।

(४) शिक्षा को दान की वस्तु न रखकर विक्रय-योग्य वस्तु बना दिया गया। शिक्षा फ़ीस लेकर पढ़ाई जाने लगी।

नई शिक्षा नीति के दुष्परिणाम

अंग्रेज़ी शिक्षा पद्धति ने सचमुच हमारे देश और समाज में बड़ी उथल-पुथल कर दी। अंग्रेज़ी भाषा, अंग्रेज़ी वेश भूषा और अंग्रेज़ी वातावरण ने एक ऐसी श्रेणी पैदा कर दी, जिसका हमारे देश की मिट्टी के साथ ही सम्बंध विच्छिन्न हो गया। अंग्रेज़ी पढ़ा-लिखा बाबू देश के सर्वसाधारण के निकट अपना देश-भाई नहीं रहा—उसका दृष्टिकोण, उसका रहन सहन उसकी भाषा और उसका खान-पान सभी कुछ विदेशी हो गया, वह साहब हो गया—हमारे से बहुत दूर की या ऊंचाई की वस्तु। यह नई शिक्षा जन-साधारण की सम्पदा न रही। यों तो अदालतें, शासक, कल-कारखाने और क़ानून सभी कुछ हमारे लिए पराये थे, किन्तु शिक्षा में परधर्म सबसे अधिक भयंकर था।

हमारे नगर तो बिजली से जगमगा उठे, किन्तु दूसरी ओर ग्रामों की दशा और भी बिगड़ गई। पानी की तकलीफ़, सड़कों की कमी, रोग, अज्ञान सब कुछ जमा होकर इकट्ठा हो रहा है। श्री रवीन्द्र गहरी वेदना के साथ आगे लिखते हैं "देश की छाती पर एक सिरे से दूसरे सिरे तक विच्छेद की इतनी गहरी छुरी और कभी भी नहीं चलाई गई।"

अंग्रेज़ी भाषा में सब पुस्तकें पढ़ने का जो दूसरा परिणाम हुआ, वह भी कम भयंकर नहीं है। विद्यार्थी के हृदय में कोई बात बैठ जाने के बदले उसे घोटने की आदत पड़ गई। विद्यार्थी रटकर परीक्षाएं पास करने लगे, वह विद्या उनकी अपनी चीज़ नहीं बनी, वह पराई ही बनी रही। श्री रवीन्द्र पूछते हैं— "परीक्षा-भवन में छिपाकर पुस्तक लेजाना ही क्या चोरी है और मगज़ में भर लेजाने को क्या चोरी नहीं कहेंगे ?" विविध विज्ञानों की शिक्षा के अध्ययन में जो शक्ति लगनी चाहिए थी, उसका अधिकांश अंग्रेज़ी के हिज्जे, अर्थ व व्याकरण याद करने मे बरबाद हो जाती है। इसका अनर्थकारी परिणाम यह हुआ कि हमारी अपनी प्रतिभा और स्वतंत्र विचार-शक्ति नष्ट हो गई। हम प्रत्येक समस्या के लिए पश्चिम का मुख ताकने लगे, हमारा आत्माभिमान नष्ट हो गया और हम में आत्महीनता की भावना पैदा हो गई। शिक्षा में मातृभाषा ही मां का दूध है, इस सहज सत्य को हम भूल गये। अंग्रेज़ी के शिक्षण ने हमें मानसिक दृष्टि से भी अंग्रेज़ों का दास बना दिया। हम अपनी सभ्यता, अपने धर्म, अपने इतिहास के गौरव—सब कुछ भूल गये। हमारे दिमाग गुलाम हो गये। इस शिक्षा ने, जो बड़े-बड़े शानदार कमरों के दम घोटने वाले वातावरण में दी जाती है, न कभी चरित्र-विकास की प्रेरणा दी और न हम में साहस और बल पैदा किया। प्रकृति से दूर रहने से हमारे शरीर भी दुर्बल हो गये। हम पर-मुखापेक्षी बन गये और स्वतंत्र कार्य करने की साहसिक भावना सर्वथा लुप्त हो गई। सब नौकरी चाहने लगे, हाथ से काम करने का न साहस रहा और न इसमें शान रही।

अब क्या करें ?

आज हम स्वतंत्र हैं, शिक्षाचक्र पर भी आज हमारा अपना अधिकार है। आज अंग्रेज़ यहां नहीं हैं. इसलिए हमारा प्रथम कर्त्तव्य यह है कि हम अंग्रेज़ों की भौतिक दासता से मुक्त होने के बाद मानसिक दासता से भी स्वतंत्र हों। आज तक हमारे नेता अंग्रेज़ी का मोह नहीं छोड़ सके, अंग्रेज़ी प्रतिभा और दर्शन विज्ञान को वे आज भी उत्कृष्ट समझते हैं। सरकारी कुर्सियों पर आज भी विदेशी रहन-सहन का प्रभाव है, अंग्रेज़ी भाषा का राज्य है। मानसिक दासता भौतिक दासता से भी अधिक भयंकर है, इसे दूर करने के लिए समस्त शिक्षा व्यवस्था में परिवर्तन करना होगा। इसके लिए कुछ उपाय निम्नलिखित है—

(१) शिक्षा को सर्वसाधारण की वस्तु-बनाया जाय। ग्राम-ग्राम में शिक्षणालय खोले जायें, किन्तु उसके साथ-साथ प्राचीन कथाओं के प्रसार के द्वारा ज्ञान-प्रचार पर भी बल दिया जाय। प्रौढ़-शिक्षणालय व स्त्री-पाठशालाएं खोली जायें।

(२) ग्राम-पंचायतों को शिक्षा का प्रबन्ध दिया जाय। नगरों में भी माध्यमिक शिक्षा तक निःशुल्क पढ़ाया जाय।

(३) शिक्षा की सम्पूर्ण व्यवस्था बदली जाय। ज्ञान को अक्षर ज्ञान से अधिक महत्त्व दिया जाय। आज का शिक्षित ग्रामों से इतना अधिक दूर चला गया है कि वह गेहूँ बाजरे के छोटे पौदे या आम व जामुन के वृक्षों में भी भेद नहीं कर सकता। म० गांधी ने बेसिक शिक्षा का जो कार्यक्रम रखा है, उसमें ज्ञानवर्धन के साथ इन्द्रिय-शक्ति का भी विकास होता है, उस दिशा में ठोस कदम उठाया जाय। शारीरिक व्यायाम भी अब तक उपेक्षित है।

(४) उच्च-शिक्षा भी मातृभाषा में दी जाय। अनेक प्रान्तों की सरकारें अपने-अपने प्रान्त में शिक्षा का माध्यम बदल रही हैं, किन्तु उसकी गति बहुत शिथिल है।

(५) उच्च शिक्षा बहुत अधिक खर्चीली है और भारत के मध्यम श्रेणी के नागरिक की पहुँच से भी बाहर है। इसे मितव्ययी बनाया जाय।

(६) वर्तमान शिक्षा में भारतीय साहित्य, भारतीय धर्म व दर्शन की विशेष रूप से शिक्षा दी जाय। इससे विद्यार्थियों में अपने देश के प्रति अभिमान पैदा होगा, आज का विद्यार्थी धर्म व नैतिकता से उदासीन हो रहा है। इससे राष्ट्रीय चरित्र का विकास असंभव हो गया है।

(७) शिक्षा में कोरी सिद्धान्तवादिता न रहे, उद्योग-धन्धे आदि भी सिखाये जावें, जिससे विद्यार्थी राष्ट्र की समृद्धि में भाग ले सकें। व्यावहारिकता व उपयोगिता का ध्यान आवश्यक है।

(८) आज की शिक्षा में चरित्र का कोई स्थान नहीं है। विद्यार्थियों में बढ़ती हुई उच्छृंखलता और असंयम को रोकने की ओर विशेष ध्यान कर युवकों को स्वस्थ, चरित्रवान बनाने का प्रयत्न किया जाय।

(९) सरकार आजकल शिक्षा पर प्रतिव्यक्ति पांच रुपया प्रतिवर्ष व्यय करती है, जबकि अन्यदेशों में इससे बहुत अधिक व्यय होता है। इस व्यय को बढ़ाकर समस्त राष्ट्र को शिक्षित किया जाए। आज भारत में अशिक्षा व निरक्षरता अन्य सभ्य देशों से अधिक है।

(१०) माता की गोद ही सबसे बड़ा विश्वविद्यालय है। स्वस्थ शिक्षित माता ही राष्ट्र के भावी नागरिकों का निर्माण करती हैं। इसलिए नारी शिक्षण की ओर विशेष ध्यान दिया जाय।

शिक्षा का लक्ष्य है, मानव जीवन का सर्वांगीण विकास। शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक शक्तियों का विकास शिक्षा का प्रमुख उद्देश्य है।

नारी जागरण की दिशा

रूपरेखा

नये युग में नई परिस्थिति—नये आदर्श-नारी द्विधा में—समन्वय की आवश्यकता।

आज की नारी चाहती क्या है ? —पुरुष से प्रतिस्पर्धा, घृणा और प्रत्येक क्षेत्र में आगे बढ़ने की इच्छा—पुरुष के अत्याचार की स्वाभाविक प्रतिक्रिया।

नारी का कार्यक्षेत्र—घर, न कि बाहर; मातृत्व के विकास में उसकी सफलता।

आज की नारी में भी आकर्षण वृद्धि की चेष्टा में अपनी हीनता की गुप्त भावना।

नारी की किंकर्तव्यविमूढ़ता

आज भारतवर्ष में जिन पुरानी और नई विचार-धाराओं और संस्कृतियों का संघर्ष हो रहा है, समाज के प्रत्येक क्षेत्र में जो नया क्रांतिकारी परिवर्तन हो रहा है, उसे देखते हुए आज नारी किंकर्त्तव्य विमूढ़ होगई है - दुविधा में पड़ गई है। वह एक ओर सती सीता, सावित्री और दमयन्ती के आदर्श चरित्र पढ़ती है, दूसरी ओर वह नए समाज और नई दुनिया को देखती है, जिसमें समाज और युग उससे कुछ ऐसी चीज़ मांगता प्रतीत होता है, जिसकी शायद सीता, सावित्री और गांधारी से कभी अपेक्षा नहीं की गई थी। पहले नारी केवल अपने परिवार तक और उसमें से भी एक संकुचित क्षेत्र तक सीमित थी, उससे बाहर की दुनिया से उसका कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं था। लेकिन ········'आज दुनिया बदल गई है, जो थोड़ी बहुत कमी है, वह

भी पिछले युद्ध के बाद तेज़ी से पूरी हो रही है। पुरुष स्वयं नये पश्चिमी आदर्शों और पश्चिमी वातावरण में रहने का आदी हो रहा है। वह अपनी जीवन-संगिनी से भी वही अपेक्षा करता है। नारी जानती है कि उसे अपने पुराने संस्कारों को तिलांजलि देनी होगी। पुरुष-समाज की इच्छा के अतिरिक्त उसे नये जीवन की चमक और चकाचौंध का आकर्षण भी लुभाने लगा है। नारी, जो अब तक घर की चहार दीवारी में बन्द थी, बाहर के विस्मयपूर्ण और प्रसन्न वातावरण को पाकर यदि उस ओर आकृष्ट होकर अपने कर्त्तव्यों से कुछ शिथिल हो जाय तो यह अस्वाभाविक नहीं कहा जा सकता।

किन्तु ?

यह ठीक है कि नई समस्याओं और नई परिस्थियों का समाधान करना ही होगा और वह भी नए दृष्टिकोण से। किन्तु ऐसा करते समय यह तो सोचना ही होगा कि हम जिस नई विचारधारा और संस्कृति में बहे जा रहे हैं, वह कहां तक मानव-समस्याओं को हल करती है ? उसके अनेक गुणों को ग्रहण करते हुए भी यह तो आवश्यक नहीं है कि उसके समस्त दोषों को भी उसी आदर के साथ स्वीकार किया जाय। यदि आज भी नई परिस्थिति में नवीनता का त्याग असंभव हो तो उसे उसी सीमा तक क्यों न लिया जाय, जहां तक वह उपादेय है। नवीन और प्राचीन आदर्शों का समन्वय क्यों न किया जाय ?

पुरुष से संघर्ष और प्रतिस्पर्धा

परन्तु इससे भी पहले प्रश्न यह उपस्थित होता है कि आज की नारी चाहती क्या है ?

आज की प्रगतिशील नारी जब पुरुष को संसार के बड़े से बड़े साहसिक कार्य करते देखती है, तो उसका हृदय भी विशाल समुद्र के वक्षःस्थल को चीरने, उन्मुक्त नील आकाश में वायुयानों द्वारा विचरने और भीषण विध्वंस में पुरुष को भी मात करने को उत्सुक हो उठता है। वह पुरुष के बराबर

अधिकार ही नहीं मांगती, बल्कि अपनी योग्यता, शक्ति और इनसे बढ़कर अपनी लगन के द्वारा वह उससे भी आगे बढ़कर उसे नीचा दिखाने को आतुर है। पुरुष नारी पर सदियों से अत्याचार करता आया है। स्वयं किसी भी कर्तव्य और उत्तरदायित्व को अपने सिर पर लेना नहीं चाहता, किन्तु नारी को सदा संयम, पतिव्रत-धर्म और तपस्या का उपदेश देता रहा है। एक शिक्षित नारी यह सब देख कर सोचती है कि क्या संसार के समस्त वैभव और विलास के सम्पूर्ण सुख केवल पुरुष के लिए हैं ? क्या सूर्य, चांद और तारों के रमणीक दृश्य तथा प्रकृति के सुन्दर नजारे केवल पुरुष के लिए ही हैं और इसके विपरीत क्या समस्त जप-तप नियम एवं सब शास्त्र केवल स्त्रियों के लिए ही हैं ? क्या पुरुषों पर न शास्त्र लागू होते हैं और न समाज के बन्धन ? क्या स्त्री का संसार केवल घर की चार-दीवारी ही है ? यह सब सोचकर नारी विद्रोह करने लगी है। घर में, समाज में और राजनीति में सर्वत्र वह पुरुष के समान अधिकार मांगने लगी है। वह वेद, शास्त्र, स्मृति और प्राचीन उपदेश सभी को अग्नि देवता के अर्पण करके पुरुष के साथ कंधे से कंधा भिड़ाकर चलना चाहती है और घर गृहस्थी, चूल्हा, चक्की, बच्चों के पालन-पोषण की एकमात्र ज़िम्मेवारी छोड़कर हरएक क्षेत्र में पुरुष से मुकाबला करने को उत्सुक है। यूरोपियन-नारी की भांति भारत में भी आज वह अधिकारों के लिए संघर्ष करने लगी है; राजनीति के मंच पर गरजने लगी है, दफ्तरों में काम करने लगी है और पिछले कुछ वर्षों से तलाक के अधिकार के साथ-साथ पिता की सम्पत्ति के विभाजन में अपने भाइयों से ईर्ष्या करने लगी है। घर के क्षेत्र को वह अब अस्वाभाविक और बहुत क्षुद्र मानने लगी है। सैनिक बन कर बन्दूक चलाने में वह रस लेने लगी है। वह वकील और डाक्टर बनना चाहती है, टिकट कलैक्टर बनने में, टाइपिस्ट या टैलिफोन गर्ल बनने और दफ्तर की क्लर्की करने में वह अभिमान अनुभव करती है। शराब पीने और समाज में प्रेमी के साथ नाचने में वह पुरुष को पीछे छोड़ जाना चाहती है।

नारी का कार्य क्षेत्र

ऐसा प्रतीत होता है कि नारी पुरुष द्वारा शोषण की प्रतिक्रिया स्वरूप

अथवा बाहरी जगत् की चमक में आकर पुरुष के साथ होड़ लेने लगी है और इस होड़ में वह यह भी भूल गई है कि मंगलमय भगवान् की सृष्टि में उसका क्या स्थान है, क्या कर्त्तव्य है । स्त्री-पुरुष के प्राकृतिक रचना-भेद—शरीर व मन दोनों के भेद—के द्वारा यह स्पष्ट है कि दोनों का कार्य एक नहीं है। नारी का सफल जीवन उसके नारीत्व और मातृत्व में है, पुरुष की सफलता उसके पौरुष में हैं। जिस प्रकार स्त्रियों की तरह से आचरण करने वाला पुरुष स्त्रैण या ज़नाना कहलाता है, उसी तरह पुरुष का अनुकरण करती हुई नारी भी अपने धर्म को छोड़ने का अपराध करती है। मंगलमय भगवान् ने उसके शरीर की रचना व्यर्थ ही नहीं की, उसके हृदय में स्नेह और छाती में दूध बिना किसी विवेक के नहीं दिया। संतानपालन की शक्ति और स्नेहमयी भावना उसका सहज गुण है, अनिवार्य कर्त्तव्य है। उससे मुक्त होकर वह समाज और देश तथा विश्वनियन्ता के प्रति घोर अपराध करेगी। यह मातृत्व किसी भी तरह पुरुष के शासन, साम्राज्य- विजय, व्यापार और व्यवसाय से हीन नहीं है।

आज भी स्वतंत्र नहीं

पुरुष की ओर आकर्षण भी नारी का एक स्वाभाविक धर्म है, ठीक उसी तरह, जिस तरह पुरुष नारी के प्रति आकृष्ट होता है। आज की नारी एक ओर पुरुष से घृणा करती है, नारी-सुलभ गुणों का बलिदान करके पौरुष को जगाना चाहती है। दूसरी ओर अपने श्रृङ्गार द्वारा अपने रमणीत्व के प्रदर्शन में और भी अधिक लिप्त और अधिक सतर्क रहने लगी है। श्रृङ्गार-सामग्री पर राष्ट्रीय सम्पत्ति का खर्च होने वाला एक बड़ा अंश सचमुच चिन्ता का विषय हो रहा है। श्रीमती महादेवी वर्मा, जो कवयित्री होने के साथ-साथ अच्छी विचारक भी हैं, लिखती हैं—"आर्थिक दृष्टि से स्वतंत्र नारी को "पुरुष के मनोविनोद की वस्तु बने रहने की आवश्यकता नहीं है। अतः वह परम्परागत रमणीत्व को तिलांजलि देकर सुखी हो सकती है। परन्तु वह आदिम नारी की दुर्बलता—(वस्तुतःवह स्वाभाविकता ही है) को नहीं छोड़ सकी है। श्रृङ्गार के इतने संख्या-

तीत उपकरण, रूप को स्थिर रखने के इतने कृत्रिम साधन, आकर्षित करने के उपहास-योग्य प्रयास, इस विषय में कोई सन्देह का स्थान बने नहीं रहने देते। नारी को गरिमा देने वाले गुणों का भले ही विनाश हो गया हो, उसका रमणीत्व नष्ट नहीं हो सका। × × बाहर के संघर्षमय जीवन में जिस पुरुष को नीचा दिखाने के लिए वह सभी क्षेत्रों में कठिन से कठिन परिश्रम करेगी, उसी पुरुष में अपने प्रति जिज्ञासा, उत्सुकता जागृत करने के लिए वह अपने सौन्दर्य और अंग-सौष्ठव की रक्षार्थ असाध्य से असाध्य कार्य करने को उद्यत है।" क्या तब भी नारी को स्वतंत्र कहा जा सकता है ?

मातृत्व का विकास सर्वोच्च लक्ष्य

इसी प्रसंग में यह भी स्मरण रखने योग्य बात है कि नारी जब पुरुष का अनुकरण करती है, तब प्रकारान्तर से वह यह भी स्वीकार करती है कि पुरुषत्व उच्चता है और नारीत्व क्षुद्रता या हीनता है। अपने प्रति क्षुद्रता की मानसिक दुर्बलता की यह भावना ही आज की नारी को सताये जा रही है। वह क्यों नहीं समझती है कि नर व नारी मिलकर पूर्ण मनुष्य बनते हैं और दोनों के कार्य क्षेत्र भिन्न-भिन्न हैं, परस्पर विरोधी नहीं, बल्कि परस्पर सहायक व पूरक।

नारी का जीवन नारीत्व के विकास में है और नारीत्व का विकास मातृत्व में। राम, कृष्ण शिवाजी, प्रताप जैसी विभूतियों का निर्माण करने वाली माताओं ने किस राष्ट्र-निर्माता से कम सेवा की है ? राष्ट्रनिर्माता का यह महान् उत्तरदायित्व छोड़कर यदि वह पुरुष की लीक पर ही चलना चाहती है, तो वह केवल अपने पवित्र कर्तव्य से ही च्युत नहीं होती है, किन्तु राष्ट्र की बड़ी भारी अप-सेवा भी करती है। मातृत्व के महान् गौरव के कारण ही हमारे आचार्यों ने उसे बहुत बड़ा पद दिया था—

उपाध्यायान्दशाचार्य आचार्याणां शतं पिता।
सहस्रं तु पितृन्माता गौरवेणातिरिच्यते ॥

"*यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः।*" कहकर नारी की उच्च स्थिति बताई गई है। महाभारत में नारी को श्रेष्ठतम सखा व त्रिवर्ग का मूल बताया

गया है। हज़ारों सालों में विकार आते-आते नारी भी निरादर से देखी जाने लगी और उस पर अत्याचार होने लगे।

रवीन्द्र और गांधी

पुरुष का कार्य क्षेत्र नारी के लिए आपद्धर्म हो सकता है, स्वाभाविक धर्म नहीं। महान् विचारक और कलाकार रवीन्द्र ने चित्रांगदा नामक नाटक में इसे बहुत अच्छी तरह स्पष्ट किया है। पुरुष की तरह धनुर्धर क्षत्रिय के रूप में रहने वाली गर्वित चित्रांगदा वीर अर्जुन जैसे पुरुष को देखकर अपना कृत्रिम पुरुषत्व भूल जाती है और उससे विवाह की भिक्षा मांगती है तथा उसे आकृष्ट करने के लिए शिव से एक साल के लिए ही सही, सौन्दर्य की भिक्षा मांगती है।

महात्मा गांधी स्त्रियों की स्वतंत्रता के बहुत बड़े समर्थक थे। उन पर स्त्री-विरोधी होने का आरोप किसी भी स्थिति में नहीं लगाया जा सकता। उनका उद्धरण देकर हम इस लेख को समाप्त करते हैं – "मेरे मत से स्त्री को, घर छोड़ कर, घर की रक्षा के निमित्त कंधे पर बन्दूक धरने का आह्वान करने पर अथवा इसके लिए प्रोत्साहित करने पर, स्त्री और पुरुष दोनों का ही पतन होगा। यह तो फिर से जंगली बनना और विनाश का प्रारम्भ हुआ।× अपने घर को सुव्यवस्थित करने में उतनी ही वीरता है, जितनी बाहर से रक्षा करने में।"

हिन्दू-कोड बिल

रूपरेखा

१—प्राचीन भारत में नारी : नारी का कार्यक्षेत्र घर : नारी की ऊंची स्थिति।

२—समय बदला—नारी पर अत्याचार—स्थिति हीन बन गई।

३—प्रतिक्रिया—नारी जागरण—यूरोप की सभ्यता का प्रभाव—समानाधिकार की मांग।

४—हिन्दू-कोड बिल का जन्म—बिल की धाराएं।

५—बिल के पक्ष में युक्तियां—स्त्री पर अत्याचार, असहायता, समानाधिकार आदि।

६—बिल के विरोध में युक्तियां—लड़की को संपत्ति देने से भाई बहनों में संघर्ष, मधुर सम्बन्ध की समाप्ति—बिल दुधारी तलवार है।

७—समन्वय—एक पत्नी विवाह, विधवा को संपत्ति, गोत्र का बंधन दूर हो, परन्तु तलाक व पुत्री को दाय भाग आपत्ति-जनक।

नर व नारी : एक दूसरे के पूरक

भारतीय समाज ने नर और नारी को एक दूसरे का पूरक माना है। न नर नारी के बिना पूर्ण है और न नारी ही नर के बिना पूर्ण है। दोनों मिलकर पूर्ण इकाई बनती है। नारी के लिए 'अर्धांगिनी शब्द ही इसका प्रमाण है। वैदिक साहित्य में नारी का यही स्वरूप था। मातृ-शक्ति के रूप में उसका वर्णन किया है और माता का स्वरूप है, सृष्टि का प्रजनन और निर्माण। नारी के बिना नर यज्ञ नहीं कर सकता था। स्त्री की अनुपस्थिति में राम के लिए यज्ञ में सीता जी की मूर्ति स्थापित करने की विवशता

प्राचीन काल में नारी की ऊंची स्थिति पर प्रकाश डालती है। मनु ने भी स्त्री को अनेक कल्याणों की भाजन, पूजा के योग्य, घर की ज्योति, गृह की साक्षात् लक्ष्मी आदि विशेषणों से स्मरण किया है। वस्तुतः नारी का समाज में बहुत ऊंचा स्थान है। समाज के लिए नारी उसी तरह अनिवार्य है, जिस तरह पुरुष। गृहस्थ धर्म को सब आश्रमों से—ब्रह्मचर्य और संन्यास से भी—ऊंचा माना गया है, क्योंकि इसी में पुरुष नारी को साथ लेकर आत्मविकास और समाज-विकास की ओर प्रवृत्त होता है—अपने साथ समाज का भी पालन करता है।

भारत के प्राचीन नेताओं ने समाज का बहुत सुन्दर संगठन किया था। उसमें संघर्ष के उत्पन्न होने की संभावनाओं को ही उन्होंने दूर करने की चेष्टा की थी। वर्ण-व्यवस्था के द्वारा उन्होंने शक्ति को एक स्थान पर केन्द्रित होने से बचाया था। सम्मान केवल भौतिक बल, शक्ति या धन में नहीं है, उसके लिए चरित्रवान ब्राह्मण को ऊंचा स्थान दिया था। किन्तु वह भी शक्ति या धन पाकर मदान्ध न हो जाए, इसलिए उसे अपरिग्रह का उपदेश दिया था। आश्रम व्यवस्था द्वारा जहां उन्होंने ब्रह्मचर्य में व्यक्तिगत उन्नति का अवसर भावी नागरिक को दिया था, वहाँ वानप्रस्थ और संन्यास की रचना करके उन्होंने मानव को समाज के लिए अपना जीवन अर्पित करने की निश्चित व्यवस्था भी की थी। गृहस्थ आश्रम में भी किसी प्रकार का संघर्ष न हो, इसलिए प्रकृति के संदेश और नियम की महत्ता को स्वीकार करते हुए उन्होंने नर और नारी के कार्यक्षेत्र का सुन्दर विभाजन किया था। नर घर के बाहर रहे और नारी घर के अन्दर रह समाज में व्यवस्था स्थापित करने में सहयोग दे। दोनों एक समान थे, यदि पुरुष पत्नी का राजा था तो नारी भी घर की साम्राज्ञी थी।

नारी की हीन स्थिति

समय बदला। भारतीय समाज और उसकी संस्थाओं पर इतिहास के दीर्घकाल में होने वाले परिवर्तनों का प्रभाव पड़ा। समय-समय पर भारतीय

नेताओं ने भी नियमों और व्यवस्थाओं में परिवर्तन किया। ये परिवर्तन अच्छे भी थे और बुरे भी थे। संभवतः स्मृतिकारों ने समय की आवश्यकता से प्रेरित होकर यह सब किया हो। परन्तु नारी का सम्मान कम होता गया, उसे पुरुष पर ही आश्रित होने की शिक्षा दी जाने लगी। *"स्त्रीशूद्रौ नाधीयाताम्"* कहकर उसे कालान्तर में शिक्षा से भी उसी तरह वंचित किया जाने लगा, जिस तरह शूद्र समाज को। नारी के अशिक्षित होते ही पुरुष अपने कर्त्तव्य को भूल गया। पुरुष उस पर अत्याचार करने लगा। जीवन का सुख और अधिकार उसने अपने पास रखा और कर्त्तव्य और उत्तर-दायित्व उसने नारी के सिर पर डाल दिये। समय के साथ-साथ नारी की स्थिति हीन से हीनतर होने लगी। घर में भी उसका सम्मान न रहा। पुरुष ने उसे शिक्षा से वंचित कर पंगु कर दिया था। उसका कार्य क्षेत्र घर ही रखकर उसे असहाय भी बना दिया था। कन्या का पितृत्व वर के पितृत्व से हीन माना जाने लगा। पुरुष ने नारी को उपभोग की सामग्री समझ लिया, जब चाहे ठुकरा दिया। पुरुष बुढ़ापे तक में भी विवाह करता रहा और युवती को आजन्म वैधव्य जीवन बिताने पर विवश होना पड़ा।

प्रतिक्रिया

इन सब अत्याचारों की प्रतिक्रिया स्वाभाविक थी। नारी अन्दर ही अन्दर घुली जा रही थी, पर असहाय और मूक थी। इसी समय पश्चिमी संस्कृति व सभ्यता का प्रवेश हुआ। कुछ शिक्षा का भी प्रसार हुआ। नारी पढ़ लिखकर पश्चिम के सम्पर्क में आई, उसे वाणी मिली और अपने दुःख प्रकट करने का साहस मिला। यूरोप की नारी ने अपने उद्धार के लिए जो उपाय किये थे, उन्हीं का अवलम्बन भारतीय नारी भी करने लगी। भारतीय समाज की व्यवस्था के मूल तत्वों से भी उसे घृणा हो गई, क्योंकि उस पर सब अत्याचार शास्त्रों के नाम से ही किये जाते थे। शिक्षित पुरुष समाज पर यूरोपीय सभ्यता ने गहरा रंग डाल रखा था, वह नारी को भी उसी रंग में देखने लगा। समाज सुधारकों ने भी स्त्री पर अत्याचार के विरुद्ध आवाज़ उठाई। इन सबका

परिणाम हुआ वह नारी-जागरण, जिसने नारियों के हितों की रक्षा के लिए हिन्दू-कोड बिल की रचना की ।

हिन्दू-कोड बिल

शिक्षित नारियों के आन्दोलन के परिणाम-स्वरूप भारत सरकार ने श्रीराऊ की अध्यक्षता में हिन्दू स्त्री की स्थिति में सुधार के लिए एक उपसमिति बिठाई थी । इससे पहले भी विवाह व हिन्दू स्त्री के उत्तराधिकार आदि के सम्बन्ध में अनेक बिल केन्द्रीय असेम्बली में पेश हुए थे । परन्तु हिन्दू स्त्री सम्बन्धी सभी समस्याओं को लेकर एक व्यापक बिल बनाने की राय राऊ-समिति ने दी । उसी की सिफ़ारिशों का परिणाम हिन्दू-कोड बिल है । इसमें विवाह, तलाक, दत्तक-अधिकार, उत्तराधिकार, सम्पत्तिवितरण, स्त्रीधन गोत्र, संयुक्त-परिवार इत्यादि सभी पारिवारिक प्रश्नों पर विस्तार के साथ विचार किया गया है ।

इस बिल की मुख्य बातें निम्नलिखित हैं—

(१) इस बिल के अनुसार एक पुरुष एक स्त्री और एक स्त्री एक पति रख सकता है । आज तक पुरुष को हिन्दू कानून के अनुसार चाहे जितने विवाह करने का अधिकार था ।

(२) विधवा को पति की सम्पत्ति में से जायदाद मिलना अनिवार्य कर दिया गया है ।

(३) निम्नलिखित कारणों से स्त्री व पुरुष को एक दूसरे से विवाह सम्बन्ध विच्छिन्न करने का अधिकार दिया गया है ।

क—विवाह के समय किसी पक्ष की नपुंसकता ।

ख—किसी एक पक्ष का दुराचारी होना ।

ग—किसी एक पक्ष का हिन्दू धर्म त्याग ।

घ—किसी का पागल अथवा दुःसाध्य रोग से ग्रस्त होना ।

(४) लड़की को भी पिता की सम्पत्ति में से अस्थिर सम्पत्ति छोड़कर भाइयों की तरह परन्तु कुछ कम भाग मिलेगा ।

(५) नये बिल के अनुसार एक गोत्र में भी विवाह हो सकेंगे, परन्तु माता-पिता की तीन व पांच पीढ़ियां छोड़कर।

(६) उत्तराधिकार व दत्तक लेने सम्बन्धी नियमों में भी कुछ परिवर्तन किये गये हैं।

हिन्दू-कोड बिल के इन प्रस्तावों का जितना-विरोध या पक्ष-समर्थन किया गया है, उतना शायद किसी अन्य समाज-सुधार-सम्बन्धी बिल पर नहीं किया गया। इसका कारण यह है कि यह प्रस्ताव हिन्दू समाज की संपूर्ण व्यवस्था पर गहरा प्रभाव डालेंगे। लड़की को उत्तराधिकार व तलाक का अधिकार समस्त हिन्दू समाज में एक नई क्रांति कर सकते हैं। इसीलिए जहां एक वर्ग ने इनका समर्थन किया है, वहां दूसरी ओर से इसका विरोध भी कम नहीं हुआ। भारत के प्रधानमंत्री पं० जवाहरलाल नेहरू और न्यायमंत्री श्री अम्बेदकर के चोटी एड़ी तक ज़ोर लगा देने और पार्लमेण्ट में बीसियों दिन इस पर बहस करने (जिसके कारण ५२ लाख रु० से कम व्यय नहीं हुआ।) के बावजूद यह बिल बारम्बार स्थगित करने को विवश होना पड़ा।

इस बिल पर अपनी कोई सम्मति बनाने से पूर्व दोनों पक्षों की युक्तियां पर एक दृष्टि डाल लेना उचित होगा।

बिल के समर्थक

बिल के समर्थक कहते हैं कि न जाने कितने दीर्घकाल से पुरुष नारी पर जो अत्याचार करता आया है, उसका मुख्य कारण है नारी की असहायता तथा उसे पुरुष के समान स्थिति न देना। इसका दूसरा कारण है, विवाह बन्धन को अविच्छेद्य मानकर नारी को अन्धे लूले, नपुंसक, भयंकर रोग से रुग्ण तथा दुराचारी या अनेक स्त्रियों से विवाह करने वाले पति पर आजीवन निर्भर रखना। यही दो मुख्य कारण हैं, जिन से नारी की स्थिति हीन हो गई है। प्रस्तुत बिल इन कारणों का परिहार करता है। एक पत्नी विवाह के नियम बन जाने के बाद कोई पुरुष अपनी प्रथम पत्नी के रहते दूसरा विवाह करके उसका जीवन नष्ट नहीं कर सकेगा। अन्य सभी देशों में बहु-विवाह पहले ही

वर्जित है। बहु-विवाह अत्यन्त घृणित प्रथा है। नारी आर्थिक असहायता के कारण पुरुष पर निर्भर करती है। इसी कारण पुरुष उसकी असहायता का अनुचित लाभ उठाता है यदि पिता की सम्पत्ति में से उसे कुछ भाग मिलेगा, तो वह उतनी असहाय न रहेगी। दुराचारी वेश्यागामी पुरुष की पत्नी कितना कष्ट उठाती है, यह भुक्तभोगी ही जानती है। वेश्या के चरणों पर घर का सर्वस्व न्योछावर करने वाले पति पत्नी को रूखी रोटी भी नहीं देते और पत्नी विवाह सम्बन्ध की अविच्छेद्यता के नाम पर न वह घर ही छोड़ सकती है और न वह वहां रह ही सकती है। इसलिए बहु-पत्नी विवाह को अवैध ठहराना अनिवार्य था।

पुरुष स्त्री की आर्थिक असहायता या विवशता से लाभ उठाता है, इसलिए उसे यदि पिता की सम्पत्ति में से एक भाग मिले, तो वह उसे पहले की भांति असहाय नहीं रहने देगा। फिर कन्या भी तो पिता की उसी तरह सन्तान है जिस तरह पुत्र। कन्या को सम्पत्ति न देना उसके साथ घोर अन्याय है, सब कुछ घर में होते हुए भी विधवा को पुत्र के हाथ में छोड़ने से जो परिणाम होते हैं, वह कौन नहीं जानता ? इसलिए कानून के अनुसार विधवा की सहायता आवश्यक है।

एक दुराचारी, नपुंसक, कोढ़ आदि भीषण असाध्य रोगों से ग्रस्त पुरुष या स्त्री के साथ समस्त जीवन बिताना किसी को नरक में डाल देना है। इसलिए ऐसी विशेष परिस्थितियों में सम्बन्ध विच्छेद की अनुमति देना मानवता की दृष्टि से अनिवार्य ही है।

गोत्र के नाम पर आज बंगाल व बम्बई के योग्य युवकवर कन्या से विवाह नहीं कर सकते। एक गोत्र का विवाह न करने का यह अर्थ था कि निकट-सम्बन्धियों में विवाह न हो, किन्तु गोत्र तो हजारों मील दूर सदियों से रहने वालों में भी एक समान मिल जाता है। इसलिए उनमें पुरानी प्रथा को रखने का कोई अर्थ नहीं है।

विरोध का पक्ष

अब हम बिल के विरोधियों की युक्तियों पर भी एक दृष्टि डालना चाहते हैं। उनकी मुख्य युक्तियां निम्नलिखित हैं—

हिन्दू घरों में पुत्र की भांति कन्या का पिता की आर्थिक सम्पत्ति में अधिकार न होते हुए भी उसे पिता और भाई यथाशक्ति कुछ न कुछ देते ही रहते हैं—कभी दहेज के नाम पर, तो कभी किसी पर्व, त्योहार, सन्तान उत्पन्न होने के नाम पर। रक्षा-बंधन व भैया-दूज के त्योहारों पर लड़की आजीवन प्रति वर्ष कुछ न कुछ लेती है। पिता ही नहीं, भाई को जिस स्नेह के बंधन में हिन्दू-समाज ने बांध लिया है, उसका उदाहरण किसी दूसरे समाज में नहीं मिलेगा। कानून से ऊपर परम्परा है। लेकिन कानून बनाकर जब आप कन्या को सम्पत्ति की उत्तराधिकारिणी बनायेंगे तो यह स्नेह सम्बन्ध समाप्त हो जायगा, फिर दहेज या कन्या-दान के अवसर पर उसे कुछ न दिया जायगा। आज जैसे भाई-भाई सम्पत्ति के लिए लड़ते हैं, उसी तरह भाई-बहन में भी परस्पर विरोध और संघर्ष हो जायगा। भाई-बहन का परस्पर सम्बन्ध जितना निश्छल और पवित्र है, उतना ही वह कटु हो जायगा। इसका एक और परिणाम भी होगा। आज तो कन्या तलाश करते समय घर का भरा हुआ देखा जाना पसन्द किया जाता है, फिर यह देखा जायगा कि किस घर में भाई या बहिनें कम हैं, ताकि वह अपने साथ पिता की अधिकाधिक सम्पत्ति लावे। पिता के घर से सम्पत्ति लाकर भी तो घर को आर्थिक दृष्टि से मजबूत नहीं बनाया जा सकेगा, क्योंकि पति की बहिनें भी तो अपना-अपना भाग ले जायेंगी। वस्तुतः कोड बिल के समर्थक नारी और पुरुष को एक इकाई के रूप में नहीं देखते। वह उसका परस्पर असम्बद्ध पृथक्-पृथक् इकाइयों के रूप में देखते हैं और इसलिए घर के हानि-लाभ की चिन्ता न करते हुए स्त्री के व्यक्तिगत धन पर ही दृष्टि रखते हैं। इसलिए क़ानून के द्वारा पुत्री को सम्पत्ति का भाग देने की अपेक्षा परम्परा से हमेशा उसकी सहायता करते रहना ही लड़की की दृष्टि से अधिक अच्छा है। आज तो विधवा या असहाय होने पर लड़की

अपने माता-पिता और भाइयों की शरण पा तो लेती हैं। किन्तु एक बार कानून के द्वारा जायदाद में से हिस्सा बटाकर वह भाइयों के सामने किस तरह भीख का आंचल पसार सकेगी ? समानाधिकार के संघर्षमय दृष्टिकोण से विचार करने वाली नारी आज यह सब दुष्परिणाम भी नहीं देख पा रही है।

सम्बन्ध विच्छेद को कानूनी रूप देकर आज पश्चिमी नारी नपुंसक, दुराचारी और असाध्य रोग ग्रस्त पति से मुक्ति पाने को उत्सुक है, किन्तु वह यह भूल जाती है कि तलाक की यह तलवार उसके सिर पर भी पड़ सकती है। पुरुष ही नपुंसक नहीं होता, स्त्री भी बंध्या होती है। पुरुष ही असाध्य रोगों से ग्रस्त नहीं होता, स्त्री भी क्षय और कुष्ठ की शिकार होती है। स्त्री पुरुष को तलाक देगी, पुरुष दूसरा विवाह कर सकेगा, उसे कठिनता न होगी, किन्तु स्त्री को जब पुरुष अयोग्य समझ कर तलाक देगा, तो उस दुराचारिणी, वेश्या या असाध्य रोगों से ग्रस्त नारी की तो सिवाय अनाथालय या गंगा में डूब मरने के और कोई गति न होगी। ऐसे समय जब जीवन-संगी को सहायता की अधिक आवश्यकता होती है, तो उस समय उसे छोड़ देना अमानवता है, हृदयहीनता है। विवाह धार्मिक सम्बन्ध है, अग्नि को साक्षी रखकर किया जाता है। वह एक आर्थिक ठेका नहीं है।

गोत्र और जायदाद सम्बन्धी कानून भी हिन्दू-शास्त्रों की परम्परा के विरुद्ध माने जाते हैं।

मार्ग मध्य में

दोनों पक्षों का इन युक्तियों को पढ़कर यह विचार किया जा सकता है कि हिन्दू-कोड बिल कैसा है। हमारी सम्मति में विधवा को जायदाद का अधिकार मिलना चाहिए, क्योंकि वह पति का एक अंग थी। आजकल, जबकि पुत्र विवाह के बाद अपनी नई दुनिया में मस्त हो जाते हैं, विधवा मां की रक्षा के लिए इसकी व्यवस्था आवश्यक है, किन्तु पुत्री को सम्पत्ति देकर सब सुविधाओं और परम्परागत अधिकारों से वंचित कर देना उस पर घोर अत्याचार होगा। इसी तरह एक पत्नी-विवाह भी अच्छा है, किन्तु कुछ एक अपवाद

उसमें अवश्य रखने होंगे। एक वंध्या स्त्री के रहते हुए दूसरा विवाह करना इतना आपत्ति जनक नहीं है, जितना कि उसे तलाक देकर सर्वथा असहाय बना कर दूसरा विवाह करना। गोत्र सम्बन्धी बिल की धारा में हमें कोई आपत्ति नहीं दीखती। तलाक की स्थिति बहुत विचारणीय है। इसे और भी अधिक कठोर बनाना चाहिए, जिससे पुरुष झूठे सच्चे मुकदमे बनाकर नारी को परेशान न कर सके। यदि विवाह से पूर्व ही डाक्टरी परीक्षा द्वारा यह देख लिया जाय कि कोई रोगी तो नहीं है, कोई अनमेल आयु का तो नहीं है, विपरीत स्वभाव के तो नहीं है, तो विवाहित जीवन अच्छा और सुखी रह सकता है।

मनुष्य का मन चंचल रहता है, इसलिए उसे बंधनों में बांध रखने की आवश्यकता है। प्राचीन शास्त्रकारों ने इसीलिए विवाह को अविच्छेद्य और धार्मिक घोषित किया था। छोटे-मोटे झगड़ों के बाद भी अविच्छेद्यता उन्हें परस्पर मिलाती थी। आज तलाक की संभावना उन्हें थोड़े से भी झगड़े के बाद अलग होने की प्रवृत्ति को भड़कायगी। पश्चिम में व्यक्ति को समाज पर और अधिकार को कर्त्तव्य पर महत्त्व देने की प्रवृत्ति ही हिन्दू-कोड बिल का कारण है। इसे दूर करके प्राचीन परिपाटी में कुछ आवश्यक सुधार कर देने से आज की विषम अवस्थाएं दूर हो सकती हैं।

पराधीन सपनेहुं सुख नाहीं

रूपरेखा

१—मानव जीवन का लक्ष्य मोक्ष—सब प्रकार के बन्धनों से मुक्ति—प्रे० रूज़वेल्ट के चार अभाव।

२—स्वातंत्र्य की भावना मानव में, प्राणीमात्र में स्वाभाविक—परतंत्र करने और स्वतंत्र होने की दोनों सत् और असत् प्रवृत्तियां।

३—भारत में स्वातंत्र्य की अमर भावना – इतिहास पर एक दृष्टि—अन्य देशों का इतिहास भी स्वातंत्र्य का इतिहास।

४—पराधीनता मानव के सब गुणों को नष्ट करती है।

५—राजनैतिक दासता ही नहीं, आर्थिक दासता से भी मुक्ति आवश्यक है।

५—सबसे बड़ी स्वतंत्रता आत्मा की आन्तरिक शत्रुओं से मुक्ति और मोक्ष प्राप्ति।

मानव जीवन का लक्ष्य

मानव जीवन का लक्ष्य हमारे शास्त्रकारों में मोक्ष माना है। मोक्ष का अर्थ है—मुक्ति, किसी भी प्रकार के बन्धन से छुटकारा। यह बन्धन क्या है, इसका स्वरूप और व्यापक क्षेत्र क्या है, इसको समझने वाला विचारक बन्धन के स्वरूप से मुक्त होने के लिए प्रयत्न करता रहता है। साधारण मनुष्य भौतिक स्थूल बन्धनों से मुक्ति चाहता है और उच्च-चरित्र मानव भाव-बन्धनों से मुक्ति चाहता है।

पिछले दिनों अमेरिका के राष्ट्रपति प्र० रूज़वेल्ट ने चार प्रकार के अभावों

ने मुक्ति का नारा लगाया था। भोजन आदि जीवनोपयोगी पदार्थों की कमी, विचार स्वातंत्र्य की कमी राजनैतिक स्वातंत्र्य की कमी—सब अभाव इन्हीं चार अभावों के अन्तर्गत हो जाते हैं। वस्तुतः मुक्ति या स्वातंत्र्य की भावना अत्यन्त स्वाभाविक है। अच्छे से अच्छा भोजन करता हुआ पिंजरे में बन्द तोता वन-विहारी तोते के जीवन को ईर्ष्या भरी दृष्टि से देखता है। मंगलमय भगवान् ने मानव में चिन्तन की जो शक्ति दी है, वह उसे बन्धन तोड़कर स्वतंत्र-विचरण की प्रेरणा देती है। वह चारों ओर उड़ना चाहता है। जब कहीं से बन्धन देखता है, तो उसे कष्ट प्रतीत होता है, यदि उसमें कोई शक्ति होती है, उत्साह होता है, तो संघर्ष करके भी उस बन्धन को तोड़ना चाहता है। मातृभूमि की स्वतंत्रता के लिए हजारों वीरों ने इसी भावना से अपनी मातृभूमि की बलिवेदी पर हंसते-हंसते प्राण देकर मृत्यु का आलिंगन किया है।

दो प्रवृत्तियां

मानव में एक साथ दो सत् और असत् प्रवृतियां काम कर रही हैं। एक सत्प्रवृत्ति है स्वतंत्र रहने का और दूसरी असत् प्रवृत्ति है स्वयं किसी दूसरे को अपने अधीन करने की। वह एक ओर स्वयं स्वतंत्र होने का संघर्ष करता है, दूसरी ओर वह अपने स्वार्थ साधन के लिए दूसरों की स्वाधीनता अपहरण करने की चेष्टा करता है। प्रायः समस्त संसार का राजनैतिक इतिहास मानव की इन्हीं दो सत् व असत् प्रवृत्तियों की व्याख्या मात्र है। एक देश या जाति महत्वाकांक्षा से प्रेरित होकर दूसरे देश और जाति को पराधीन करने का प्रयत्न करता है और दूसरा देश विदेशी शासन से मुक्त होने के लिए संघर्ष करता है। कभी सत् की विजय होती है और कभी असत् की।

भारत में स्वातंत्र्य की अमर भावना

भारतवर्ष का इतिहास इस बात का प्रमाण है। यहां विदेशियों ने भी आक्रमण किये और आन्तरिक छोटे मोटे राजाओं ने भी समस्त भारत पर अपने बाहुबल से छा जाना चाहा। वे सफल भी हो गये और कम या अधिक समय के लिए उनका देश के एक बड़े भाग पर अधिकार भी हो गया।

पिछली कई सदियों से भारत को परतंत्रता का कष्टमय जीवन भोगना पड़ा। किन्तु इस समस्त अन्धकार युग में भी भारत की आत्मा स्वातंत्र्य का ज्योतिर्मय दीपक जलाये रही। बहुत समय पूर्व यहां शकों, हूणों और यूचियों आदि ने आक्रमण किये थे, किन्तु उन्हें या तो भागना पड़ा अथवा यहीं विशाल आर्यजाति के स्वरूप में विलीन हो जाना पड़ा। इससे भी पूर्व ग्रीकों सैमिरैमिस और सिकन्दर तथा सैल्यूकस के भारत पर आक्रमण हुए, किन्तु वीर भारतीयों की स्वातंत्र्य भावना ने उन्हें लौटने पर विवश किया। बहुत समय बाद सिन्ध में दाहर राजा पर कासिम ने आक्रमण किया। वह कुछ सफल हुआ, किन्तु वह स्थिर न रह सका। सिन्ध पर हिन्दुओं का फिर अधिकार हो गया। महमूद गज़नी ने आक्रमण किये, किन्तु वह यहां स्थिर न रह सका। उसे बार-बार भागना पड़ा। मुहम्मद गौरी के आक्रमणों के बाद भारत मुसलमानों के अधीन हो गया। छः सात सदियों तक मुस्लिम शासन रहा, किन्तु यह शासन भी भारतीयों की स्वातंत्र्य भावना को दबा नहीं सका। राणा सांगा, राणा प्रताप, शिवाजी आदि वीर नेता समय-समय पर देश में मुस्लिम शासन का जुआ उतार कर राष्ट्रीय स्वातंत्र्य की ज्योति जगाते रहे। भारत को अभी दुर्दिन देखने थे। मुस्लिम शासन कमज़ोर हो गया था, एक झटके से टूटने वाला था कि अंग्रेज़ आ धमके। अंग्रेज़ों ने भारत को राजनैतिक शृङ्खलाओं के साथ-साथ मानसिक शृङ्खलाओं में भी बांध दिया, किन्तु स्वातंत्र्य की भावना अमर थी। अंग्रेज़ उसे नष्ट न कर सके। १८५७ में इस भावना के दर्शन देश ने किये और उसके बाद ऋषि दयानन्द ने स्वातंत्र्य का सन्देश दिया। सैंकड़ों क्रान्तिकारी वीर स्वातंत्र्य की वेदी पर बलि हो गये। कांग्रेस ने स्वराज्य संग्राम का नेतृत्व किया। आज भारत स्वतंत्र है।

अन्य देशों में भी

जो इतिहास भारत का है, वही थोड़े बहुत भेद से अन्य देशों का भी है। इंगलैण्ड व अमरीका ने भी स्वातंत्र्य युद्ध किये हैं और फ्रांस, जर्मनी आयर्लैंड, चीन, टर्की, मिश्र आदि देशों ने भी। स्वतंत्रता वस्तुतः इतनी अमूल्य है कि

उसके बिना कोई राष्ट्र चिरकाल तक जीवित रह ही नहीं सकता। पराधीन राष्ट्र या समाज अपने सब गुणों को खो देता है। पराधीन राष्ट्र की आत्मा, मस्तिष्क और मन सबका पतन हो जाता है। उसका चरित्र गिर जाता है। उसकी शक्ति, उसका आत्माभिमान और सर्वस्व नष्ट हो जाता है। पद-पद पर विजेता या विदेशी शासक के द्वारा उसका अपमान होता है। पराधीनता की सीमा तब बहुत बढ़ जाती है, जबकि पराधीन व्यक्ति स्वयं अपने को हीन, तुच्छ और क्षुद्र समझने लगता है। अंग्रेज़ी शासन में शिक्षित भारतीय प्रत्येक बात में अपने को हीन समझने लगा था। न वह अपने साहित्य को प्रेम करता था, न भाषा और धर्म को। वह अपनी संस्कृति भूल गया था। वह यूरोप की नकल में अपने को धन्य मानता था। यह पराधीनता का शाप था।

मानसिक और आर्थिक क्षेत्र में

जब हम पराधीन या स्वतंत्र कहते हैं, तब साधारणतया राजनैतिक पराधीनता या स्वतंत्रता का ही हमें बोध होता है। किन्तु वस्तुतः स्वतंत्रता या पराधीनता का क्षेत्र इससे बहुत व्यापक है। मानसिक शत्रु—काम, क्रोध, लोभ और मोह आदि भी आज हमारे समाज को परतन्त्र किये हुए हैं। मानव आत्मा का मोक्ष तब तक नहीं हो सकता, जब तक वह इन शत्रुओं का भी दमन न कर ले। शरीर, मन, बुद्धि और आत्मा के पूर्ण विकास का ही नाम पूर्ण स्वतंत्रता है। शारीरिक और राजनैतिक स्वतंत्रता तो इसका एक अंश मात्र है, उसकी पहली सीढ़ी है। राजनैतिक परतंत्रता हमारे सामाजिक विकास में भी बाधक है, इसलिए उसे सबसे पहले दूर करना आवश्यक है। किन्तु वही अन्तिम लक्ष्य नहीं है। आर्थिक स्वतंत्रता भी आवश्यक है और मानसिक व आत्मिक स्वातंत्र्य भी। अभी हमें ये स्वातंत्र्य प्राप्त नहीं हैं। आज भी हम मानसिक दासता में जकड़े हुए हैं। अंग्रेज़ी भाषा, अंग्रेज़ी सभ्यता व संस्कृति और अंग्रेज़ी रहन-सहन ने हमें और हमारे मन व आत्मा को अभिभूत कर रखा है। इनसे मुक्ति पाये बिना हम स्वतंत्र नहीं हो सकते।

मोक्ष में सच्ची स्वतंत्रता

आर्थिक व मानसिक स्वातंत्र्य के बाद हमें इस संसार के भौतिक बन्धन से ऊंचा उठकर अपने आत्मा का विकास करना होगा। मानव आत्मा स्वतंत्र है, अनन्त शक्ति सम्पन्न है। "आत्मानं विद्धि"। जिस दिन मानव आत्मा को पहचानेगा, उस दिन वह संसार के सब बन्धनों को तोड़ देगा, वह अपने को अपने शरीर तक सीमित नहीं मानेगा, समस्त मानव और प्राणीमात्र में अपने को व्यापक देखेगा, तब वह किसी की पीड़ा दुःख को सहन नहीं करेगा और वह केवल अपनी मुक्ति नहीं चाहेगा, मानव मात्र की उन्नति चाहेगा। यही कारण है कि संसार के सब महान् आत्मा अपने को ही सुख का लक्ष्य न मानकर जाति के उद्धार के लिए प्रयत्न करते हैं। उनका आदर्श सब से उठकर अपना समाज और देश होता है। फिर वह समस्त मानव में विश्व बंधुत्व को देखते हैं और अन्त में प्राणिमात्र के साथ तादात्म्य अनुभव करते और परमात्मा में लीन हो जाते हैं, यही उनके लिए सच्चा स्वातंत्र्य है।

हिन्दू धर्म का विराट् स्वरूप

रूपरेखा

१—सब धर्म और संस्कृतियाँ मिट गईं, पर हिन्दूधर्म या आर्य धर्म अभी तक स्थिर—हिन्दू शब्द।

२—हिन्दूधर्म का व्यापक क्षेत्र—सभी मतमतान्तर हिन्दूधर्म में—विरोधी तत्वों का अद्भुत समन्वय—हिन्दूधर्मरूपी विशाल वृक्ष की छाया में सभी का आश्रय रवीन्द्र की उक्ति—अनेकता में एकता के दर्शन।

३—हिन्दूधर्म सभी श्रेणियों का धर्म—सभी की आवश्यकता-पूर्ति।

४—हिन्दू की व्याख्या—लो० तिलक, श्री सावरकर के लक्षण।

५—हिन्दूधर्म के सामान्य पांच सिद्धान्त—सर्वात्मभाव, सर्वभूतहित, पुनर्जन्म, वर्णाश्रम और गोरक्षा।

एक भजन हममें से प्रायः सबने सुना होगा कि—

यूनान मिश्र रोमां सब मिट गये जहां से।
बाकी मगर अभी तक नामो निशां हमारा॥

फलतः यह इतिहास की एक बड़ी सचाई है। इस रहस्य का उत्तर हमें हिन्दू धर्म के विराट् स्वरूप में मिलता है। हिन्दू नाम कब से चला इसमें मतभेद हो सकता है, किन्तु यह निश्चित है कि हमारा प्राचीन नाम आर्य था। ऋषि दयानन्द ने हिन्दू शब्द के स्थान पर प्राचीन आर्य शब्द प्रयुक्त करने का परामर्श दिया, फिर भी हिन्दू नाम ही आजकल अधिक प्रचलित है।

हिन्दू धर्म का स्वरूप क्या है, इस सम्बन्ध में कुछ भी निश्चित रूप से कहना कठिन है, क्योंकि वह बहुत विस्तृत और व्यापक धर्म है। उसमें एक ओर ईश्वर को न मानने वाले बौद्ध हैं, जैन हैं, दूसरी ओर वैष्णव और शैव भी उसी के अन्तर्गत हैं। मूर्तिपूजा एक ओर उसका प्रधान अंग है, दूसरी ओर निराकार परमात्मा की पूजा करने वाला आर्यसमाज भी उसी का एक अंग है। प्रकृति और पुरुष को मानने वाले द्वैतवादी प्रकृति, आत्मा और परमात्मा को मानने वाले त्रैतवादी और समस्त संसार को मिथ्या कहकर एकमात्र ब्रह्म मानने वाले अद्वैतवादी सभी हिन्दू धर्म के विशाल वट-वृक्ष के नीचे आश्रय पाते हैं। यह कम आश्चर्य की बात नहीं है कि चार्वाक और वाममार्ग जैसे भौतिक मतावलम्बी और मोक्ष की चर्चा करने वाले चरित्रवान् ब्राह्मण दोनों हिन्दू धर्म के अन्तर्गत आ सकते हैं। हिन्दू धर्म का एक ग्रन्थ नहीं है। वेद, ब्राह्मण, उपनिषद् गीता, पुराण, नानाविध स्मृतियां, गुरु ग्रन्थ साहब, सन्तों की वाणियां सभी परस्पर विरुद्ध होती हुई भी हिन्दू धर्म के विस्तृत और व्यापक क्षेत्र के अन्तर्गत होने का अधिकार रखती हैं। कुछ ऐतिहासिकों को तो सन्देह है कि यदि मुसलमान अत्याचारी विजेता बनकर तलवार के साथ

कुरान का प्रचार न करते, तो उनको भी शायद हिन्दू धर्म में उसी तरह विलीन कर लिया जाता, जिस तरह आज से डेढ़-दो सहस्र वर्ष पूर्व आने वाले यूची, कुशाण और हूण हिन्दू जाति के विशाल व उदार परिवार में विलीन हो गये। श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने हिन्दू धर्म की इस विशेषता को महत्त्व देते हुए कहा है कि हमारे प्राचीन ऋषि अनेक में एक का दर्शन करते थे। उनकी दृष्टि भेद की अपेक्षा समानता पर अधिक जाती थी। यही कारण है कि जब रोमन, सुमेरियन और मिश्री सभ्यताएं लुप्त हो गईं, भारत की सभ्यता अपनी इस विशेषता के कारण युग की नई परिस्थितियों के अनुकूल अपने को ढालती हुई आज तक स्थिर रही है।

इन सब कारणों से हिन्दूधर्म का रूप बहुत विराट् हो गया है। यह केवल आदर्शों और सिद्धान्तों का प्रतिपादन करने वाला तात्त्विक धर्म नहीं रहा, बल्कि सब प्रकार की श्रेणियों, पंक्तियों तथा विविध स्थितियों के लोगों को उनके लक्ष्य तक पहुंचाने वाला व्यावहारिक या असली धर्म हो गया है। एक से लेकर अनेक तक, छोटे से लेकर बड़े तक, राजा से लेकर रंक तक, मूर्ख से लेकर पण्डित और तत्वदर्शी तक, स्त्री पुरुष, बालक-वृद्ध सब की सुविधाओं, आवश्यकताओं और कठिनाइयों का विचार उसमें रखा गया है। इसलिए उसका रूप विविध और जटिल हो गया है। श्री हरिभाऊ उपाध्याय के शब्दों में "बड़े से बड़े तत्वदर्शियों से लेकर अबोध किसान, मजदूर, स्त्री, बालक तक की भूख मिटाने की सामर्थ्य उसमें है तत्वजिज्ञासुओं के लिए हिन्दू धर्म में गंभीर दर्शन ग्रन्थ तथा भगवद् गीता विद्यमान है, जीवन को पवित्र और उच्च बनाने वालों के लिए स्फूर्तिदायी उपनिषत् विद्यमान है, कर्म काण्डियों और याज्ञिकों के लिए विधिनिषेधात्मक वेद तथा स्मृति ग्रन्थ है, भक्तों और भावुकों के लिए रसमयी रामायण महाभारत हैं, अज्ञों व अल्पज्ञों के लिए कथा कहानियों व पुराणों से भरे हुए पुराण आदि ग्रन्थ हैं तथा समाज और राज्य संचालकों के लिए महाभारत व मनुस्मति आदि हैं। साहित्य रसज्ञों व काव्य-जिज्ञासुओं के लिए भी काव्यों की कमी नहीं है।"

फिर भी यह तो नहीं कहा जा सकता कि हिन्दूधर्म की कोई सीमा नहीं।

आखिर संसार के सभी धर्म तो हिन्दू-धर्म के अन्तर्गत नहीं आ सकते। ईसाई और मुसलमान को तो हिन्दू नहीं कहा जा सकता। कोई एक ऐसा सूत्र तो होगा, जिसमें हिन्दू-धर्म के इन सब विविध रत्नों को पिरोया जा सके। हिन्दू का कोई एक लक्षण तो करना ही होगा।

इस सम्बन्ध में विविध विद्वानों ने हिन्दूधर्म के अलग-अलग लक्षण किये हैं। प्राचीन शास्त्रकारों ने तो धर्म की व्याख्या की थी—'यतोऽभ्युदय निःश्रेयस-सिद्धिः स धर्मः, जिसके द्वारा मनुष्य को सब प्रकार का सांसारिक सुख-वैभव प्राप्त हो और उसके साथ आध्यात्मिक सुख शान्ति भी मिले, वह धर्म है, अर्थात् लोक व परलोक के साधक मार्ग को धर्म कहते हैं, धर्मतत्त्व, धर्मशास्त्र, नीतिनियम, स्वास्थ्य साधन, शिक्षा विधान, राज तथा समाज नियम सभी का समावेश इस धर्म में होता है। यज्ञ, जप-तप और ईश्वर-प्राप्ति ही नहीं, माघ और पौष में नदी-स्नान भी हिन्दूधर्म का अंग है। परन्तु अनेक अर्वाचीन विद्वानों ने हिन्दू-धर्म का लक्षण और अधिक स्पष्ट लक्षण करने का यत्न किया है। लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक ने कहा है—

प्रामाण्यबुद्धिर्वेदेषु उपासनानामनेकता

अर्थात् वेद और देवी-देवताओं की उपासना मानने वाला हिन्दू कहाता है। परन्तु यह व्याख्या जैनों, बौद्धों, सिखों व आर्य-समाजियों को हिन्दू मानने से इन्कार कर देती है। देशभक्त श्री सावरकर ने हिन्दू का यह लक्षण किया है कि जो भारतवर्ष को अपनी मातृभूमि व पुण्यभूमि मानता हो, वह हिन्दू है। इस लक्षण से भारत में पैदा होने वाले सभी धर्म हिन्दू कहलायेंगे। पिछले दिनों हिन्दू महासभा में यह विचार प्रकट किया गया कि भारतवर्ष को—हिन्दुस्तान को अपनी मातृभूमि मानने वाला हिन्दू है। इसके अनुसार प्रत्येक भारतभक्त मुसलमान व ईसाई भी हिन्दू कहलायगा। लेकिन यह व्याख्या बहुत कम को पसन्द आई है। यह तो भारतीय की व्याख्या है, हिन्दू की नहीं। इसलिए हमें हिन्दू की ऐसी व्याख्या करनी चाहिए, जिसमें न अव्याप्ति दोष हो और अतिव्याप्ति दोष। एक विद्वान् ने हिन्दूधर्म के निम्नलिखित अनिवार्य पांच अंग बताये हैं—

(१) सर्वात्मभाव
(२) सर्वभूत हित
(३) पुनर्जन्म
(४) वर्णाश्रम और
(५) गोरक्षा।

इन पांच सिद्धान्तो को मानने वाला हिन्दू है। इन पांचो के सम्बन्ध मे कुछ अधिक विस्तार से विचार करने की आवश्यकता है।

सब मानवों और प्राणियों में एक आत्मा का दर्शन करना हिन्दूधर्म की विशेषता है। समस्त-विश्व में एक आत्मा, एक शक्ति या परमात्मा का दर्शन सभी हिन्दू करते हैं। इसी लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए प्रत्येक हिन्दू प्राणिमात्र के हित में लगा रहता है। उसके हित का क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत है और उसे किसी स्थान, देश या जाति तक सीमित नहीं किया जा सकता। समाज, देश व राष्ट्र की सेवा और परोपकार आदि सद्भाव और सत्कार्य सब उसके लिए आवश्यक हैं।

ये दोनों सिद्धान्त अन्य धर्मों मे भी मिल सकते हैं, किन्तु पुनर्जन्म, वर्णाश्रम और गोरक्षा के तत्त्व उसे अन्य सम्प्रदायो से पृथक् करते हैं। पुनर्जन्म का सिद्धान्त हिन्दू को परलोक सुधारने के लिए प्रलोभन भी देता है। हिन्दू का कार्य केवल इस जीवन तक समाप्त नही हो जाता, उसे आगामी जन्म भी सुधारने के लिए आज प्रयत्न करना पडता है। अन्य धर्म केवल इस जीवन को देखते हैं और भौतिक उन्नति को अपना लक्ष्य मानते हैं। किन्तु पुनर्जन्म का सिद्धान्त हिन्दू को इस संसार में निरन्तर आते रहना और इसलिए भविष्य की चिन्ता भी सिखाता है। वर्णाश्रम तो हिन्दूधर्म की अपनी चीज़ है। यह हिन्दू समाज का प्राण रूप हो गया है। गोरक्षा हिन्दूधर्म को अन्य सब सम्प्रदायों से पृथक् करती है। सर्वभूतहित के अन्तर्गत गोरक्षा को ले सकते हैं, किन्तु गोरक्षा इतना लोकप्रिय सिद्धान्त है कि यह आसानी से कहा जा सकता है कि यह हिन्दूधर्म की सबसे बड़ी विशेषता है।

कुछ महत्वपूर्ण निबन्धों की रूपरेखाएं

युद्ध से हानि लाभ

युद्ध से भीषण विध्वंस यूरोपीय युद्ध की कल्पनातीत क्षति—रोमांचकारी दृश्य—बार बार ऊबर कर फिर मानव युद्ध में लिप्त हो जाता है।

आखिर यह क्यों ? युद्ध मानव की स्वाभाविक वृत्ति—संभवतः पशुओं से विकास के कारण मानव में पशुत्व अन्तर्निहित है।

सृष्टि के आदि काल से युद्ध—देवासुर-संग्राम राम रावण में युद्ध, महाभारत तथा उसके बाद आज तक युद्ध ही युद्ध—समस्त देशों का इतिहास युद्ध व रक्तपात से पूर्ण— बच्चे भी परस्पर लड़ाई करते हैं।

युद्ध मानव जीवन की आवश्यकता—संघर्ष में ही जीवन है—अनेक गुणों का विकास युद्ध के द्वारा होता है—हिटलर व नैपोलियन के उदाहरण।

युद्ध विज्ञान को प्रगति देता है—आज के बड़े बड़े प्रमुख अविष्कारों का जन्म प्रायः युद्ध काल में युद्ध के समय प्राप्त शक्ति कल्याण के काम में।

युद्ध के कारण अतिरिक्त जनसंख्या का नाश—युद्ध प्रकृति की सुन्दर परन्तु कठोर देन। युद्ध न होते तो पृथिवी बहुत पहले निवासयोग्य न बचती।

आत्म-रक्षा व स्वाधीनता के लिए युद्ध—चीनियों से युद्ध न करते तो वह हमें परास्त करते—गीता में कृष्ण का उपदेश—

तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय विगतज्वरः।

युद्ध शक्ति को संग्रह करने की प्रेरणा देता है। प्रकृति संघर्ष और युद्ध का उपदेश देती है। बीज प्रकृति से संघर्ष करके, पृथ्वी को फोड़कर बाहर निकलता है; नदी पत्थरों से युद्ध कर मार्ग बनाती है। मानव को प्रकृति पर विजय पानी पड़ती है—

परन्तु युद्ध से हानियां भी कम नहीं--विध्वंस और विनाश की भयंकर लीला--दुध-मुंहे बच्चे और बूढ़े नर-नारी सभी कराल काल के गाल में--मानव के शान्त चरित्र व करुणा, दया आदि सुन्दर गुणों का ह्रास।

मनुष्यत्व दानव से देव बनने को प्रयत्नशील--यही इतिहास का सार--किन्तु युध उसे फिर दानव बना देता है--वह निर्माण की अपेक्षा विध्वंस की दिशा में।

युद्ध में करोड़ों अरबों रुपये की क्षति-- सभ्यता का विनाश--सैंकड़ों साल में बने हुए नगर क्षण में भस्मसात्—परमाणु-बम हिरोशिमा व नागासाकी पर।

ब्रह्म-बल क्षात्र-बल से अधिक श्रेष्ठ है—संसार में ईर्ष्या व संघर्ष से प्रेम और शान्ति उत्कृष्ट हैं।

म. बुद्ध, ईसा, गांधी का नाम सिकन्दर. नैपोलियन और हिटलर की अपेक्षा सदा अमर रहेंगे। आत्मिक विकास सब में अपने को देखने और विश्व-बंधुत्व से होता है। यही जीवन का लक्ष्य है।

धन का सदुपयोग

अमेरिकन करोड़पति राकफैलर की उक्ति—रुपया कमाना उतना कठिन नहीं, जितना उसका सदुपयोग— सचमुच यह उक्ति सत्य है।

धन की महत्ता—कुछ उद्धरण—धन के कुछ लाभ।

किन्तु धन का उद्देश्य केवल धन नहीं—निर्जन द्वीप में करोड़ों रु० भी व्यर्थ हैं—धन साधन है सुख प्राप्ति का।

परन्तु सुख किस का, व्यक्ति का या समाज का ?—व्यक्तिगत सुख भी कौन सा—विलासमय जीवन या ऊंचा चरित्र ?—विदेह राजा का जीवन—राजाओं के सम्बन्ध में प्राचीन उक्ति – सूर्य की तरह पानी खींचकर फिर वर्षा के रूप में दान—सम्पन्न लोग भी समाज के ट्रस्टी हैं, गांधी जी की उक्ति—]

धन कहां से आता है—समाज की जेब से—भले ही परिश्रम अपना हो—व्यापार व्यवसाय द्वारा संपत्तिशाली, उद्योगपति जनता से लाभ उठाता है—इसलिए धन उसकी व्यक्तिगत संपत्ति भले ही हो, किन्तु इसका उपयोग समाज के लिए।

परन्तु समाज के लिए धन के उपयोग में भी विवेक—पात्र को दान, न कि अपात्र को—अच्छी भूमि में डाला बीज सैंकड़ों गुणा होकर फलता है, ऊसर भूमि का बीज व्यर्थ जाता है—साधु-वेश धारी अयोग्य व्यक्तियों, मन्दिरों को शानदार इमारतों आदि का दान व्यर्थ—शिक्षा, स्वास्थ्य, दरिद्र की सेवा उचित - "दरिद्रान् भर कौन्तेय" (गीता)।

धन का समान वितरण हो—अन्यथा संघर्ष, साम्यवाद की विद्रोही भावना का जन्म—

मितव्यय अच्छा किन्तु व्यर्थ संचय या कंजूसी भी बुरी—

दानं भोगो नाशस्तिस्रो गतयो भवन्ति वित्तस्य।
यो न ददाति न भुंक्ते तस्य तृतीया गतिर्भवति ॥

जितनी आमदनी-उतना खर्च, (जितनी चादर उतने पैर पसारो)

धन का कोई भाग भी समाज या अपने को हानि पहुंचाने वाला न हो—धन के सामूहिक भोग में आनन्द भी होता है।

मन के हारे हार है, मन के जीते जीत

रवीन्द्रनाथ की एक प्रसिद्ध कविता एकला चालो रे—महान् अकेले ही चलते हैं और पीछे दुनिया साथ हो जाती है—म० बुद्ध और भगवान् महावीर अकेले चले थे—कुछ समय में लाखों व करोड़ों अनुयायी हो गये।

ऋषि दयानन्द ने हरिद्वार में अकेले पताका गाढ़ी थी—उनका सन्देश देशव्यापी हो गया—म० गांधी अकेले सत्याग्रह के लिए तैयार हुए, समस्त देश पीछे हो गया - उनका एक पग जिधर चला, चले कोटि पग उस ओर।

बड़े बड़े वैज्ञानिक और आविष्कारक अकल्पित बाधाओं को जीत गये। पर महापुरुषों की इस सफलता का रहस्य—उनका मानसिक दृढ़ संकल्प—उन्होंने अपने मन पर विजय पा ली—मन के आगे हारे नहीं।

मन सब से चंचल—"चंचलं हि मनः कृष्ण"—इस पर पूर्ण वश—मन परमाणु बम से भी अधिक शक्तिशाली, किन्तु तभी, जब वश में हो, काबू से बाहर मन जैसा कोई शत्रु नहीं—बेकाबू घोड़ा सवार को पटक देता है और वशीकृत घोड़ा लक्ष्य पर ले जाता है।

मन पर विश्वास से शतगुणित शक्ति—निराश व्यक्ति कुछ नहीं कर सकता—कार्य का प्रारम्भ ही उसके लिए असंभव—नेतृत्व के लिए आत्म-विश्वास और मनोविजय आवश्यक—हिम्मते मर्दा मददे खुदा।

आज मानव ने प्रकृति पर विजय प्राप्त कर ली है - वैज्ञानिक शक्ति प्राप्त कर ली है। किन्तु मन उसके वश से बाहर - वह उच्छृंखल मन के वश में—पूंजीवाद, साम्राज्यवाद और युद्ध तथा अनैतिकता, दुराचार और व्यसनों का शिकार।

मन एव मनुष्याणां कारण बन्धमोक्षयोः।

भारत का उज्ज्वल भविष्य

संसार एक चक्र की भांति—उत्थान और पतन का चक्र—बड़े-बड़े शक्तिशाली देश निःशक्त और दुर्बल—कमजोर राष्ट्र प्रबल हो जाते हैं—कुछ उदाहरण।

भारत के साथ भी यही—किसी समय का जगद्गुरु और सर्वोन्नत भारत पराधीन, दलित और अवनत होगया।

पर आज भारत के भाग्य फिर जागे—महान् आत्माओं को श्रेय—सामाजिक, आर्थिक सांस्कृतिक और राजनैतिक सभी क्षेत्रों के महान् पुरुष—भारत स्वतंत्र है।

विकट समस्याएं—रियासती समस्या का हल—आर्थिक संकट के लिए योजनाएं—पर सबके सहयोग से राष्ट्र संभल सकता है।

आज भारत एशिया का नेतृत्व करने लगा है—भारतीय स्वतन्त्र हैं—भारत जैसा महान् देश—प्रकृति की सुविधाएं—शक्ति और अखण्डता प्राप्त कर ले तो संसार के सभी राष्ट्र इसकी मित्रता के लिए तरसेंगे।

यह हमारा देश—राम, कृष्ण, बुद्ध, दयानन्द, गांधी का देश फिर से उन्नत होगा—फिर वैभव को प्राप्त होगा, सिर्फ आवश्यकता है राष्ट्र प्रेम की उत्कट भावना की।

नागरिक के अधिकार और कर्त्तव्य

रूपरेखा

१—जनतंत्र पद्धति में नागरिक अधिकारों की घोषणा—भारतीय संविधान में घोषित अधिकार—अधिकारों का वर्गीकरण।

२—प्रे० रूजवेल्ट की चार स्वतंत्रताएं।

३—अधिकारों के साथ उत्तरदायित्व व कर्त्तव्यों में वृद्धि।

४—पांच प्रकार के कर्त्तव्य—अपने प्रति, परिवार के प्रति, ग्राम के प्रति, देश के प्रति और विश्व के प्रति।

५—राष्ट्रीय उन्नति के लिए नागरिकों का सम्मिलित सहयोग अनिवार्य—नियमों का पालन राशन व्यवस्था, राष्ट्रीय रक्षा आदि में सहयोग।

६—नागरिकों की मूल भावना—सर्वे भवन्तु सुखिनः।

मौलिक अधिकार

प्रत्येक देश में जहां जनतन्त्र पद्धति रहती है. नागरिकों के अधिकारों की घोषणा की जाती है। इन अधिकारों से नागरिक को यह विश्वास हो जाता है कि राज्य उसकी उन्नति की बाधाओं को दूर करने में प्रयत्नशील रहेगा। इन अधिकारों द्वारा नागरिक को यह भी विश्वास कराया जाता है कि वही देश का स्वामी है। नागरिक अपनी उन्नति और सुख के लिए एक संगठन बना लेते हैं। इस संगठन को बलवान् और प्रभावशाली बनाने के लिए वह स्वयं अपने भी कुछ अधिकार उसे दे देते हैं। उसके खर्च चलाने के लिए स्वयं टैक्स भी

देते हैं। बस, यही संगठन सरकार कहलाती है। यों राजतंत्र व एकतंत्र में यह अधिकार राज्य का शासक स्वयं जनता से छीन लेता है, किन्तु जनतंत्र संगठन में नागरिक ही यह अधिकार शासन को देता है, क्योंकि वही उसका स्वामी है। यह संगठन नागरिक के अपने सुख के लिए बनाई हुई उसकी अपनी चीज़ है। इसलिए वह यह सहन नहीं कर सकता कि राज्य उसकी उन्नति की चिन्ता न करे या उसकी स्वतंत्रता का अपहरण करे। इसीलिए वह राज्य से अपने अधिकारों की घोषणा चाहता है। भारत के भारतीय संविधान में भी इसीलिए निम्नलिखित अधिकारों की घोषणा की गई है।

(१) जाति, धर्म या लिंग के भेद भाव के बिना प्रत्येक वयस्क नागरिक को चुनाव में मत देने, नौकरी व सहायता पाने का अधिकार।

(२) भाषा, लेखन, निःशस्त्र, संगठन, देश में बिना किसी रुकावट के भ्रमण, निवास और सम्पत्ति के उपार्जन तथा व्यवसाय की प्रत्येक नागरिक को स्वतंत्रता।

(३) अदालत में दण्ड की स्वीकृति के बिना किसी नागरिक को कोई दण्ड नहीं दिया जा सकेगा।

(४) बेगार नहीं ली जायगी और न नर-नारी या बालक की बिक्री हो सकेगी।

(५) धर्म, संस्कृति पूजा-पाठ की स्वतंत्रता।

(६) किसी नागरिक की सम्पत्ति बिना मुआविज़े के छीनी न जा सकेगी।

(७) किन्हीं विशेष परिस्थितियों में नागरिक के कुछ अधिकारों में कमी भी की जा सकेगी।

इन अधिकारों के अतिरिक्त संविधान में कुछ मूलभूत सिद्धान्तों की भी घोषणा की गई हैं, जिनसे भी नागरिक के कुछ अधिकारों को और भी पुष्टि मिलती है। प्रत्येक व्यक्ति को आजीविका के पर्याप्त साधन, किसी बालक व बालिका को किशोरावस्था में श्रम पर न लगाने की गारण्टी, प्रत्येक नागरिक को कार्य करने का अधिकार, बेकारी, बुढ़ापा तथा असमर्थता की अवस्था में राष्ट्र द्वारा उसकी सहायता, प्रत्येक नागरिक को निःशुल्क प्रारम्भिक शिक्षा

और अस्पृश्यता निवारण आदि निर्देश नागरिकों के मूल अधिकारों को और भी पुष्ट व स्पष्ट करते हैं।

चार स्वतंत्रताएं

नागरिकों ने ही मिल कर सरकार बनाई है अपनी उन्नति के लिए; यह समझ लेने पर अधिकारों की गारण्टी के समझने में कोई कठिनाई न रहेगी। संविधान मे जिन उपर्युक्त अधिकारों की घोषणा की गई है, उनको हम निम्न भागों में बांट सकते हैं—शारीरिक, सामाजिक, राजनैतिक, स्वतंत्रता और समानता। यही अधिकार किसी जनतंत्र शासन की मूल भावना होते हैं। यदि ये अधिकार न हो तो कोई नागरिक क्यो राज्य की अधीनता स्वीकार करे? अमेरिका के प्रेज़िडेण्ट रूज़वेल्ट ने विश्व-व्यवस्था के लिए निम्नलिखित चार स्वतंत्रताओं पर बल दिया है—

भाषण स्वातंत्र्य—संसार का प्रत्येक नागरिक अपने विचारों का भाषणों और लेखों द्वारा प्रचार करने में स्वतंत्र हो।

धार्मिक स्वतंत्रता—संसार का प्रत्येक नागरिक अपने विश्वास के अनुसार धार्मिक पूजा के अनुष्ठान करने मे स्वतंत्र हो।

अभाव से आजादी प्रत्येक देश के नागरिक भोजन, वस्त्र, और निवास की दृष्टि से निश्चिन्त हों।

भय से स्वतंत्रता—सब प्रकार के विदेशी या विजातीय आक्रमण से निश्चिन्त होकर स्वाधीनता के भोग के लिए समस्त देशों में शस्त्रास्त्रों की इतनी कमी कर दी जाय कि कोई राष्ट्र किसी दूसरे राष्ट्र पर आक्रमण न कर सके।

इन्हीं अधिकारों की गारण्टी पर ही नागरिक सरकार को टैक्स देते हैं, उसके कानूनों व आज्ञाओं का पालन करते हैं तथा अपनी स्वतन्त्रता को सीमित करते हैं।

अधिकार के साथ उत्तरदायित्व

किन्तु कोई भी राज्य और समाज केवल इन अधिकारों की घोषणा से ही

उन्नत नहीं हो जाता। इन अधिकारों के साथ नागरिकों के कर्त्तव्य भी बढ़ते जाते हैं और उत्तरदायित्व भी बढ़ जाता है। इन कर्त्तव्यों को राजनीति और नागरिक शास्त्र के विद्वानो ने निम्नलिखित भागों मे बांटा है--

(१) अपने प्रति कर्त्तव्य, (२) अपने परिवार के प्रति कर्त्तव्य, (३) अपने ग्राम के प्रति कर्त्तव्य, (४) अपने देश के प्रति कर्त्तव्य और ५) विश्व के प्रति कर्त्तव्य।

नागरिक के कर्त्तव्य

देश की उन्नति तभी हो सकती है, जबकि उसका प्रत्येक नागरिक स्वस्थ, सम्पन्न, सुशिक्षित तथा सदाचारी हो। इसलिए प्रत्येक नागरिक को अपनी व्यक्तिगत उन्नति अवश्य करनी चाहिए। परिवार की उन्नति के लिए परिवार के प्रत्येक सदस्य में दया, सहानुभूति और सेवा के गुण होने चाहिएं। अपने ग्राम की उन्नति के लिए भी प्रत्येक आवश्यक कार्य नागरिक को करने चाहिएं। ग्राम की सफ़ाई, शिक्षा, आपस का मेल-जोल, पंचायतों के सदस्यों का ईमानदारी से चुनाव और सरकारी कायदे कानून का पालन आदि नागरिक के आवश्यक कर्त्तव्य हैं। पंचायतों, म्यूनिसिपल कमेटियों, प्रान्त या केन्द्र की धारा-सभाओं के सदस्यों का चुनाव केवल गुण देखकर करना चाहिए, जात-पात, बिरादरी, धर्म या पैसे के पक्षपात से नहीं। अपने देश की रक्षा के लिए हर एक नागरिक को त्याग करने में संकोच नहीं करना चाहिए ताकि देश कभी पराधीन न हो। अपने प्रान्त, वर्ग, अपनी जाति या अपनी भाषा के आधार पर हम कोई ऐसा कार्य न करें, जिससे देश या देशवासियों की कुछ भी हानि हो। जैसे हम अपने देश के लिए व्यक्ति, ग्राम या अपनी जाति के हितो को छोड़ देते हैं, उसी तरह विश्व के हित के लिए हमें अपने देश की चिन्ता भी छोड़ देनी चाहिए। हमारे देश की उन्नति का अर्थ किसी दूसरे देश की पराधीनता या शोषण नहीं होना चाहिए। हम अपने ग्राम, प्रान्त या देश के ही नागरिक नहीं हैं, हम विश्व के भी नागरिक हैं। समस्त संसार के देश स्वतन्त्र तथा सुखी रहें, इसके लिए विश्व-बन्धुत्व की भावना का

प्रचार करना चाहिए। आपसी सब झगड़े राष्ट्रसंघ के द्वारा तय कराने चाहिएं।

कर्तव्य अनिवार्य हैं

वस्तुतः नागरिकों के सहयोग के बिना कोई ग्राम, नगर या देश उन्नति नहीं कर सकता। सरकारी क़ायदे क़ानून शहर में तब तक सफ़ाई नहीं रख सकते, जब तक नागरिक उन क़ानूनों का पालन न करें। इसी तरह सरकारी सेनाएं राष्ट्र की रक्षा नहीं कर सकतीं, जब तक नागरिक इसमें सहयोग न दें। आज हमारे देश में कुछ विषम समस्याएं और संकट उपस्थित हैं। इस कारण नागरिकों के कर्तव्य और भी बढ़ गये हैं। अन्न और वस्त्र के संकट के कारण किसी नागरिक को नियत मात्रा से रत्तीभर भी अधिक अन्न-वस्त्र नहीं लेना चाहिए। असाधारण महंगाई को रोकने के लिए प्रत्येक नागरिक को अधिक से अधिक श्रम करना चाहिए, जिससे माल की पैदावार बहुत बढ़े। ब्लैक मार्केट, नफ़ाखोरी, रिश्वत लेना या देना और चीज़ों में मिलावट करना ये सब नागरिक के लिए अत्यन्त निन्दनीय हैं। इनको छोड़ कर ही हम नागरिक अपनी और राष्ट्र की उन्नति कर सकते हैं।

नागरिक की मूल भावना

नागरिक के कर्तव्य का मूल मन्त्र त्याग है। स्वार्थ-साधन बुरा नहीं, परन्तु पर हित को हानि पहुंचाना पाप है। नागरिक की तो यह भावना रहनी चाहिए—

सर्वे भवन्तु सुखिनः, सर्वे भवन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु, मा कश्चित् दुःखभाग्भवेत्॥

राज्य का स्वरूप

रूपरेखा

१—भारत का लोकतन्त्रात्मक गणराज्य—संविधान के शब्द।

२—विभिन्न शासन-पद्धतियां—पहले राजतन्त्र पद्धति—राजा देश का स्वामी, ईश्वर का प्रतिनिधि।

३—जनतन्त्र का आविर्भाव—अधिनायकवाद और उसके सिद्धान्त—हिटलर और मुसोलिनी—अधिनायकवाद की समाप्ति।

४—जनतन्त्र शासन के सिद्धान्त—लिंकन और मिल की उक्तियां—उत्तरदायी शासन की कुंजी आय-व्यय पर कठोर नियन्त्रण।

५—असाम्प्रदायिक या सैकुलर राज्य—साम्प्रदायिक राज्य की हानियां—भारत में असाम्प्रदायिक राज्य की विशेष आवश्यकता—जनतन्त्र शासन में जनता की इच्छा सर्वोपरि, न कि परमात्मा की।

६—जनतन्त्र के विविध भेद—प्रत्यक्ष और प्रतिनिधितन्त्र-मंत्रिमण्डलात्मक और प्रधानात्मक—संघविधान या केन्द्रीय।

भारतीय संविधान की प्रस्तावना में लिखा है—

"हम, भारत के लोग, भारत को एक सम्पूर्ण-प्रभुत्व-सम्पन्न लोकतन्त्रात्मक गणराज्य बनाने के लिए तथा उसके समस्त नागरिकों को सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक न्याय, विचार, अभिव्यक्ति विश्वास, धर्म और उपासना की स्वतन्त्रता, प्रतिष्ठा और अवसर की समता प्राप्त कराने के लिए, तथा उन सब में व्यक्ति की गरिमा और राष्ट्र की एकता सुनिश्चित करने वाली बन्धुता बढ़ाने के लिए दृढ़ संकल्प होकर अपनी इस संविधान-सभा में

आज तारीख २६ नवम्बर १९४९ ई० (मिति मार्गशीर्ष, शुक्ला सप्तमी, सम्वत् २००६ विक्रमी) को एतद् द्वारा इस संविधान को अंगीकृत, अधिनियमित और आत्मार्पित करते हैं।"

इसमें भारतीय राज्य का स्वरूप स्पष्ट शब्दों में घोषित किया गया है और वह है संपूर्ण प्रभुत्त्व सम्पन्न लोकतंत्रात्मक गणराज्य का, जिसमे प्रत्येक नागरिक को न्याय, स्वतन्त्रता और समता की गारंटी दी गई है।

विभिन्न शासन पद्धतियां

यह लोकतन्त्रात्मक गणराज्य ही शासन-पद्धति का एकमात्र रूप नहीं है। संसार के विभिन्न देशों में भिन्न-भिन्न प्रकार का शासन-पद्धतियां प्रचलित हैं। इनमें समय-समय पर परिवर्तन भी होता रहा है। यह परिवर्तन समय और परिस्थितियों के कारण भी हुए हैं और किसी एक शक्तिशाली पुरुष के असाधारण प्रभाव के कारण भी।

राजतंत्र पद्धति

आज के युग में लोकतंत्र सर्वोत्तम शासन-पद्धति स्वीकार की जाती है, परन्तु पहले ऐसा न था। प्राचीन भारत और प्राचीन यूनान में भले ही इस पद्धति के उदाहरण पाये जाते हों, लेकिन राजतंत्र पद्धति का ही प्रायः समस्त विश्व में प्रचलन रहा। राजतंत्र के मूल में यह भावना काम करती है कि देश राजा की सम्पत्ति है। वही देश की समस्त सम्पत्ति और प्रजा का स्वामी है। उसे कानून बनाने और प्रजा पर शासन करने का अधिकार है। मध्यकाल में तो यहां तक कहा जाने लगा था कि उसे यह अधिकार परमात्मा ने दिया है। राजा को ईश्वर का प्रतिनिधि और प्रतिबिम्ब बताकर उसके विरुद्ध विद्रोह को पाप घोषित किया जाता था। सन् १८१५ ई० में रूस, आस्ट्रिया और प्रशिया के सम्राटों ने अपने एक संधिपत्र में ईश्वरीय अधिकार की घोषणा करते हुए लिखा था कि "हमें ईश्वर ने लोगों पर शासन करने के लिए प्रतिनिधि के रूप में भेजा है।" परन्तु विचित्रता की बात यह थी कि कोई भी व्यक्ति अधिक शक्ति प्राप्त कर समस्त राज्य पर अधिकार करके ईश्वर का यह प्रतिनिधित्व

और राज्य का स्वामित्व प्राप्त कर सकता था।

जनतंत्र का आविर्भाव

समय बदला और उसके साथ राजा को ईश्वर का प्रतिनिधि या देवता मानने की भावना भी। यूरोप में क्रान्तियां हुईं, जन-नेताओं ने यह सन्देश दिया कि राज्य राजा और प्रजा के बीच में किये गये एक समझौते का परिणाममात्र है। प्रजा ही राष्ट्र की स्वामिनी है। उसने सिर्फ़ राज्य का प्रबन्ध राजा या सरकार को सौंपा है। इंगलैण्ड में राजा के विरुद्ध क्रान्ति की गई, उसका वध किया गया। फ्रांस में भी राजतंत्र समाप्त कर जनतंत्र की स्थापना हुई। अमेरिका की क्रान्ति में यह सिद्धान्त घोषित किया गया था कि—राज्य में बिना प्रतिनिधित्व के हम टैक्स नहीं देंगे। बीसवीं सदी के दो महायुद्धों ने तो न जाने कितने देशों में क्रान्ति की यह भावना फैलाई और राजा गद्दी से उतार दिये गये तथा जनतंत्र की स्थापना हो गई।

अधिनायकवाद

इस राजतंत्र और जनतंत्र के बीच की एक और शासन-पद्धति का भी प्रचलन अनेक राज्यों में हुआ। बीसवीं सदी के प्रथम महायुद्ध के बाद इटली, जर्मनी, जापान, स्पेन तथा रूस में किसी न प्रकार का अधिनायकवाद प्रचलित होगया। इटली में मुसोलिनी ने और जर्मनी में हिटलर ने जनता से सब शासनसूत्र अपने हाथ में ले लिये। इस अधिनायकवाद के मूल में राज्य और उसके प्रतीक सरकार के प्रति अगाध श्रद्धा आवश्यक है। सरकार की समस्त सत्ता केवल एक व्यक्ति या नेता में निहित हो जाती है। इसलिए समस्त श्रद्धा और अनुशासन उसके प्रति जनता को रखना होगा। इसे ही अधिनायक-वाद या डिक्टेटरशिप कहते हैं। इसके अनुसार नागरिक को राज्य के प्रति अपना सर्वस्व समर्पण करना होगा। उसका जो कुछ है, राज्य का है। राज्य के सुख में उसका सुख है, और राज्य के दुःख में उसका दुःख है। वह राज्य के लिए ही जीता है और मरता है। राज्य के प्रति यह अगाध श्रद्धा बाद में सरकार के प्रति और क्रमशः उसके नेता के प्रति अगाध श्रद्धा में परिणत हो

जाती है, क्योंकि वही राज्य का मूर्त चिन्ह है। सरकार की आलोचना या विरोध का फिर कोई स्थान ही नहीं रहता। इसलिए जनता सरकारी कामों में दखल नहीं दे सकती। यह स्थिति जब आगे बढ़ती है, तब सरकार पार्लमेंट या प्रतिनिधि सभा में भी जन प्रतिनिधियों की आलोचना सहन नहीं करती। राज्य को सब शक्तियों और अधिकारों का केन्द्र मान लेने पर राज्य का सर्वोच्च शासक स्वभावतः दुर्धर्ष शक्ति बन जाता है। जनता अपने को राज्य से हीन मानने लगती है और प्रजातन्त्र की यह मूल भावना कि वह स्वयं राज्य की स्वामिनी सत्ता है, नष्ट हो जाती है। समस्त शक्ति एक व्यक्ति में केन्द्रित हो जाती है। निरंकुश राजतन्त्र और एकतन्त्र या अधिनायकवाद में सिर्फ एक अन्तर होता है। निरंकुश राजतन्त्र में सर्वोच्च सत्ता विरासत की—वंश परम्परा की—वस्तु होती है और एकतन्त्र में जनता द्वारा चुने गए एक नेता में सारी शक्ति निहित हो जाती है।

अधिनायकवाद की समाप्ति

इसमें सन्देह नहीं कि अधिनायकवादी शासन में इटली व जर्मनी ने पर्याप्त उन्नति की। जनता नेता के प्रति अन्ध श्रद्धा से प्रेरित होकर राज्य को सर्वोपरि मानती थी, किन्तु कुछ समय बाद इन्हीं नेताओं ने अत्यधिक आत्म-विश्वास या दर्प में आकर कुछ ऐसी भूलें कर डालीं, जिनके कारण वह समस्त उन्नति ही समाप्त नहीं हो गई, बल्कि वे राज्य बुरी तरह बरबाद हो गये। उसका मुख्य कारण यह था कि उन राज्यों में सरकार की नीति पर आलोचना नहीं हो सकती थी, उसे भूलें न बताई जा सकती थीं। नेताओं के उत्साह ने राज्य को उन्नत किया, किन्तु उनके अविवेक और भूलों पर कोई प्रतिबन्ध न होने से वे राज्य, जितनी जल्दी ऊंचे उठे थे, उतनी जल्दी नीचे गिर भी गये। विजेता राष्ट्रों ने तलवार के बल से इस अधिनायकवाद को समाप्त कर दिया, किन्तु कौन जानता है कि विश्व की परिस्थितयां उग्र राष्ट्रीयता और निरंकुश नेतृत्व को फिर जन्म नहीं देंगी ?

जनतंत्र शासन के सिद्धान्त

यह युद्ध समाप्त होने पर विजेता राष्ट्रों ने जो घोषणाएं कीं, उनमें सब देशों में जनतन्त्र प्रचलित करने के वायदे किये गये थे। जनतन्त्र का भावना का जन्म कैसे हुआ, इसकी चर्चा हम ऊपर कर चुके हैं। सं० रा० अमेरिका के राष्ट्रपति अब्राहम लिंकन ने जनतन्त्र का अर्थ यह किया था – *"जनता द्वारा जनता के लिए जनता पर शासन"*। इंगलैण्ड के एक प्रसिद्ध राजनीतिज्ञ मिल के शब्दों में *"सब लोग या लोगों का अधिकांश भाग अपने चुने हुए प्रतिनिधियों द्वारा जिस देश में शासन करता है, उसे लोकतन्त्र शासन कहते हैं।"*

जनतन्त्र का आधारभूत सिद्धान्त यह है कि क़ानून बनाने का अधिकार जन-प्रतिनिधियों को हो और शासक (मंत्रिमण्डल) अपने कार्यों के लिए इन प्रतिनिधियों की सभा या संसद् के सामने उत्तरदायी हो। अमेरिका का राष्ट्रपति हो या ब्रिटेन व भारत के मंत्रिमण्डल हों, जन-प्रतिनिधियों द्वारा निर्वाचित किया जाता है। इस शासक को जन-प्रतिनिधियों का विश्वास प्राप्त करना होता है। विश्वास शिथिल होते ही मंत्रिमण्डल को त्यागपत्र देना पड़ता है। शासकवर्ग पर जनता का सीधे या प्रतिनिधियों द्वारा पूर्ण नियंत्रण ही उत्तरदायी शासन या प्रजातन्त्र शासन की कुंजी है और शासकों पर पूर्ण नियंत्रण का सर्वोत्तम और सरलतम मार्ग यह है कि प्रतिनिधि सभा सरकार के समस्त आय-व्यय पर पूरा काबू रखे और उसकी सम्मति के बिना सरकार एक पैसा भी खर्च न कर सके। शासन-नीति का निर्धारण और क़ानूनों का निर्माण भी जनता के प्रतिनिधियों द्वारा होना चाहिए।

जनता अपने सच्चे प्रतिनिधि भेज सके, इसके लिए यह आवश्यक है कि जनता अपने विचार प्रकट करने और संगठन करने में स्वतन्त्र हो। इसीलिए लोकतन्त्र में विविध दलों की स्थिति अनिवार्य समझी जाती है। रूस और चीन में एक ही पार्टी है, इसीलिए बहुत से राजनीतिज्ञ वहां जनतन्त्र को स्वीकार नहीं करते। जनतन्त्र में जनता के कुछ मौलिक अधिकारों की घोषणा

आवश्यक है, तभी तो जनता को अपने देश का स्वामित्व अनुभव होता है। प्रत्येक नागरिक को वोट देने का अधिकार होता है और यह वोट वह बिना किसी दबाव के दे सके, इसलिए वोट की गुप्तता भी चुनाव में अनिवार्य मानी जाती है।

असाम्प्रदायिक या सैकुलर राज्य

लोकतन्त्र की यही भावना है, जो उसे असांप्रदायिक राज्य बनाती है। भारतीय संविधान के बारे में बार-बार यह घोषित किया गया है कि यह असांप्रदायिक (सैकुलर) राज्य है। इस शब्द का अर्थ यह है कि देश की सरकार का कोई धर्म विशेष नहीं है। पाकिस्तान का धर्म इस्लाम है। अन्य भी अनेक देशों की सरकारें अपना-अपना एक धर्म मानती हैं, भले ही उसमे विभिन्न धर्म वालों को भी नागरिक अधिकार प्राप्त हों। किन्तु भारत सरकार के नेता बार-बार कहते हैं कि सरकार की दृष्टि में सभी धर्म समान हैं। वह किसी को हिन्दू, मुसलमान या ईसाई और सिख के रूप में नहीं देखती। नौकरी, पढ़ाई, न्याय तथा अन्य प्रत्येक क्षेत्र में प्रत्येक भारतीय को एक समान स्थान प्राप्त है। धर्म का राज्य से कोई सम्बन्ध नहीं है। राज्य का भौतिक सुख व आवश्यकताओं से सम्बन्ध है और धर्म का सम्बंध अध्यात्म क्षेत्र से है।

एक समय था, जबकि राजा अपने धर्म को सर्वोपरि मान कर जनता पर उसे लादने की चेष्टा करता था। तब वह अपने को देश और जनता का स्वामी मानता था। इंग्लैण्ड में प्रोटेस्टैण्ट व कैथोलिक राजाओं ने अपने से भिन्न मत वालों पर बहुत अत्याचार किये। भारत के अनेक मुस्लिम राजाओं ने हिन्दुओं पर जज़िया कर लगाया था। किन्तु अब वह समय इतिहास का वस्तु बन गया है। अब यह माना जाता है कि राज्य नीति और सदाचार को मान कर चल सकता है, किन्तु किसी सम्प्रदाय के दार्शनिक मन्तव्य उसके लिए कोई महत्व नहीं रखते।

असांप्रदायिक राज्य ही ठीक

भारतवर्ष में जहां कि विभिन्न धर्म और सम्प्रदाय हैं यही नीति पूर्णतः

उचित भी है। आज भारत में २७-२८ करोड़ हिन्दू हैं, तो ४-५ करोड़ मुसलमान भी हैं। दो-एक करोड़ अन्य धर्मावलम्बी भी हैं। यदि हिन्दू धर्म को ही राज्य का धर्म मान लें, तो नई समस्या यह पैदा होगी कि हिन्दू धर्म का कौनसा रूप, कौनसा सम्प्रदाय ? कुछ जैनों में अपने को हिन्दुओं से भिन्न लिखाने की निन्दनीय प्रवृत्ति चल पड़ी है। सिख भी अपने को हिन्दू नहीं मानते। भारतीय संविधान परिषद् ने जब अशोक के चक्र चिन्ह को अपनाया, तब अनेक अनुदार हिन्दुओं ने उसे अहिन्दू और बौद्ध चिन्ह बताकर उसका विरोध किया था। इन सब झगड़ों से बचने के लिए यह आवश्यक है कि राज्य को किसी सम्प्रदाय या धर्म विशेष से सम्बद्ध न रखा जाय।

फिर, एक जनतन्त्र शासन में जनता की इच्छा सर्वोपरि होती है। एक धर्म-विशेष के राज्य में उस धर्म के शास्त्र राज्य के नियामक होते हैं। आज सम्प्रदाय कट्टरता व असहिष्णुता को जन्म देते हैं, जो जनतन्त्र के साथ मेल नहीं खाते।

कुछ लोग असाम्प्रदायिक राज्य का अर्थ अधार्मिक या अनैतिक समझते हैं, यह उनकी भूल है। प्रत्येक राज्य चरित्र के आधार पर टिक सकता है। असत्य, दुराचार और छल-कपट किसी भी राज्य में कानूनन जुर्म माना जाता है। असांप्रदायिक का अर्थ किसी संप्रदाय के पूजा-पाठ और दार्शनिक मंतव्यों को राज्य द्वारा न मानने से ही है। धर्म के नाम पर इतिहास में जितने रोमांचकारी रक्तपात हुए हैं, वे भी यह प्रकट करते हैं कि संप्रदाय का राज्य से कोई सम्बन्ध नहीं रहना चाहिए।

जनतंत्र के भेद

जनतन्त्र के भी अनेक भेद हैं। छोटे-छोटे राज्यों में प्रत्यक्ष जनतन्त्र था। आजकल यह प्रथा शायद कहीं भी प्रचलित नहीं है। आज इसकी जगह प्रतिनिधि तन्त्र ने ले ली है। जनता स्वयं शासन नहीं करती, अपने प्रतिनिधियों द्वारा करती है। इंग्लैण्ड जैसे कुछ राज्यों में राजा तो हैं, किन्तु संपूर्ण शासनाधिकार जनता द्वारा निर्वाचित मंत्रिमण्डल व संसद् को रहते

हैं। ऐसी शासन-पद्धति को मर्यादित राजतन्त्र कहते हैं। सब काम राजा के नाम पर होता है, किन्तु उसकी इच्छा जन-प्रतिनिधियों की इच्छा के अनुसार बदलती रहती है।

जनतन्त्र के दो रूप और हैं—मंत्रिमण्डलात्मक और प्रधानात्मक। इंग्लैण्ड और भारत में मंत्रिमण्डल पर शासन का उत्तरदायित्व होता है, अमेरिका में राष्ट्रपति पर। वही मंत्रिमण्डल की नियुक्ति करता है, जो उसी के सामने उत्तरदायी होता है, प्रतिनिधि सभा के सामने नहीं।

कुछ लोकतन्त्र राज्यों का संगठन संघविधान के रूप में होता है, अर्थात् उसका प्रत्येक अंग स्वतन्त्र माना जाता है, जो कुछ क्षेत्रों में अपनी सत्ता संगठित केन्द्र को सौंप देता है। भारत और अमरीका में यही स्थिति है। दूसरी पद्धति केन्द्रीय शासन की है। सारा देश एक इकाई होता है और केन्द्रीय सरकार शासन की सत्ता प्रान्तों को सौंपती है। जैसे इंग्लैण्ड, फ्रांस और इटली आदि में। लेकिन जनतन्त्र के इन सब रूपों में देश का स्वामित्व किसी राजा या एक शक्तिशाली पुरुष के हाथ में नहीं, देश की जनता के हाथ में होता है।

भारतीय संविधान पर एक दृष्टि

रूपरेखा

१—समस्त ज्ञात इतिहास में प्रथम बार जन-प्रतिनिधियों द्वारा भारतीय संविधान का निर्माण।

२—आलोचकों की तीन श्रेणियां—साम्यवादी, गांधीवादी और भारतीय संस्कृति के प्रेमी—तीनों दलों के संविधान पर आक्षेप।

३—संविधान के समर्थकों के उत्तर—अस्पृश्यता निवारण, सांप्रदायिक चुनाव समाप्त, नागरिकों के अधिकारों की घोषणा—उचित भृति, संपत्ति का उचित वितरण व्यापार व्यवसाय पर नियंत्रण—जनतन्त्र भारत में पहले भी प्रचलित—हिन्दू राज्य की घोषणा हानिकारक—स्त्रियों को समानाधिकार—केन्द्र और प्रान्तों में शक्ति-सन्तुलन।

४—संविधान की विशेषताओं पर पुनः एक दृष्टि।

भारतवर्ष के समस्त ज्ञात इतिहास में यह प्रथम अवसर था जब कि जनता के प्रतिनिधियों ने अपने सारे देश के लिए शासन विधान तैयार किया हो। इस कारण इसका महत्त्व हमारे लिए बहुत अधिक है। इस विधान पर दृष्टि डालने के लिए यह अच्छा होगा कि इस सम्बन्ध में जो आलोचनाएं हुई हैं, उन पर एक नज़र डाल ली जाए।

आलोचकों की तीन श्रेणियाँ

भारतवर्ष के नये विधान पर भिन्न-भिन्न समालोचकों ने अपनी-अपनी सम्मतियां प्रकट की हैं। कुछ आलोचक इसे बहुत विचारपूर्ण यथासम्भव निर्दोष विधान बताते हैं तो कुछ दूसरे समालोचक इसमें विभिन्न दोष देखते

हैं। हम दोनों पक्षों पर एक दृष्टि डाल कर देखेंगे कि विधान में कौन-कौन से गुण-दोष हैं। इससे पहले कि हम. गुणों पर विचार करें, आलोचकों के आक्षेप देखना चाहते हैं। आलोचकों की भी कई श्रेणियां हैं जिन्हें हम गांधीवादी, साम्यवादी और भारतीय संस्कृति के प्रेमी इन तीन श्रेणियों में बांट सकते हैं।

साम्यवादी आलोचना

साम्यवादी समालोचकों का ख्याल यह है कि यह विधान पूंजीवादी विधान है। इसमें नागरिकों के लिए अनिवार्य आजीविका की गारंटी नहीं दी गई है। मज़दूरों के लिए उचित व्यवस्था वेतन आदि के सम्बन्ध में नहीं की गई है। व्यक्तिगत पूंजी के सिद्धान्त को स्वीकार किया गया है और कल-कारखानों, बैंकों, जहाज़ों आदि उत्पत्ति-साधनों के राष्ट्रीयकरण की व्यवस्था नहीं की गई है। रूस की तरह केवल मेहनत करने वाले मज़दूरों को मताधिकार नहीं दिया गया है। इसलिए यह विधान पूंजीवादी विधान है, जनता का विधान नहीं है।

गांधीवादियों के आक्षेप

गांधीवादी यद्यपि विधान को बनाने वाले थे (स्वयं राजेन्द्र बाबू विधान-सभा के अध्यक्ष थे) तथापि उन्हें भी विधान से पूर्ण संतोष नहीं है। वे कहते हैं कि इसमें गांधीवाद की मूल आत्मा का तिरस्कार किया गया है। गांधीवाद के यों तो अनेक सिद्धान्त कहे जा सकते हैं, परन्तु यदि गांधीवाद को चार शब्दों में कहें तो अहिंसा, सदाचार, शासन और उद्योग का विकेन्द्रीकरण इन शब्दों में कह सकते हैं।

इस दृष्टि से देखने पर मालूम होता है कि विधान में बहुत अधिक दोष हैं। इसमें ग्राम पंचायतों पर पूरा जोर नहीं दिया गया और न घरेलू धन्धों को बड़े उद्योगों से बचाने का निश्चय किया गया है। देश की समृद्धि के लिए यूरोपियन अर्थशास्त्र को आधार माना गया है। राजनीतिक समस्याओं को सेना हल करने के लिए अहिंसात्मक उपायों का भी अवलम्बन नहीं किया गया।

सम्बन्धी बहुत अधिक व्यय करने पर कोई रोक नहीं है। बालिग़ मताधिकार देकर सदाचार और जीवन की योग्यता की कसौटी मानने से इन्कार कर दिया गया है। अंग्रेज़ी को १५ वर्ष तक जीवनदान देकर देश की भाषा का अपमान किया गया है। फिर राष्ट्रभाषा को कठिन संस्कृतमय बना कर तथा उर्दू-लिपि का बहिष्कार करके गांधी जी की इच्छा का विरोध किया गया है। इस तरह संक्षेप में हम कह सकते हैं कि विधान बनाते समय विधान निर्माताओं की दृष्टि गांधी जी की ओर बिलकुल नहीं रही।

भारतीय संस्कृति का अभाव

समालोचकों में तीसरी श्रेणी उन लोगों की है जो अपने को भारतीय संस्कृति का समर्थक कहते हैं, किन्तु गांधीवादी नहीं हैं। इन लोगों को विधान से यह शिकायत है कि यह विधान न धार्मिक है, न भारतीय है। विधान में (सैक्युलर) धर्म-निरपेक्ष शब्द को ऐसे विचारक सहन नहीं कर सकते। उनका कथन है कि भारतीय परम्पराओं का पालन करना चाहिए। यदि भारतवर्ष में हिन्दू अधिक हैं तो भारत का विधान भी हिन्दू विधान होना चाहिए, भले ही अल्पसंख्यकों को पूर्ण संरक्षण दिए जाएं।

विधान में ईश्वर शब्द भी नहीं आया है, इस बात पर भी उन्हें आपत्ति है। कुछ लोग बालिग़ मताधिकार को भी भारतीय परम्परा नहीं मानते। व्यक्ति की अपेक्षा पंचायत को वह राज्य की इकाई मानते हैं। विधान में यूरोप की तरह व्यक्ति को राजनीतिक इकाई माना गया है।

कुछ समालोचक ऐसे भी हैं जो विधान में केन्द्र को अधिक शक्ति देने, असाधारण अवस्था कहकर राष्ट्रपति को आर्डिनेंस निकालने का अधिकार देने और प्रान्तों का शासन अपने हाथ में लेने पर भी आपत्ति करते हैं, तो कुछ लोग इससे बिलकुल भिन्न मत रखते हैं। उनका कहना है कि प्रान्तों को बहुत कम अधिकार देने चाहिए थे। सारी सत्ता केन्द्र के आधीन होनी चाहिए थी, क्योंकि तभी देश सुरक्षित और बलवान् रह सकता है।

आक्षेपों का उत्तर

विधान के समर्थक इससे इन्कार नहीं करते कि विधान पूर्ण नहीं है, लेकिन वह उन आपत्तियों से इन्कार करते हैं जो, उक्त समालोचक विधान पर करते हैं। गांधीवादियों को वह उत्तर देते हैं कि अस्पृश्यता का अन्त कर दिया गया है। प्रत्येक नागरिक को अनिवार्य निःशुल्क शिक्षा देकर उन्नति करने का अवसर दिया गया है। ग्रामोद्योग और पंचायतों के प्रोत्साहन का विधान में उल्लेख है। हिन्दू और मुस्लिमों में साम्प्रदायिक-निर्वाचन हटाकर ऐक्य स्थापित करने का प्रयत्न किया गया है। अहिंसा आज की परिस्थितियों में व्यावहारिक नहीं है। अतः दण्ड और सेना की व्यवस्था विवश होकर की गई है। इस तरह गांधीवादी आलोचकों के लिए विधान बहुत आपत्तिजनक नहीं है। गांधी जी के प्रिय विषय मद्य-निषेध, गोरक्षा और अंग्रेज़ी के स्थान पर हिन्दी तथा अंतर्राष्ट्रीय शान्ति के लिए न्याय आदि की धाराओं पर गांधी जी के विचारों की स्पष्ट छाप है।

साम्यवादी आलोचकों का यह कथन तो ठीक है कि विधान में हरएक नागरिक को काम देने की गारंटी नहीं दी गई, किन्तु वे यह क्यों भूल जाते हैं कि यह शासन जनता का शासन है और जनता में अधिकांश भाग किसानों और मज़दूरों का ही होता है। उनके निर्वाचित प्रतिनिधि कोई काम ऐसा नहीं करेंगे, जिससे कि उनका अहित होता हो और फिर विधान के निर्देशों में संपत्ति के वितरण की व्यवस्था तथा नागरिकों के सामूहिक हित की नीति निश्चित कर दी गई है। जमींदारी सब प्रांतीय सरकारें स्वयं ही नष्ट कर रही हैं। यह बात हम मानते हैं कि विधान में व्यक्तिगत पूंजी को स्वीकार किया गया है, परन्तु इसे न मानने का परिणाम देश में गृह-युद्ध हो सकता था। गांधीवादी विचारधारा किसी को मुआवज़ा दिए बिना उसकी संपत्ति के अपहरण के विरुद्ध है। फिर व्यक्तिगत प्रोत्साहन के बिना देश के अधिक समृद्ध होने में भी सन्देह था। इसलिए यदि विधान में व्यक्तिगत संपत्ति के सिद्धांत को स्वीकार किया गया है, तो यह उचित ही है। हमें यह भी न

भूलना चाहिए कि बड़े-बड़े अनेक उद्योगों पर सरकार का नियंत्रण और स्वामित्व होगा ही। संसद् को यह भी अधिकार है कि यदि वह आवश्यक और उचित समझे तो किसी भी व्यवसाय पर वह राष्ट्र का अधिकार घोषित कर सकती है। विधान में यह स्पष्ट उल्लेख है कि राज्य सभी नागरिकों के लिए जीविकोपार्जन के पर्याप्त साधनों की व्यवस्था करे। भौतिक साधनों का स्वामित्व एवं नियंत्रण सर्वजन कल्याणार्थ हो और आर्थिक व्यवस्था का संचालन इस विधि से किया जाए कि राष्ट्रीय संपत्ति एवं साधनों को वह जनसाधारण के हितों के विरुद्ध पूंजी-भूत होने से बचाए। इसका स्पष्ट अर्थ यह है कि विधान में मज़दूरों और कृषकों के हितों की रक्षा की गई है।

भारतीय संस्कृति के समर्थक अपनी विचारधारा की पुष्टि में क्या चाहते हैं, यह स्पष्ट नहीं है। जनतंत्र का संविधान भारत के लिये नवीन नहीं है। हमें प्राचीन इतिहास में गण-राज्यों के वर्णन मिलते हैं। पंचायतों की भी इसमें व्यवस्था की गई है। यदि आलोचक यह चाहते हों कि भारत का राज्य हिन्दू राज्य घोषित किया जाय, तो उनकी यह मांग उचित प्रतीत नहीं होती। किसी एक विशेष सम्प्रदाय का राज्य बनाने से भारत में अव्यवस्था उत्पन्न हो जायगी। हिन्दुओं में स्वयं इतने फ़िरके (विभाग) हैं कि राज्य के हिन्दूधर्म की व्याख्या ही विवाद का विषय बन जायगी। सिक्ख अपने को हिन्दू नहीं मानते, जैन परमात्मा को स्वीकार नहीं करते। आर्य समाजियों और सनातनियों का परमात्मा अलग-अलग है। फिर सनातनियों में भी कई फ़िरके हैं। शैव, वैष्णव, और शाक्त परस्पर लड़ते झगड़ते रहते हैं। इसलिये राज्य को किसी धर्म या सम्प्रदाय का राज्य नहीं बनाना चाहिये। राज्य की दृष्टि में तो प्रत्येक भारतीय समान रूप से नागरिकता का अधिकार रखता है। फिर भारतीय समालोचकों को यह भी याद रखना चाहिये कि देश की बहुसंख्या हिन्दू है और उसके चुने हुए प्रतिनिधि कभी भारतीय संस्कृति और हिन्दूधर्म का विरोध नहीं कर सकेंगे। भारतवर्ष का राज्य चिन्ह अशोक का धर्म-चक्र है। आदर्शवाक्य 'सत्यमेव जयते' है। भाषा हिन्दी है, लिपि नागरी है। इस तरह यह सिद्ध नहीं किया जा सकता कि विधान में हिन्दूधर्म और भारतीय

संस्कृति का विरोध किया गया है।

स्त्रियों को भी नागरिकता के पूरे अधिकार दिये गये हैं। एक कार्य के लिये स्त्री पुरुष के समान वेतन की व्यवस्था की गई है। उन्हें भी विधान से कोई आपत्ति नहीं हो सकती। अस्पृश्यता का निवारण करके विधान बहुत ऊंचा उठ गया है। प्रत्येक नागरिक को समानाधिकार इस विधान की बहुत बड़ी विशेषता है।

केन्द्र और राज्य

विधान को इतना लचकीला अवश्य होना चाहिये कि समय और परिस्थिति के अनुकूल वह बदल सके। विरोध और संघर्ष की स्वाभाविक प्रवृत्तियों को, जो विदेशी शासन, देशवासियों के क्षुद्र स्वार्थ और पुरानी प्रथाओं के कारण देश में कम नहीं हैं, रोक सके। इसीलिए यदि केन्द्र को अधिक शक्ति प्रदान की जाये तो उसमें आपत्ति नहीं होनी चाहिये। आज अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति विकट है। प्रांतीयता की दुर्भावना बढ़ रही है। राष्ट्र की अपेक्षा अपने वर्ग से प्रेम भी अधिक पाया जाता है। इसलिये भी यह आवश्यक है कि केन्द्र के हाथ में अधिक शक्ति रहे, ताकि वह देश की अखंडता और एकता को स्थायी रख सके।

संविधान की विशेषताएँ

अन्त में विधान की मुख्य विशेषताओं पर पुनः एक दृष्टि डाल लेना ठीक होगा—

१ - यह लोकतन्त्रात्मक विधान है। राजतन्त्र पद्धति को बिलकुल स्थान नहीं दिया गया और इस दृष्टि से भारतवर्ष संसार के उन्नततम राष्ट्रों में सम्मिलित हो गया है।

२—नागरिकों के मौलिक अधिकारों की इसमें घोषणा की गई है। प्रत्येक नागरिक को बोलने, लिखने, अपना धर्म मानने और निःशस्त्र संगठन करने की स्वतन्त्रता दी गई है।

३ – हिन्दू धर्म के कलंक-स्वरूप अस्पृश्यता की प्रथा को कानूनन समाप्त कर दिया गया है।

४—देश का शासन-विधान न बहुत अधिक केन्द्रीय है और न बहुत अधिक प्रान्तीय स्वराज्य-मूलक। केन्द्रीय और संघविधान की बीच की परिस्थिति को स्वीकार किया गया है। साधारणतः प्रान्तों की स्वतन्त्रता को छीना नहीं गया, किन्तु आवश्यकता होने पर ऐसी व्यवस्था अवश्य रखी गई है, जिससे प्रान्तों पर नियन्त्रण किया जा सके और वहां अराजकता, और अव्यवस्था को रोका जा सके।

५—शासन-विधान में अमेरिका की तरह से राष्ट्रपति को बहुत अधिक अधिकार नहीं दिए गए और मंत्रिमण्डल को इंग्लैण्ड की भांति शासन के लिए उत्तरदायी माना गया है। इस प्रकार अमेरिका के राष्ट्रपति व ब्रिटिश के मंत्रिमण्डल का समन्वय किया गया है।

६—प्रजातन्त्र में प्रत्येक बालिग़ को मतदान का अधिकार दिया है। स्त्री हो या पुरुष, अमीर हो या निर्धन, शिक्षित हो या अशिक्षित प्रत्येक २१ साल के नागरिक को मतदान का अधिकार है और इस तरह यह विधान सच्चा लोकतन्त्रात्मक विधान है।

७—रूस की भांति यह संविधान साम्यवादी नहीं है। इसमें व्यक्तिगत संपत्ति के अधिकार को स्वीकार किया गया है, किन्तु उत्पत्ति के समान वितरण आदि की ओर सरकार को ध्यान देने का आदेश दिया गया है।

८ ग्राम पंचायतों की स्थापना, गोवध-निषेध और अनिवार्य शिक्षा आदि के लिए भी विधान में सरकार को निर्देश दिये गये हैं।

पूंजीवाद

रूपरेखा

१—औद्योगिक क्रान्ति से युगपरिवर्तन—पूंजीवाद का लक्ष्य, जन्म और विकास—भारत की पराधीनता से पूंजीवाद का विकास।

२—विश्व की उन्नति में पूंजीवाद का स्थान।

३—पूंजीवाद के विभिन्न परिणाम—प्रतिस्पर्धा, साम्राज्यवाद, संघर्ष और विश्वयुद्ध, बेकारी और ग़रीबी। विश्व दो श्रेणियों में विभक्त—विरोध प्रतिस्पर्धा भाव की वृद्धि—पूंजीवाद का भविष्य अंधकारमय।

युगपरिवर्तन

वर्तमान संसार प्राचीन संसार से अत्यन्त भिन्न है। रहन-सहन, विचार और आदर्श, रीति-रिवाज और जीवन पद्धति सब में आकाश पाताल का अन्तर पाया जाता है। पहले मनुष्य का जीवन सादा था, वह गांवों में रहता था, मेहनत करता था और भरपेट भोजन कर लेता था और मोटा पहनता था। परन्तु अब स्थिति बिल्कुल बदल गई है। मनुष्य की आवश्यकताएं बढ़ गई हैं, उसका जीवन पहले के जीवन से बहुत जटिल हो गया है। न वह स्वयं स्वावलम्बी रहा है और न उसका गांव। अमरीका में होने वाली अनावृष्टि और ७००० मील दूर छिड़ने वाला युद्ध भी भारत के एक सुदूर अन्तर्वर्ती ग्राम के किसान पर पूर्ण प्रभाव डालते हैं। संसार की वर्तमान स्थिति के यों तो अनेक कारण हैं, परन्तु उनमें प्रमुख पूंजीवाद है। पूंजीवाद ने विज्ञान की सहायता लेकर समस्त संसार में आश्चर्यजनक क्रान्ति कर दी है, दुनिया बदल दी है।

पूंजीवाद क्या है ?

पूंजीवाद उस सिद्धान्त को कहते हैं, जिसमें उत्पादन के साधनों भूमि,

बड़े बड़े कारख़ानों, मकानों, वितरण के साधनों तथा बैंक, रेलगाड़ी मोटर सर्विस तथा खानों आदि पर व्यक्तियों का पूर्ण अधिकार होता है। इसमें वे अधिक से अधिक लाभ कमा कर मालामाल हो सकते हैं। पूंजीवाद का दूसरा लक्षण यह है कि दूसरों के परिश्रम का लाभ उद्योगपति स्वयं लेता है।

पूंजीवाद का विकास

यों तो बहुत प्राचीन काल से उत्पादन के साधनों पर मनुष्य का व्यक्तिगत अधिकार था, परन्तु पूंजीवाद का वर्तमान स्वरूप तभी से विकसित हुआ, जबसे विज्ञान का सहयोग पूंजीपतियों ने प्राप्त किया। पूंजीवाद का इतिहास यूरोप और विशेषकर ब्रिटेन का पिछले ३०० वर्षों का इतिहास है। अमेरिका के अन्वेषण और भारत पर अंग्रेज़ों के अधिकार के कारण इंग्लैण्ड में जाने वाली अपार धन-राशि ब्रिटिश पूंजी के रूप में परिणत हो गई। इसी समय सौभाग्य से भाप से चलने वाले एंजिन और सूत कातने की मशीन का आविष्कार हुआ। फिर क्रमशः और मशीनें बनती गईं। ब्रिटेन के पास आने वाली सम्पत्ति कल कारख़ानों में लगी। इन में माल बेहद सस्ता और भारी परिमाण में तैयार होने लगा। वह दूसरे देशों में जाकर भी सस्ता पड़ने लगा। राजनैतिक प्रभाव से उसमें और भी अधिक सहायता मिली। ज्यों ज्यों माल की खपत बढ़ती गई, त्यों त्यों उनका मुनाफ़ा और फलतः पूंजी भी बढ़ने लगी। पूंजी बढ़ने का परिणाम हुआ नये नये आविष्कार, कारख़ानों का निर्माण और ज्यादा नफा। इस तरह अधिकाधिक लाभ और नये कारख़ानों का चक्र चलाया गया।

उन्नति में पूंजीवाद का स्थान

पूंजीवाद के समर्थकों का कहना है कि संसार की भौतिक और वैज्ञानिक उन्नति का मुख्य श्रेय पूंजीवाद को ही है। अपने लाभ की आकांक्षा से ही हो, परन्तु यह सच है कि यदि पूंजीपति विज्ञान के आविष्कारों को भी लाखों करोड़ों रुपये लगाकर व्यापारिक रूप न देते, तो संसार बीसवीं सदी में भी १८वीं सदी से आगे न बढ़ता, न रेल होती और न वायुयान तथा बड़े-बड़े

कल कारखाने। आज का विश्व पूंजीपतियों के निरन्तर प्रयत्न का ही फल है। पूंजीवाद की व्यवस्था ने मानव जाति की उन्नति में असाधारण भाग लिया है।

पूंजीवाद के विकास का मुख्य सिद्धान्त यह है कि खुली प्रतियोगिता और मुकाबला बना रहने से मनुष्य की विविध योग्यताओं का खुलकर विकास होता है। इसमें सन्देह नहीं कि इस स्थिति में प्रत्येक उद्योगपति नई से नई, अधिक से अधिक उपयोगी, सस्ती से सस्ती चीज़ बनाने का प्रयत्न करता है। ऐसा हुआ भी, लेकिन यही खुली प्रतियोगिता का सिद्धान्त अब स्वयं पूंजीपतियों और पूंजीवाद के लिए भारी ख़तरा हो गया है।

प्रतिस्पर्धा और साम्राज्यवाद

अपना माल सस्ता पैदा करने के लिए प्रत्येक उद्योगपति अधिक से अधिक माल तैयार करता है। इस का परिणाम यह होता है कि माल आवश्यकता से अधिक तैयार हो जाता है। इस माल को बेचने के लिए वह दूसरे उद्योगपति से प्रतिस्पर्धा करता है, दूसरे देशों में माल बेचने का प्रयत्न करता है और उसके लिए आवश्यकता होने पर दूसरे देशों को राजनैतिक दृष्टि से अपने प्रभुत्व में लाता है। साम्राज्यवाद का जन्म यहीं से होता है। पिछली सदी का इतिहास बताता है कि उद्योग-प्रधान देशों ने अपने आर्थिक लाभ के लिए—तैयार माल बेचने और कच्चा माल बहुत सस्ता खरीदने के लिए—दूर दूर के देशों पर अपना अधिकार कर लिया। ब्रिटेन का अपना क्षेत्रफल १ लाख वर्ग मील से भी कम था, लेकिन उसका साम्राज्य कुछ वर्ष पूर्व १ करोड़ ३३५ वर्ग लाख मील में फैला हुआ था। फ्रांस का क्षेत्रफल सवा दो लाख वर्ग मील से कुछ कम है, लेकिन उसका साम्राज्य ४५ लाख वर्गमील तक विस्तृत था। ११ हज़ार वर्गमील क्षेत्रफल का बेलजियम ९॥ लाख वर्गमील का स्वामी है। जापान ने अपने क्षेत्रफल से १२-१३ गुना प्रदेश पर अधिकार कर लिया था। इस साम्राज्य विस्तार के मूल में पूंजीवादी राष्ट्रों का स्वार्थ ही काम कर रहा है। आज साम्राज्य-विस्तार का रूप बदल

गया है। राजनैतिक पराधीनता का स्थान आर्थिक संधियों ने ले लिया है। संयुक्त राष्ट्र अमरीका ने १८९८ ई० से लेकर १९१७ तक किसी न किसी कारण से २ लाख वर्गमील भूमि पर अधिकार कर लिया, जिसपर दो करोड़ मनुष्य बसते हैं। आज अमेरिका का प्रभाव इससे कई गुना प्रदेश पर है। रूस ने भी आज पूर्वी यूरोप के देशों पर अपना नियंत्रण कर लिया है।

संघर्ष और विश्व-युद्ध

पृथ्वी विशाल थी, सब उद्योग-प्रधान शक्तिशाली देशों ने उसे बांट लिया। रबड़ की भांति पृथ्वी अब और ज्यादा खींचकर बढ़ाई तो नहीं जा सकती थी, इसलिये नये महत्त्वाकांक्षी राष्ट्र दूसरे देशों का माल छीनना चाहते हैं. बस, विश्व-व्यापी युद्ध होने लगते हैं। इन युद्धों का मूल कारण यही साम्राज्य-वाद और वस्तुतः पूंजीवाद हैं। इस तरह दो पूंजीपति राष्ट्र अपने अपने स्वार्थ के लिए विध्वंसकारी युद्ध करते हैं और एक दूसरे को नष्ट करने का प्रयत्न करते हैं।

पूंजीवाद से अन्य हानियाँ

अपना माल सस्ता करने के लिये खर्च कम कर दिये जाते हैं और अधिक से अधिक काम करने वाली मशीनें लगाई जाती हैं। फल यह होता है कि लाखों मज़दूर बेकार और ग़रीब हो जाते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि उनकी ख़रीदने की शक्ति नष्ट हो जाती है और माल कम बिकता है। पूंजी-पति अपना माल बेचने के लिए उसे और सस्ता करता है तथा नई नई मशीनें लगाता है। बेकारी बढ़ती ही जाती है। छोटे छोटे पूंजीपति तो ऐसी स्थिति में मुकाबला करने लायक ही नहीं रहते और अपना अस्तित्व तक खो देते हैं।

पूंजीवाद की यह व्यक्तिगत प्रतिस्पर्धा एक और तरह से भी अपने को नुकसान पहुँचाती है। साधारणतः कच्चे माल से तैयार माल बनाने वाला पूंजीपति कृषिप्रधान देश को व्यवसाय-प्रधान बनने नहीं देना चाहता, किन्तु दूसरी ओर मशीनें बनाने वाला उद्योगपति यह चाहता है कि सब देशों में

कल कारखाने खुलें और मेरी मशीनें बिकें। भारत के हाथ ब्रिटिश पूंजीपतियों ने बड़ी बड़ी मशीनें बेचकर अपने आप तो नफ़ा कमा लिया, किन्तु अपने ही देशवासी कपड़ा मिलों के मालिकों का भी कम नुकसान नहीं किया।

पूंजीवाद का एक और भयङ्कर प्रत्यक्ष परिणाम यह हुआ है कि उसके कारण विश्व में दो श्रेणियाँ स्पष्ट हो गईं—अमीर और ग़रीब। अमीर अधिकाधिक अमीर होते गये और ग़रीब अधिकाधिक ग़रीब। दोनों श्रेणियों में संघर्ष आज विश्व-व्यापी रूप धारण कर चुका है। साम्यवादी क्रान्ति का यही मूल कारण है।

इस प्रकार पूंजीवाद ने अपनी समस्याएं स्वयं पैदा कर ली हैं। पूंजीवाद की व्यवस्था में पूंजीपति का पूंजीपति से, पूंजीपति का मज़दूरों से, पूंजीपति का सरकार से, विक्रेता का क्रेता से सब जगह विरोध भाव छिड़ गया है। पूंजीवाद ने संसार की उन्नति में असाधारण भाग लिया, इसमें सन्देह नहीं, किन्तु उसने ऐसी भीषण समस्यायें उत्पन्न कर दीं, जिनका समाधान आज कठिन हो गया है। पूंजीवाद के मूल में व्यक्तिगत अधिकार और स्वार्थ की भावना है। अपनी प्रतिभा, योग्यता और धन के कारण पूंजीपति ने ग़रीबों का शोषण किया है। सम्पत्ति का विषम वितरण करके ग़रीब और अमीर में खाई को सदा चौड़ा किया है। यदि सम्पत्ति का समान वितरण हो, न्यायपूर्वक वितरण हो तो पूंजीवाद एक मिनट भी स्थिर नहीं रह सकता और यही कारण है कि पूंजीवाद अब अपनी समाप्ति पर है। साम्यवाद और उद्योगों के राष्ट्रीयकरण की प्रवृत्ति बढ़ रही है।

साम्यवाद

रूपरेखा

१—पूंजीवाद से विश्व की नई समस्याएं—श्रेणी संघर्ष—पूंजीवाद का विरोध—कार्लमार्क्स और म. गांधी।

२—कार्लमार्क्स की विचारधारा—शोषक और शोषित समाज—श्रेणीविहीन समाज—समस्त सपत्ति का राष्ट्रीयकरण—'संसार के मज़दूरो, एक हो जाओ' का नारा।

३—मार्क्स के वाद का क्रियात्मक व्याख्याकार लेनिन—रूस में बोलवेशिक् क्रान्ति—उच्च आदर्श के मार्ग में।

४—संसार में साम्यवाद की भावना का प्रसार—व्यवसाय व्यापार नियंत्रण—राशन, नई नई राष्ट्रीय योजनाएं।

५—साम्यवादी प्रवृत्ति के सूचक नये उपाय।

६—साम्यवाद परीक्षण की दशा में—साम्यवाद में कुछ दोष—गांधी वादी साम्यवाद।

पूंजीवाद का विरोध

अनेक प्रमुख विचारक संसार की वर्तमान समस्याओं का प्रधान कारण पूंजीवाद को समझते हैं। उनका कहना है कि पूंजीवाद ने संसार की उन्नति में असाधारण भाग लिया, किन्तु वह अपने साथ अनेक बुराइयां भी ले आया। समाज में दो श्रेणियां बन गईं। अमीर और ग़रीब में खाई निरन्तर चौड़ी होती गई। मनुष्य द्वारा मनुष्य के शोषण ने एक दलित, जीर्ण और निस्तेज श्रेणी पैदा कर दी। पूंजीवाद की पारस्परिक प्रतिस्पर्धा ने साम्राज्य-वाद और पराधीन देशों का प्रसार किया। इसलिए विश्व में पूंजीवाद के विरुद्ध एक तीव्र भावना का प्रचार हुआ। इसने दो धाराओं को जन्म दिया। एक धारा का प्रवर्तक था कार्लमार्क्स। यूरोप में पूंजीवाद उग्र रूप धारण कर चुका था, इसलिये उसकी विचारधारा भी उग्र थी। दूसरी धारा ने काफ़ी समय बाद भारत में जन्म लिया और इसके प्रवर्तक थे म. गांधी। दोनों महापुरुष पूजीवाद और उससे उत्पन्न बुराइयों को नाश करके संसार में सुखी मानव का दर्शन करना चाहते हैं। दोनों संसार में फैली हुई असमानता को सहन नहीं करना चाहते। परन्तु लक्ष्य एक होते हुए भी दोनों धाराओं में भारी अंतर हैं। एक धारा पूर्व को जाती है, दूसरी पश्चिम को। इसका प्रधान कारण

यह है कि मार्क्स पश्चिम में पैदा हुआ और गांधी भारत में। इसलिये दृष्टि-कोण में भारी अंतर है। दोनों के मार्ग परस्पर विपरीत हैं।

कार्लमार्क्स की विचारधारा

कार्ल मार्क्स यूरोप में उत्पन्न हुआ, जहां का दृष्टिकोण भौतिक है, आध्यात्मिक नहीं, वहां संसार का जीवन ही प्रधान लक्ष्य है और इसलिए वहां धन या सम्पत्ति की प्रमुखता है। कार्लमार्क्स ने मानव जाति के समस्त इतिहास का आर्थिक दृष्टिकोण से अध्ययन किया। वह इस परिणाम पर पहुंचा कि मानव समाज का अतीत और वर्तमान इतिहास वर्ग-युद्ध का इतिहास है। जिस वर्ग के हाथ में उत्पत्ति के साधन रहते हैं, उसी की प्रधानता रहती है। वह दूसरे वर्गों के परिश्रम से अनुचित लाभ उठाता है। खून पसीना एक करने वाला परिश्रमी किसान या मज़दूर अपने जीवन की आवश्यकता भी पूर्ण नहीं कर पाता, किन्तु दूसरी ओर पूंजीपति गुलछर्रे उडाता है। उत्पत्ति पर इस वर्ग का अधिकार होने से राज्य दरिद्र के शोषण में धनी की सहायता करता है, यही उसका प्रमुख कार्य हो जाता है।

कार्लमार्क्स ने संसार के इतिहास का अध्ययन करते हुए यह भी देखा कि हज़ार कोशिश करने पर भी एक ही वर्ग सदा सब के सिर पर बैठा नहीं रहता। जब पैदावार या उत्पत्ति के नये तरीके निकल आते हैं, तब उन पर अधिकार भी नये वर्गों का हो जाता है। नया दल उन्नति करता है और आर्थिक सत्ता इसके हाथ में आजाने से उसी की जीत होती है और पुराने वर्ग की समाप्ति हो जाती है। लेकिन यह नया वर्ग भी अपने से भिन्न वर्गों के लिए शोषक बन जाता है और फिर उन वर्गों में से किसी एक के हाथो हटा दिया जाता है। इस तरह जब तक एक वर्ग दूसरे का शोषण करने वाला रहेगा, तब तक यह कशमकश चलती रहेगी। यह झगड़ा उसी समय समाप्त होगा—जबकि समाज में अनेक वर्ग न रहकर केवल एक वर्ग रह जायगा, क्योंकि तब शोषण की गुंजायश ही न रहेगी। तब आज का सा लगातार संघर्ष न रहेगा और न रहेगी प्रतिस्पर्धा। किसी का दमन नहीं करना होगा, इसलिए राज्य

की भी आवश्यकता न रहेगी। लेकिन कार्लमार्क्स कहता है कि एक वर्ग या एक श्रेणी पैदा करने के लिए समस्त संपत्ति को व्यक्तिगत न रखकर, समाज या राष्ट्र की सम्पत्ति बना देना चाहिए। उत्पादन और श्रम के साधनों पर से व्यक्ति का अधिकार हटाकर समाज का सामूहिक अधिकार स्थापित करने का नाम ही साम्यवाद है।

कार्लमार्क्स से बहुत पहले सर थामस मोर, फ्रोरियर राबर्ट ओवन, प्राउडन आदि ने भी ऐसे विचार पेश किए थे, लेकिन कार्लमार्क्स ने इन विचारों को अधिक वैज्ञानिक रूप दिया और इसके प्रचार के लिए १८३४ ई० में एक निश्चित संगठन को स्थापित किया। यही साम्यवाद की दिशा में पहला व्यापक संगठन था। मार्क्स ने एक आवाज़ उठाई कि "संसार के मज़दूरो, एक हो जाओ और पूंजीवाद का जुआ उतार फैंको।"

लेनिन की रूस में क्रान्ति

साम्यवाद को व्यवहार में लाने वाला प्रथम व्याख्याकार लेनिन था। रूस में उसने बोलशेविक क्रांति कर वहाँ साम्यवाद को क्रियान्वित कर दिखाया। साम्यवाद का आदर्श बहुत ऊंचा है। रूस के नेता अभी इस आदर्श पर नहीं पहुंचे। यद्यपि बहुत से उत्पत्ति-साधनों पर व्यक्ति का एकाधिकार छीन कर वहाँ उन्हें सरकारी सम्पत्ति बना दिया गया है, तथापि अभी तक भूमि पर कृषकों का स्वामित्त्व है और उन्हें सामूहिक कृषि के लिए प्रेरित किया जा रहा है। कुछ विदेशियों को भी वहां कारोबार करने की अनुमति दी गई है।

साम्यवाद का ऊंचा आदर्श यह है कि समाज में असमानता या विषमता की समाप्ति कर दी जाय, हरएक आदमी काम करे और उसकी आवश्यकतानुसार उसे अन्न, वस्त्र आदि सब पदार्थ दिये जायं। लेकिन रूस अभी इस स्थिति तक नहीं पहुंचा है। वहां आवश्यकता के अनुसार नहीं, कार्य और किस्म के अनुसार वेतन दिये जाते हैं। इस कारण वहां भी अपेक्षाकृत धनी और दरिद्र श्रेणियां हैं। पिछले युद्ध के दिनों में कारीगरों और सैनिकों को

और अधिक उत्साहित करने के लिए पुरस्कार तथा उपाधि आदि की भी व्यवस्था की गई थी। इससे भी वहां कुछ भेद भाव बढ़े हैं। अन्तर्राष्ट्रीय संघर्ष में आकर रूस भी साम्यवादी आदर्श को पीछे छोड़कर साम्राज्यवादी प्रवृत्तियों को अपनाने लगा है। पूर्वी यूरोप और चीन आदि आज रूस के प्रभाव में हैं। इसलिए लोगों को सन्देह है कि वह भी साम्राज्यवादी प्रवाह में बह गया है।

संसार साम्यवाद की ओर

भले ही रूस में साम्यवाद का ऊंचा आदर्श शिथिल हो रहा हो, किन्तु संसार में साम्यवाद की भावना बहुत तीव्रता से फैल रही है। साम्यवाद का नारा, पूंजीपतियों के नाश का नारा और संसार में अमीरी-गरीबी के खात्मे का नारा सचमुच बहुत आकर्षक है। पिछले महायुद्ध ने दुनिया में कुछ नई परिस्थितियां उत्पन्न कर दी हैं, जिनके कारण साम्यवाद की भावना का सर्वत्र वेग से प्रसार हुआ है। मानव जाति के आर्थिक जीवन पर युद्ध का भारी प्रभाव पड़ा है। सरकारों ने देश की जनता के प्रति उत्तरदायित्व को विशेष रूप से अनुभव किया है। इसीलिए प्रायः प्रत्येक देश में माल के उत्पादन और वितरण पर सरकारें नियन्त्रण करने लगी हैं। कोई व्यक्ति अन्न या वस्त्र न मिलने से कष्ट में न रहे, इसलिए वस्त्र, अन्न आदि के वितरण पर भी राशन पद्धति द्वारा नियन्त्रण करने लगी हैं। सरकारें कारखानों पर ही नहीं, खेती के उत्पादन पर भी देश की आवश्यकता के अनुसार नियन्त्रण करने लगी हैं। पूंजीवाद के विरुद्ध बढ़ते हुए असंतोष ने प्रायः सब देशों में प्रधान उद्योगों के राष्ट्रीयकरण की योजनाओं को क्रमशः अपनाया जाने लगा है। ब्रिटेन जैसे पूंजीवादी देश में कोयला, लोहा और यातायात के धन्धे सरकार ने अपने हाथ में कर लिये हैं। ईरान ने तेल की खानों को अपने हाथ में करने का जो निश्चय किया है, उससे ब्रिटिश उद्योगपति घबरा गये हैं। स्वयं भारत में यह प्रवृत्ति फैल रही है। अनेक प्रान्तों में ज़मींदारियां खतम की जा रही हैं। कई कारखाने भी सरकार स्वयं खोलने या चलाने लगी है।

कुछ नये क़दम

युद्ध के बाद साम्यवाद की दिशा में जो क़दम उठाये जा रहे हैं, उन सबके मूल में यह भावना विद्यमान है कि अमीर और गरीब में पारस्परिक भारी अन्तर को यथा-सम्भव कम किया जाय। इसके लिए निम्नलिखित उपाय काम में लाये जा रहे हैं—

१ बहुत से उद्योग धन्धे सरकार स्वयं चलाने लगी है।

२ सार्वजनिक उपयोग के प्रायः सभी व्यवसाय—रेलवे, बिजली, पानी तथा यातायात के अन्य साधन सरकार स्वयं अपने हाथ में ले रही है।

३ उद्योग-पतियों पर लाभ, उत्पादन आदि के सम्बन्ध में नियंत्रण।

४—मज़दूरों के न्यूनतम वेतनों को नियत करना, ताकि मिल-मालिक उनका शोषण न कर सकें।

५—अप्रत्यक्ष करों को कम करके बड़ी आमदनी पर क्रमशः प्रत्यक्ष कर लगाये जा रहे हैं।

६—जमींदारी प्रथा की समाप्ति।

७—लाभ में से मज़दूरों को एक भाग देना।

८—उत्तराधिकार के समय सम्पत्ति पर भारी कर आदि।

इन सब साधनों से प्रत्येक देश की सरकार अमीर और गरीब के पारस्परिक अन्तर को यथासंभव कम करने की कोशिश कर रही है।

साम्यवाद में दोष भी

साम्यवाद की दिशा में इतनी प्रगति होने पर भी आज यह नहीं कहा जा सकता कि साम्यवाद संसार की समस्याओं का समाधान करने में सफल होगा। अभी साम्यवाद परीक्षण की स्थिति में से गुज़र रहा है। साम्यवाद जहां अमीर गरीब की विषमता को दूर करता है, वहां वह मानव की—व्यक्ति की—स्वतन्त्रता का भी अपहरण करता है। वह उसे समाज का एक पुर्ज़ा भर बना देता है। उसमें स्वतन्त्र व्यक्तित्व के विकास की गुंजाइश नहीं रहती। समाज के लिए उसे अपनी बलि दे देनी पड़ती है। साम्यवाद में एक बड़ा

दोष यह है कि उसका मूल आधार आर्थिक है, किन्तु जीवन में अर्थ ही तो सब कुछ नहीं है। प्रेम, धर्म, ईश्वर और देश-प्रेम या परोपकार आदि भी तो गुण हैं, जो मानव समाज का संचालन करते हैं। इनकी उपेक्षा करके मानव के केवल अर्थ के बाह्य अंग पर ही आधार रखने वाला साम्यवाद कभी सर्वाङ्गीण नहीं हो सकता। वह एकांगी है। इसीलिए संसार के विचारक बहुत ध्यान से इस नये परीक्षण को देख रहे हैं। गांधीवाद में उक्त गुण भी हैं और संसार की विषमता, प्रतिस्पर्धा, विद्वेष को दूर करने की क्षमता भी। इसीलिए बहुत से विचारक गांधीवाद में विश्व की समस्याओं का समाधान देखते हैं।

मंहगाई की उलझनभरी पहेली

रूपरेखा

१—आर्थिक संकट—मूल्यों में असाधारण वृद्धि—काग़ज़ी नोटों की वृद्धि प्रसार से अधिक—मुद्रा प्रसार से चीज़ों की कीमतें ज़्यादा।

२—भारत में मुद्रा प्रसार कैसे—युद्धकाल में ब्रिटिश सरकार की नीति—२०-२२ अरब रु. के माल के बदले काग़ज़ी नोट।

३—मूल्य वृद्धि और व्यय का दुष्ट चक्र—एक के बाद एक चीज़ मंहगी—उत्पादन की वृद्धि बहुत कम अनुपात में—अन्न की मांग भी बढ़ी।

४—देश विभाजन के परिणाम—शासन-व्यय में कमी नहीं हुई—कल-कारखानों की पैदावार भी कम—पूंजीपतियों का असहयोग, कृषिबहुल प्रदेश पाकिस्तान में।

५—सँकट निवारण के कुछ उपाय—शासन में मितव्यय, उत्पादन-वृद्धि और अन्न उत्पादन—जनता से कर्ज़ और बचत की आदत आदि।

भयंकर मंहगाई

आज भारत जहाँ अनेक प्रकार की बाह्य व आन्तरिक राजनैतिक उलझनों में उलझा हुआ है, वहाँ देश की आर्थिक समस्या भी लगातार विषम होती जा रही है। इस दुर्दशा का स्पष्ट रूप है पदार्थों के मूल्यों में लगातार वृद्धि। युद्ध-समाप्ति के बाद लोग आशा करने लगे थे कि महंगाई कम होगी; परन्तु वह आशा पूर्ण नहीं हुई! समस्त देश अन्न वस्त्र की कमी और महंगाई से परेशान है। २५-२६) रु० और ३०) रु० तक प्रति मन गेहूँ मिल रहा है। चावल की कीमतें ३५-४०) रु० मन तक बढ़ गई हैं! कपड़ा पिछले कुछ महीनों में दुगने से भी अधिक महंगा हो गया है! दूध, घी, लकड़ी, कोयला व चीनी सभी लगातार महंगे हो गये हैं और होते जा रहे हैं! साधारण आय वालों का जीवन दूभर हो गया है! मकान, किराया, मजदूरी इत्यादि में भी तिगुनी चौगुनी वृद्धि हुई है! बोझ सहन शक्ति की सीमा पार करना चाहता है और ऐसा मालूम होता है, मानो सभी की आमदनी पहले से आधी तिहाई रह गई है।

'आख़िर इसका कारण क्या है' यह एक ऐसा प्रश्न है, जिसने समस्त भारत के अर्थशास्त्रियों, राजनीतिज्ञों तथा सरकारी अधिकारियों को परेशान कर रखा है। इसी प्रश्न पर हम संक्षेप से इन पंक्तियों में विचार करना चाहते हैं।

कागज़ी नोट

अर्थशास्त्रियों की परिभाषा में यह महंगाई मुद्रा-प्रसार का परिणाम है। मुद्रा प्रसार का अर्थ यह है कि बाज़ार में आवश्यकता से अधिक रुपया कागज़ी मुद्रा के रूप में प्रचलित है। साधारणतः सभी देशों में सोने या चांदी का सिक्का चलता है और उसका मूल्य सोने चांदी के बाज़ार भावों के साथ बदलता रहता है। जब सरकार किसी सिक्के का मूल्य सोने चांदी के बाज़ार-भाव की उपेक्षा करके नियत कर देती है, तब वही उसका मूल्य हो जाता है, किन्तु यह मूल्य तभी तक नियत रहता है, जब तक कि प्रजा को सरकार में

विश्वास हो। एक उदाहरण से यह बात स्पष्ट हो जायगी। चांदी के एक रुपये में ॥) की चांदी थी, किन्तु उसका मूल्य एक रुपया था और इसी मूल्य में उसका चलन था। लेकिन यह इसीलिए कि लोगों को विश्वास था कि वह चांदी का सिक्का १) रु० की चांदी खरीदने की सामर्थ्य रखता है। सरकार उस कम कीमत वाले सिक्के के बदले में भी एक रु० की चांदी देने को तय्यार थी। कागज़ी नोट की कीमत भी जनता इसीलिए लगाती है कि उसे यह विश्वास होता है कि जब हम चाहेंगे, सरकार इसके बदले में रुपया दे देगी।

प्रत्येक सरकार कागज़ो नोट निकालती है। कागज़ी मुद्रा की पुश्त पर उसे एक नियत अनुपात में सोना-चांदी अवश्य रखना पड़ता है, ताकि वह समय-असमय पर लोगों की कागज़ी नोटों के बदले सोने चांदी की मांग को पूरा कर सके और वस्तुतः यही कारण है कि जनता सरकार पर विश्वास करती है और उसके कागज़ी नोट, जिनकी असली कीमत एक पाई भी नहीं होती, असल रुपये समझ कर खुशी से स्वीकार कर लेती है।

मुद्रा-प्रसार

लेकिन एक ऐसा समय भी आता है, जब सरकार अपनी आवश्यकता से विवश होकर उस अनुपात की उपेक्षा कर देती है और अपने कोष में संचित सोने-चांदी की अपेक्षा बहुत भारी मात्रा में कागज़ी नोट निकाल देती है। तब बाज़ार में नोट की कीमत कम हो जाती है। कीमत कम हो जाने का अर्थ यह नहीं कि वह एक रुपये का नहीं रहता, बल्कि यह कि यदि उसमें पहले ८ सेर गेहूँ खरीदने की शक्ति थी, तो अब उस एक रु० के ४ सेर गेहूँ ही आते हैं, ज्यों-ज्यों कागज़ी नोट बाज़ार में ज्यादा आवेंगे, त्यों-त्यों उसकी क्रय शक्ति कम होती जावेगी, अर्थात् चीज़ें महंगी होती जावेंगी।

हम यह जानते हैं कि बाज़ार में जो चीज़ अधिक सुलभ होती है, उसके दाम कम होते हैं और दुर्लभ चीज़ के दाम ज्यादा हो जाते हैं। दुर्लभता, सुलभता का यह नियम मुद्रा पर भी लागू होता है। बाज़ार में जितने अधिक

नोट निकलेंगे, उतनी ही उनकी कीमत कम होगी, अर्थात् वह बहुत कम चीज़ खरीद सकेंगे। बस, यही मुद्रा-प्रसार है, जिसे अंग्रेज़ी में 'इनफ्लेशन' कहते हैं। इसे ही मुद्रा-स्फीति कहते हैं।

भारत में मुद्रा-प्रसार

लेकिन प्रश्न यह है कि भारत में मुद्रा-प्रसार हुआ क्यों ? इस महायुद्ध से पूर्व भारत सरकार ने २ अरब ५० करोड़ रु. के नोट जारी किए हुए थे, किन्तु युद्ध में सरकार को अनापशाप खर्च करने पड़े। प्रतिदिन ३-४ करोड़ रु० तक का व्यय सरकार को युद्ध पर करना पड़ा। इतना खर्च करने के लिए पहले लोगों से कर्ज मांगा गया और जब इससे पूरा न पड़ा, तब 'छापाखाने' का आश्रय लिया गया। युद्ध के कारण २५ अरब ३५ करोड़ रु० तक के नोट सरकार को निकालने पड़े। उनकी पुश्त पर सोना था न चांदी। ब्रिटेन से भारत ने ८ अरब रुपया कर्ज ले रखा था—८ अरब रु० कर्ज भारत के सिर पर ज़बर्दस्ती मढ़ा गया था—यह कहना ही अधिक उपयुक्त होगा। वह रुपया ब्रिटेन ने एक दम वसूल कर लिया। जो जो सामग्री ब्रिटेन को दी गई, उसका मूल्य उसने कर्ज में से काटने को कह दिया। लेकिन वह सामग्री जिस-से खरीदी गई थी, उसे सरकार ने नोट दे कर काम निकाल लिया। ब्रिटेन ने केवल अपना कर्ज आठ अरब रुपया ही वसूल नहीं किया, धींगा-धींगी करके और भी ६-७ अरब रुपये का माल ले लिया और उसके बदले देश में ७ अरब रुपये के नोटों की और बाढ़ आ गई। और, हम ऊपर देख चुके हैं कि जितने काग़ज़ी नोट बाज़ार में निकलते हैं, उतनी ही पदार्थों की कीमतें बढ़ जाती हैं।

दुष्ट चक्र

मूल्य वृद्धि और मुद्रा-प्रसार एक दूसरे पर अन्योन्याश्रित भी हैं। जितनी कीमतें बढ़ेंगी, उतना ही मज़दूरों, किसानों और सर्व साधारण जनता का कष्ट बढ़ेगा और इसके साथ बढ़ेगी वेतन-वृद्धि की आवाज़। वैतनिक कर्मचारी वेतन बढ़ाने के लिए आन्दोलन करेंगे, किसान अपने अन्न दाम बढ़ावेंगे

मज़दूर अपनी मज़दूरी बढ़ावेंगे, दुकानदार अपने नफ़े की मात्रा बढ़ा देंगे, तब चीज़ें और मंहगी होंगी और तब पुराने वेतनों से काम न चलेगा। बढ़े हुए खर्चों को पूरा करने के लिए वेतन और ज्यादा होंगे, मज़दूरों की मज़दूरी और भी अधिक बढ़ेगी। इसमे जहाँ उनकी आमदनी बढ़ेगी, वहाँ उनकी क्रय शक्ति भी बढ़ेगी और वे एक पैसे की बजाय चार पैसे में रोटी खरीद सकेंगे। लोगों के पास जितना पैसा अधिक आवेगा, उतना ही उनका व्यय बढ़ेगा और परिणामस्वरूप चीज़ें और मंहगी होंगी। इस तरह मंहगाई और कागज़ी-मुद्रा-वृद्धि का चक्र एक दूसरे पर प्रभाव डालता हुआ लगातार आगे बढ़ता जायगा। यही भारत में हुआ। ज्यों ज्यों नोट बढ़े मंहगाई बढ़ी और उसे पूरा करने के लिए फिर नोट छापे गये।

उत्पादन की कमी

यदि कागज़ी मुद्रा के साथ साथ पदार्थों का उत्पादन भी बढ़ता जाता, तो इतनी अधिक मंहगाई न होती। उस अवस्था में पदार्थों व नोटों की दुर्लभता या सुलभता में इतना अधिक अन्तर न आता, फलतः पदार्थों के दाम बहुत अधिक न बढ़ते। लेकिन युद्ध-काल में जो उत्पादन हुआ, उस का अधिकांश युद्ध कार्यों में चला गया। साधारण जनता के लिए उसका उपयोग नहीं हो सका। संभव है युद्ध के बाद उत्पादन बढ़ जाता, किन्तु समय समय पर होने वाले उपद्रवों, मज़दूर नेताओं की प्रेरणा से होने वाली हड़तालों तथा रेलवे अव्यवस्था के कारण पैदावार न बढ़ सकी।

भारतवर्ष के आर्थिक चक्र का आधार कृषि है। यद्यपि मज़दूरों व मिल-मालिकों का देश में अधिक ज़ोर है, तथापि मिल-मज़दूर सारे भारत में ३५ लाख से अधिक नहीं हैं। कृषि-जन्य पदार्थों की सुलभता या दुर्लभता समस्त व्यापार पर प्रभाव डालती है। युद्ध के दिनों में विदेशी अन्न के न आने तथा सेना की अत्यधिक मांग से भारतीय अन्न महंगा हो गया। इसका एक बड़ा परिणाम यह हुआ कि किसान खुशहाल हो गया। वह पहले अन्न उत्पन्न होते ही बेच देता था, किन्तु अब इसकी उसे आवश्यकता न रही। वह स्वयं भर-

पेट खाने लगा और इसका एक परिणाम यह हुआ कि अन्न का बाजार में आना कम हो गया। इसके परिणाम-स्वरूप अन्न की महंगाई और बढ़ी और अन्न को छिपाने का प्रलोभन भी ज्यादा बढ़ा। उन दिनों किसानों को कम्यूनिस्टों ने भी अन्न न बेचने का उपदेश दिया। अन्न की महंगाई जीवन व्यय को बढ़ाती है और उसे पूर्ण करने के लिए लोगों ने अपनी मज़दूरी बढ़ाई। कपड़े की कीमतें बढ़ीं, लोहार ने हल की क़ीमत बढ़ा दी। किसान ने इन बढ़े हुए ख़र्चों को अन्न की क़ीमत और बढ़ा कर पूरा किया। बस यह चक्र चलने लगा।

पदार्थों के दुर्लभ हो जाने के कारण व्यापारियों में नफ़ाखोरी व चोर-बाज़ारी बहुत बढ़ गई। उन्हें अपनी चोरी छिपाने के लिए रिश्वत आदि में जो रुपया ख़र्च करना पड़ा, वह ग्राहकों से ही वसूल करने के लिए पदार्थों के दाम और अधिक बढ़ा देने पड़े।

कुछ नये कारण

युद्ध समाप्त होने और स्वराज्य-प्राप्ति के बाद यह आशा की जा रही थी, कि अब ख़र्च घटेंगे और कल-कारखाने बढ़ेंगे। लेकिन ये दोनों काम नहीं हुए। देश-विभाजन के परिणाम-स्वरूप शरणार्थियों की संख्या पर करोड़ों रुपये ख़र्च करने पड़े। यों भी केन्द्रीय व प्रान्तीय सरकारों में अंग्रेजों के जाने के बावजूद ख़र्च अन्धाधुन्ध बढ़ गये। सरकारी अफ़सरों के वेतनों, भत्तों, मोटरों व शानदार कोठियों पर इतना अधिक ख़र्च हो रहा है कि सरकार स्वयं कांप उठी है। विदेशी दूतावासों पर ही असीम राशि व्यय हो रही है।

कल-कारखानों में जो उन्नति होनी चाहिए थी, वह नहीं हो सकी। इसके एक कारण हड़तालों की चर्चा ऊपर हो चुकी है। स्टर्लिंग बैलेन्स से जो रकम आने की उम्मीद थी, वह नहीं मिली। इसके कारण कारखानों के लिए नई मशीनरी नहीं मिली।

तीसरा कारण यह है कि नई सरकार की आर्थिक नीति पूंजीवाद-विरोधी है। दस साल बाद व्यवसायों के राष्ट्रीयकरण का ख़तरा है। इसलिए पूंजी-

पति कोई नया धन्धा खोलते हुए संकोच करते हैं। यही कारण है कि मिलों के शेयरों के भाव गिरते जा रहे हैं। एक यह भी सन्देह किया जा रहा है कि सम्पन्न वर्ग का सहयोग सरकार को प्राप्त नहीं हो रहा। तभी तो १९४७-४८ के सरकारी कर्जों में उन्होंने रुपया नहीं दिया और यह सब कमी सरकार को नये नोट निकाल कर पूरी करनी पड़ी। १९५० में कोरिया-युद्ध छिड़ जाने के कारण विश्वव्यापी युद्ध की सम्भावना बढ़ गई और सब देश कच्चा माल जमा करने लगे। इससे कच्चा माल महंगा हो गया। भारत ने अमरीका के डालर का क्रय मूल्य बढ़ा दिया, इससे उसका विदेशी सामान और भी महंगा हो गया।

इसी तरह से कुछ अन्य कारण भी गिनाये जा सकते हैं, किन्तु उनमें से मुख्य उपरिलिखित ही हैं।

संकट निवारण के उपाय

इन कारणों की विवेचना के बाद संक्षेप से इस समस्या के हल करने के उपायों का उल्लेख करना आवश्यक है। रोग के विभिन्न कारणों को नष्ट कर देने से ही रोग शान्त होता है।

१—सरकार को यथासम्भव अपने खर्च कम करने चाहियें। इसके लिए मन्त्रीमण्डल राज्यपाल तथा राष्ट्रपति भी अपने वेतनों व भत्तों में २० २५ फ़ीसदी कमी करके आदर्श उपस्थित कर सकते हैं। और भी बहुत से अनावश्यक व्यय कम किये जा सकते हैं।

२—दूसरा उपाय उत्पादन वृद्धि का है। जब तक बढ़ी हुई मुद्रा के मुकाबले में चीज़ों की पैदावार नहीं बढ़ेगी तब तक चीज़ें सस्ती न होंगी। यों तो सभी चीजों की पैदावार बढ़ानी चाहिये, किन्तु हमारी सम्मति में कृषि-जन्य पदार्थ और उनमें भी विशेषकर अन्न-उत्पादन की ओर विशेष ध्यान देना चाहिये।

३—किसान अनुचित नफ़ाखोरी के लिए अन्न जमा न कर सके, इसलिए श्री किशोरलाल मश्रूवाला का यह सुझाव अवश्य विचारणीय है कि किसानों

से मालगुजारी नकदी की बजाय अन्न के रूप में ली जाय। मजदूरों व मिल-मालिकों दोनों पर कठोर नियन्त्रण होने चाहियें, ताकि उत्पादन-वृद्धि में वे रुकावट न डाल सकें

४—सरकार जनता से कर्ज़ ले और लोग बैंकों व डाकखानों में रुपया जमा करावें। इसके लिए अनेक अर्थ-शास्त्रियों ने तनखा में से ही जबर्दस्ती बचत का भी सुझाव रखा है, अर्थात् मजदूरों के बोनस उन्हें नक़द न दिये जाकर बैंकों में जमा करा दिये जायें।

किन्तु ऐसा क़दम उठाने के लिए यह देखना आवश्यक है कि कहीं असंतोष उग्ररूप धारण न कर ले। पूंजीपतियों के असहयोग को भी कुछ समझौते द्वारा और कुछ विवश करके प्राप्त करना चाहिये। आदर्शवाद की जगह व्यावहारिकता पर अधिक ध्यान देना चाहिये और उद्योग-धन्धे बढ़ाने के लिए आकर्षक योजनायें रखनी चाहियें।

अपनी स्टर्लिंग-निधि की रक्षा करते हुए भी विदेशी आयात को कुछ अधिक प्रोत्साहन देना चाहिये, ताकि बाजार में अधिक चीजें आ सकें। और अन्त में, हमें भी चीन की तरह अपनी मुद्रा का आधार फिर से सोने या चांदी को बनाने की नीति पर विचार करना चाहिये। इससे मुद्रा का मूल्य बढ़ेगा। उससे ज्यादा चीजें खरीदी जा सकेंगी।

ये कुछ उपाय हैं, जिन पर सरकार व जनता के सहयोग से ही अमल हो सकता है।

आर्थिक समृद्धि की पंचवर्षीय योजना

रूपरेखा

१—विभिन्न देशों में आर्थिक योजनाएं—रूस, अमेरिका, इटली, इंग्लैण्ड—भारत में भी कांग्रेस ने योजना समिति बनाई।

२—युद्ध से स्वावलम्बन की प्रेरणा— युद्ध में विध्वंस के बाद निश्चित योजनाएं—आर्थिक सगठन का पुनर्निर्माण।

३—भारत में स्वतन्त्रता के साथ पुनर्निर्माण—देश-विभाजन की समस्याएं—पुनर्वास की निश्चित योजनाएं—नये संविधान में योजना-संबधी उद्देश्यों का उल्लेख।

४—योजना आयोग (कमीशन) की नियुक्ति—१७ अरब ९३ करोड़ रु. की योजना—६ अंग।

५—कृषि और ग्राम विकास—सिंचाई की व्यवस्था—यातायात व संचार प्रधान उद्योग—उद्योगों का राष्ट्रीयकरण, निजी उद्योग भी, ग्रामोद्योग—पुनः स्थापन—समाजसेवा या राष्ट्रनिर्माण।

६—जनसंख्या पर नियंत्रण—भारतीय सेवा संघ—विषमता की कमी।

विभिन्न देशों में आर्थिक योजनाएं

पिछले महायुद्ध के पूर्व से ही सब देशों का ध्यान अपने आर्थिक विकास की निश्चित योजनाओं का निर्माण करने की ओर खिंच चुका का। रूस की पहली और दूसरी पंचवार्षिक योजनाओं की ओर विशेषकर पहली योजना की असाधारण सफलता ने सब सरकारों और अर्थशास्त्रियों को अपने अपने देश के लिए भी निश्चित योजनाओं के अनुसार कार्य करने की प्रेरणा दी थी। अमेरिका में प्रेज़िडैण्ट रूज़वेल्ट ने आर्थिक संकट को दूर करने के लिए विशाल योजना बनाकर ही टैनेसी घाटी में कार्य प्रारम्भ किया था। १२,५०,००० बेकारों को नये जंगल बनाने के काम पर लगाया गया। तीन वर्षों में १,६० ००० नये मकान बनाये गये। इटली में मुसोलिनी ने भी निश्चित योजनानुसार इटली के अधिक विकास का प्रयत्न किया था। कोयले की कमी को पूरा करने के लिये बिजली ज्यादा से ज्यादा निकालने का प्रयत्न किया गया। कुछ ही सालों में बहुत सी अनुपजाऊ भूमियां उपजाऊ बन गईं। बिजली की मोटरें विशेप रूप से बनीं। ४००० मील सड़कें तैयार हुईं,

११००० नये स्कूल खोले गये, बहुत सी नहरें बनाई गईं और करोड़ों रुपया बन्दरगाहों पर व्यय किया गया। हिटलर ने भी जर्मनी के आर्थिक अभ्युदय के लिए निश्चित योजनाएं तैयार कीं। इंग्लैण्ड में भी झोंपड़ी-सफ़ाई की पंच-सालाना योजना बनाई गई और कुछ समय बाद ४३०००० नये घर बनाने का निश्चय किया गया। इन सब देशों की देखा-देखी भारत में कांग्रेस ने भी पुनर्निर्माण के लिए एक निश्चित योजना के महत्त्व को समझकर पं० जवाहर-लाल नेहरू के सभापतित्व में एक 'प्लैनिंग कमीशन' बनाया। इस कमेटी ने अपनी व्यापक योजना के निम्नलिखित आधार नियत किये थे—प्रत्येक व्यक्ति को स्वास्थ्ययुक्त भोजन, कम से कम ३० गज़ वार्षिक कपड़ा और १०० वर्गफुट का निवासगृह। कांग्रेस योजना के बाद अनेक अर्थ-शास्त्रियों और स्वयं सरकार ने भी देश के आर्थिक विकास की ओर ध्यान दिया तथा कई योजनाएं प्रस्तुत कीं।

युद्धकाल में स्वावलम्बन की प्रेरणा

युद्ध का ख़तरा पास आने पर तो प्रत्येक देश यह सोचने लगा कि हमें स्वावलम्बी होना चाहिए, न जाने कब युद्ध छिड़ जाय और विदेशों से आवश्यक सामान मिलने बन्द हो जायें। युद्धकाल में स्वावलम्बन की इस भावना और प्रवृत्ति को बहुत बल मिला। भारतवर्ष में ही अनेक नये नये धन्धे खुले, यद्यपि इनका उद्देश्य युद्धसामग्री ही उत्पन्न करना था। युद्ध की नयी स्थितियों ने सरकारों को उत्पादन और वितरण की योजनाएं बनाने के लिए विवश किया। बंगाल के भीषण दुर्भिक्ष में जब ३५ लाख आदमी मर गए, तब सरकार को अन्न-राशन की व्यवस्था करनी पड़ी। आगे जाकर कपड़ा, कोयला और चीनी के राशन की भी योजनाएं क्रिया में परिणत हुईं।

युद्ध में अपार विध्वंस ने यूरोप के समस्त आर्थिक चक्र को नष्ट कर दिया। कल कारखाने तबाह हो गये, बड़े बड़े शहर और ग्राम धूलिसात् हो गये, खेती का काम बन्द होगया। युद्ध समाप्त होने से पहले ही सब देशों के अधिकारी और अर्थशास्त्री अपने अपने देश के पुनर्निर्माण की बड़ी बड़ी

योजनाएं बनाने लगे। युद्ध समाप्त होते ही इन पर अमल शुरू हो गया। रूस, ब्रिटेन, अमेरिका फ्रांस आदि ने पुनर्निर्माण और विकास की बड़ी बड़ी योजनाएं बनाई। इनका उद्देश्य खेतो की उपज, कल कारखानों के माल की तरक्की, बिजली, कोयले व अन्य शक्तियों के उत्पादन में वृद्धि था।

भारत में भी योजनाओं की आवश्यकता

भारतवर्ष में भी सरकार कई योजनाएं बना रही थी। वस्तुतः भारत में विदेशी सरकार ने कभी इसे स्वावलम्बी बनाने की नीति भी न अपनाई थी और न कभी राष्ट्र निर्माण की ओर ही ध्यान दिया था। इसलिए यहां सभी क्षेत्रों में देश पिछड़ा हुआ था। देश के स्वतन्त्र होने पर यह स्वाभाविक था कि देश को समृद्ध, स्वावलम्बी तथा साक्षर बनाने की ओर सबका ध्यान जाता। आर्थिक नीति भी हमारी कोई न थी। स्वतन्त्रता के साथ-साथ देश के विभाजन ने और भी विषम आर्थिक समस्याएं उत्पन्न कर दीं। अन्न, रुई और जूट आदि कृषिजन्य पदार्थों की भारत में कमी हो गई क्योंकि कृषि बहुल प्रदेश पाकिस्तान में चले गये। ४०-५० अरब रु० की सम्पत्ति पाकिस्तान में छोड़ कर हिन्दू भारत में आ गये। उनके पुनर्वास, आजीविका आदि की समस्याएं भी बृहदाकार धारण करके सामने आ उपस्थित हुईं। इसलिए देश के आर्थिक विकास का प्रश्न बहुत अधिक विचारणीय बन गया। छोटी-मोटी अनेक योजनाएं सरकार ने बनाईं। कांग्रेस ने भी एक निश्चित योजना प्रस्तुत की। कृषि के सम्बन्ध में तो अनेक प्रान्तीय सरकारों ने जमींदारी समाप्ति के कानून तक बना डाले। बड़े-बड़े उद्योग, ग्रामोद्योग, पूंजी के आयोजित-विनियोग, आयात-निर्यात सम्बन्धी नीति, पुनर्वास आदि प्रश्नों पर काँग्रेस, गांधीवादी कार्यकर्ता तथा दूसरे अर्थशास्त्री विचार-विनिमय करते रहे। पूंजी-वाद तथा साम्यवाद आदि सभी विचारधाराओं का इस विचार-विनिमय में भाग रहा। भारतवर्ष का जब नया संविधान बनाया गया, तब उसमें आर्थिक नीति का स्पष्ट और निश्चित शब्दों में उल्लेख किया गया। इसमें कहा गया था कि—

(क) समानरूप से नर व नारी सभी नागरिकों को आजीविका के पर्याप्त साधन प्राप्त करने का अधिकार हो।

(ख) समाज की भौतिक सम्पत्ति का स्वामित्व और नियंत्रण इस प्रकार हो कि उससे सामूहिक हित हो सके।

(ग) धन और उत्पत्ति के साधन इस प्रकार केन्द्रीभूत न हों, जिससे सर्व-साधारण के हितों को हानि न पहुँचे।

(घ) व्यक्तिगत सम्पत्ति के स्वामित्व को भी नागरिक अधिकारों में गिना गया था।

योजना-आयोग

इस नीति को क्रियान्वित करने के लिए भारत सरकार ने मार्च १६५० में एक योजना-आयोग का संगठन किया, जिसके अध्यक्ष स्वयं पं० जवाहरलाल नेहरू थे। मज़दूरों उद्योगपतियों के भी प्रतिनिधि उसमें लिये गये थे। इस कमीशन ने १५ मास तक विचार-विनिमय के बाद एक पंच-वर्षीय योजना तैयार की। इस योजना के पूर्ण होने तक १७ अरब ६३ करोड़ रुपये व्यय होने का अनुमान किया गया है।

आयोग की योजना

इस योजना के दो भाग हैं। प्रथम भाग पर १४ अरब ६३ करोड़ रु० व्यय होगा और दूसरे भाग पर ३ अरब रु.। प्रथम भाग के अन्तर्गत मुख्य विषय निम्नलिखित हैं —

(१) कृषि और ग्राम विकास (२) सिंचाई और बिजली (३) यातयात और संचार (४) प्रधान उद्योग (५) समाज-सेवा-कार्य (६) पुनःस्थापन।

कृषि और ग्राम विकास

भोजन और खाद्य की दृष्टि से किसी देश का स्वावलम्बी होना अत्यन्त आवश्यक है। इसके बिना कोई देश सुखी व समृद्ध नहीं हो सकता। अन्न के लिए दूसरों पर आश्रित होना सचमुच दुर्भाग्य की बात है, किन्तु सचाई

यही है कि युद्ध के दिनों में होने वाले दुर्भिक्ष में ३५ लाख बंगाली दाने-दाने के लिए तरसते हुए मर गये। देश के विभाजन ने अन्न की स्थिति और भी विषम कर दी। कृषि-बहुल प्रदेश पाकिस्तान में चले गये। पिछले कुछ वर्षों से भारत सरकार को १-१॥ अरब रु. का अनाज प्रतिवर्ष विदेशों से मंगवाना पड रहा है। यह भारत की अर्थ-व्यवस्था पर भारी बोझ है। इसलिए यह स्वाभाविक ही था कि नई योजनाओं में कृषि को विशेष महत्त्व दिया जाता। अन्न की पैदावार तो बढ नहीं रही, किन्तु जन-संख्या लगातार बढ़ रही है। योजना-आयोग ने हिसाब लगाया है कि १९५६ में हमारी जन-संख्या पौणे तीन करोड बढ जायगी और तब यदि प्रति व्यक्ति आध सेर अन्न दैनिक देना हो तो १ करोड़ ५८ लाख टन अनाज की कमी होगी। अनाज ही नहीं रूई और जूट की भी हमारे देश मे बहुत कमी है। यदि ये दोनों चीज़ें पर्याप्य मात्रा में विदेशों से न मंगाई जावें, तो भारत के बहुत से कल-कारखाने बन्द हो जावेंगे। योजना-आयोग ने सारी कमी की पूर्ति शीघ्र असंभव समझकर आगामी पांच वर्षों में कम से कम ७२ लाख टन अन्न, २० लाख ६० हजार गांठें जूट (एक गांठ ५० मन की), तथा १२ लाख गांठें रूई की पैदावार बढाने का लक्ष्य सामने रखा है। इसी तरह तेल, बीज और गन्ने की पैदावार भी बढ़ाने के लिए एक लक्ष्य नियत किया है।

सिंचाई की योजना

केवल इच्छा मात्र से तो भूमि अन्न या अन्य पदार्थ नहीं उगलने लगेगी। भारत में हजारों सालों से खेती होती आई है, इसलिए इसकी उपजाऊ शक्ति कम हो चुकी है, सिंचाई की भी व्यवस्था बहुत कम है और खेती भी बहुत पुराने ढंग की होती है। भारत में प्रकृति अत्यन्त उदार रही है। इस सुजला भूमि में पानी की कमी नहीं है। कमी है केवल इसे खेत खेत में पहुँचाने की। सरकार देश के भिन्न-भिन्न राज्यों में नदियों पर बांध बांध कर नहरें खोदने की योजनाएं तैयार कर रही है। भाकरा व नांगला बांध पंजाब में बनाये जा

रहे हैं। दामोदर घाटी की एक विशाल योजना बन रही है। योजना कमीशन ने ४५१ करोड़ सिंचाई और बिजली उत्पादन की योजना के लिए स्वीकृत किया है। इन पर १३८ करोड़ रु. अब तक खर्च हो चुका है। इन योजनाओं के कार्यान्वित होने पर १९५६ ई. तक ८७ लाख एकड़ अतिरिक्त भूमि की सिंचाई हो सकेगी और ११ लाख किलोवाट बिजली तैयार हो सकेगी। कुएं और नल भी खोदने की योजनाएं बन रही हैं। इनसे भी ७६ लाख एकड़ भूमि की सिंचाई हो सकेगी। ट्रैक्टरों के केन्द्रीय संघ बनाये जायेंगे, जिससे जमीन गहरी और जल्दी जोती जा सके।

यातायात व संचार

देश के आर्थिक विकास के लिए सड़कों, रेलों तथा जल-मार्ग के विकास की भी सख्त जरूरत है। आज तो गांव-गांव तक पहुंचने के लिए सड़कें भी नहीं हैं। कमीशन ने इस दिशा में उन्नति करने के लिए पांच साल तक पौने चार करोड़ रुपये से कुछ अधिक राशि नियत की है।

प्रधान उद्योग

योजना-आयोग ने देश के औद्योगिक-विकास को बड़े-बड़े निजी उद्योगों, सरकारी उद्योगों तथा ग्रामोद्योगों में विभक्त किया है। अलूमीनियम, मोटर, सीमेण्ट, कपड़ा, कांच, कागज़, लोहा, चीनी आदि धन्धे निजी उद्योग माने गये हैं। इन सब के लिए पांच वर्ष तक नये लक्ष्य बनाये गये हैं। रूई के अधिक उत्पादन के फलस्वरूप सूती मिलें ४५००० लाख गज़ कपड़ा तैयार कर सकेंगी और करघा उद्योग द्वारा १६००० लाख गज़ कपड़ा तैयार हो सकेगा। १९४९-५० में भारत के नागरिक को १३.४ गज़ कपड़ा प्राप्त हुआ, वहां पांच वर्ष बाद ६-७ हज़ार लाख गज़ कपड़ा निर्यात करने के बाद भी औसतन १५ गज़ कपड़ा प्राप्त होगा। चीनी का उत्पादन योजनानुसार बढ़ने से प्रति व्यक्ति चीनी की औसतन खपत १ सेर बढ़ जायगी। जूट के उत्पादन में वृद्धि-स्वरूप हमारी जूट मिलों का उत्पादन आज से सवाया हो जायगा। इसी तरह विभिन्न उद्योग-धन्धों के उत्पादन में भी कल्पनातीत वृद्धि होने की संभावना है।

ग्रामोद्योगों और छोटे धन्धों के विकास के लिए भी कमीशन ने १६ करोड़ रुपये के व्यय की स्कीमें बनाई हैं, ग्रामोद्योग के विकास के लिए सहकारी समितियों पर जोर दिया गया है। बिजली इंजिन तथा रेलगाडी और शस्त्रास्त्र आदि के धन्धों में सरकार स्वयं उन्नति करेगी।

पुनःस्थापन

पाकिस्तान से आये हुए लोगों को पुनःस्थापित करने की समस्या बहुत प्रयत्न करने पर भी अब तक हल नहीं हुई है। उनके लिए मकानों की, रोजगार तथा दूसरी आवश्यकताओं को पूर्ण करने के लिए तीन सालों में ७६ करोड़ रु० खर्च करने की राय दी है।

समाज-सेवा या राष्ट-निर्माण

ब्रिटिश सरकार को भारत-शोषण ही अभीष्ट था। इसलिए शिक्षा, स्वास्थ्य आदि की ओर उसने बहुत कम ध्यान दिया। अब प्रत्येक राज्य मे समाज-सेवा के विविध क्षेत्रों को उन्नत करने का प्रयत्न किया जा रहा है। क्षा, स्वास्थ्य, निवास, मजदूरों की सुखसुविधा और पिछड़ी जातियों में सुधार के लिए अनेक योजनाएं बनाई गई हैं, जिन पर करीब ॥ अरब रु० व्यय होगा।

योजना कमीशन ने देश की बढ़ती हुई जन-संख्या को भय की दृष्टि से देखा है, क्योंकि देश के साधन उन सबकी आवश्यकता पूर्ति में समर्थ नहीं है, इसलिए उसने जनता के भावों को चोट न पहुंचाते हुए भी संततिनिग्रह का प्रचार करने की सलाह दी है। कृषि की पैदावार कमीशन की सम्मति में केवल स्कीमों और यंत्रों से नहीं बढ़ेगी, इसलिए उसने जमींदारी पद्धति समाप्त करके किसानों को भूमिधारी बनाने का समर्थन किया है। अन्य योजनाएं भी पूर्ण करने के लिए देशव्यापी आन्दोलन करने और इस उद्देश्य से भारतीय सेवा-संघ बनाने का परामर्श कमीशन ने दिया है। रूस आदि देशों में अपनी विकास योजनाओं के लिए जितना उत्साह पाया जाता है, उसका शतांश भी भारत में नहीं है। राष्ट्र हमारा है और इसकी उन्नति

हमारा कर्त्तव्य है, यह भावना ही अभी तक हम लोगों में उत्पन्न नहीं हुई। जब तक समस्त राष्ट्र में इस भावना का संचार नहीं होगा, तब तक कोई योजना सफल नहीं हो सकती। कमीशन ने इस प्रश्न पर गहराई के साथ विचार करते हुए जहां जमींदारी पद्धति समाप्त कर किसानों को ज़मीन का मालिक बनाने की राय दी है, वहां अमीर ग़रीब की विषमता कम करने के लिए भी कुछ परामर्श दिये हैं. जैसे मजदूरी में वृद्धि, उनके लिए मकान, शिक्षा व चिकित्सा की व्यवस्था, अमीरों पर प्रत्यक्ष करों में वृद्धि, मृत्यु के समय संपत्ति पर कर, राशन व कण्ट्रोल द्वारा ग़रीबों को सुविधा की व्यवस्था जारी रखना आदि। औद्योगिक विकास के लिए उद्योगपतियों को प्रोत्साहन मिले, इस उद्देश्य से व्यक्तिगत सम्पत्ति के अधिकार को स्वीकार भी किया गया है। गांधी जी ग्रामोद्योगों के समर्थक थे, साम्यवादी उद्योगों के राष्ट्रीयकरण के समर्थक हैं और उद्योगपति निजी धन्धों के। नई योजना में इन तीनों का समन्वय किया गया है।

हमारी नई समस्याएं

रूपरेखा

१—स्वतंत्रता के बाद नई समस्याएं।

२—आर्थिक संकट अन्न वस्त्र की दुर्लभता, मंहगाई, बेकारी, उद्योग-धन्धों की कमी।

३—शरणार्थियों की विकट समस्या—पाकिस्तान—पाकिस्तानी नेताओं की द्वेषपूर्ण नीति—काश्मीर—शरणार्थियों की ४० अरब की सम्पत्ति—नहरी पानी और बिजली आदि—घूंसा—युद्ध का नारा आदि।

४—विदेशी नीति—तटस्थ नीति के कारण कम राष्ट्र हमारे मित्र—विदेशों पर एक दृष्टि—भारत के शत्रु और मित्र।

५—आन्तरिक संघर्ष—विभिन्न विचारधाराएं—प्रान्त, भाषा और संप्रदाय का मोह।

६—घोर नैतिक पतन—समस्त राष्ट्र अनैतिकता के गर्त में।

७—विदेशी संस्कृति की दासता।

८—भारत का भविष्य उज्ज्वल है—सब समस्याओं पर विजय प्राप्त करेंगे।

आर्थिक समस्या

आज राष्ट्र की सर्व प्रधान समस्या आर्थिक है। अन्न और वस्त्र-संकट❀ हमारे सामने मुंह बाये खड़े हैं। जीवन लगातार मंहगा होता जा रहा है, रुपये की कीमत तीन चार आने रह गई है। मध्यम श्रेणी के मनुष्य की स्थिति तो बहुत दयनीय हो गई है। इन सब कारणों से जनता में असंतोष की आग फैलती जा रही है। सोशलिस्ट और कम्यूनिस्ट इसका पूरा लाभ उठाकर सरकार के विरुद्ध विद्रोह संगठित कर रहे हैं।

आर्थिक समस्या के अन्तर्गत शरणार्थियों की समस्या कम विकट नहीं है। देश-विभाजन के समय किसी को कल्पना भी न थी कि जनता को भी अपने सदियों के घरबार छोड़ने पड़ेंगे, किन्तु पाकिस्तानियों के अत्याचार के कारण पश्चिमी पाकिस्तान के ६५ और पूर्वी बंगाल के ५० लाख हिन्दुओं को भारत आना पड़ा। इन सब के पुनर्वास की समस्या बहुत विकट है। बहुत कुछ प्रयत्न करने पर भी इसका एक तिहाई भाग हल नहीं हुआ। देश की सर्व-प्रथम समस्या आर्थिक समस्या है। सरकार विभिन्न योजनाओं द्वारा इसे दूर करने का प्रयत्न कर रही है।

पाकिस्तान

देश की दूसरी समस्या है पाकिस्तान की। पाकिस्तान का जन्म ही विद्वेष, घृणा, झूठ और बर्बरता की नींव पर हुआ था। एक देश के निवासी हिन्दू

❀ अन्न संकट संबंधी लेख भी देखिये। —लेखक

और मुसलमानों को अलग अलग राष्ट्र मानकर पाकिस्तान की स्थापना की गई। पाकिस्तान के लिए जिस जनसंख्या का आश्रय लिया गया, वह भी नितान्त झूठी थी। पाकिस्तान बनाने के लिए नोआखली, रावलपिंडी, सीमा प्रांत, लाहौर, मुलतान और शेखूपुरा आदि में बर्बर हत्याकांड किए गये, स्त्रियों के साथ अपहरण, बलात्कार, बलात् विवाह, हत्या आदि अमानुषिक अत्याचार किये गये। इस प्रकार पाकिस्तान जिस परिस्थिति में बना, उसी परिस्थिति और परम्परा को आज वह कायम रखे हुए है। काश्मीर पर आक्रमण इस सिलसिले की पहली कड़ी है। पाकिस्तान से निकलते हुए हिन्दू और सिखों की जायदादों को, जिनका मूल्य ४० अरब से कम नहीं है, हड़प करने की चालें जो वह चल रहा है, उससे भी दोनों देशों के सबन्ध लगातार बिगड़ते जा रहे हैं। पंजाब में नहरों के पानी और बिजली के सवाल पर भी एक झगड़ा पैदा हो गया। पाकिस्तान के लोग हजारों की संख्या मे आसाम में घुस आए। पूर्वी बंगाल में हिन्दुओं के साथ अत्याचारों की शृंखला बार बार आरंभ हो जाती है।

१६५१ के मध्य में भारत से युद्ध करने का नारा पाकिस्तान में चलाया गया था। पाकिस्तानी नेताओं ने जनता के धर्मोन्माद को उत्तेजित करने के लिए मुक्के को अपना राष्ट्रीय चिन्ह घोषित कर दिया था।

विदेशी राजनीति

भारत के सामने तीसरी समस्या विदेशी राजनीति की है। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में आज जो दो ज़बरदस्त गुट बन गये हैं, भारत उनमें से किसी एक के साथ अपने को मिलाना नहीं चाहता। वह निष्पक्ष और न्यायपरायण रहना चाहता है, किन्तु दोनों गुट उसे अपनी ओर मिलाने का प्रयत्न करते हैं और जब वे इसमें सफल नहीं हो पाते तो वे भारत के विरोधी बन जाते हैं। इंग्लैण्ड का भी रुख भारत के अनुकूल नहीं और अब तो चर्चिल की अनुदार-सरकार बन गई है। पाकिस्तान खुद उसी की रचना है। वह भारत को भी रूस विरोधी शतरंज में अपनी चाल का मुहरा बनाना चाहता है और

भारत की तटस्थता नीति से असन्तुष्ट है। काश्मीर के प्रश्न पर अमेरिका और इंग्लैण्ड दोनों ने भारत का विरोध किया है और इन्हीं की वजह से काश्मीर का प्रश्न इतना उलझ गया है। दक्षिण अफ्रीका में तो भारतीयों के साथ जो भेद-नीति व्यवहृत की जा रही है उसके कारण राजनैतिक और व्यापारिक सम्बन्ध विच्छेद हो चुका है।

रूस का रुख भी भारत के अनुकूल नहीं है। वह अपने कम्युनिज्म को भारत पर लादना चाहता है। इसलिए उसके इशारे पर नाचने वाले भारतीय कम्युनिस्ट भारत सरकार का विरोध करते हैं।

फ्रांस भारत-स्थित अपनी बस्तियां छोड़ने को तैयार नहीं। हिन्द चीन में फ्रांसीसी प्रभुत्व का भारत विरोध करता है। इस कारण फ्रांस भी भारत से असन्तुष्ट है। हालैण्ड ने जब इण्डोनेशिया पर पुनः आक्रमण किया तब भारत ने उसका तीव्र विरोध किया। पुर्तगाल भी अपनी भारतीय बस्तो कायम रखने की ज़िद के कारण प्रसन्न नहीं है। संक्षेप में हम कह सकते हैं कि भारत की आदर्शवादिता, न्याय-परायणता के कारण कोई स्वार्थ-परायण राष्ट्र हमसे प्रसन्न नहीं हैं, किन्तु ऐसा समय दूर नहीं है कि जब भारतवर्ष संसार में इन्हीं गुणों के कारण लोकप्रियता प्राप्त कर लेगा। इण्डोनेशिया, बर्मा आज उसके मित्र हैं। राष्ट्रसंघ में कम्यूनिस्ट चीन का समर्थन प्राप्त कर भारत उसकी भी सहानुभूति प्राप्त कर रहा है। हिन्दचीन और जापान योरुप के साम्राज्य के विरुद्ध भारत के नेतृत्व को स्वीकार कर लेंगे। विश्वव्यापी संघर्ष में यदि भारत अपनी तटस्थता को कायम रख सका तो वह शनैः शनैः संसार के राष्ट्रों में आदर प्राप्त कर लेगा, यद्यपि इसमें देर लग सकती है।

आन्तरिक संघर्ष

भारत की चौथी समस्या आन्तरिक है और वह दो प्रकार की है। एक विभिन्न वादों और विचारधाराओं मे परस्पर संघर्ष की है और दूसरी अपने-अपने प्रांत, अपनी-अपनी भाषा और अपने-अपने धर्म के कारण संघर्ष की है। कुछ लोग देश में पूंजीवादी शासन पद्धति चाहते हैं, कुछ सब उत्पत्ति-

साधनों का राष्ट्रीयकरण चाहते हैं, कुछ ऐसे भी हैं जो इन दोनों मार्गों के बीच में चलना पसन्द करते हैं। चौथे गांधीवादी हैं, जो कल-कारखानों को बिलकुल नष्ट करके चरखे तथा अन्य ग्रामोद्योगों का प्रचार करना चाहते हैं। इन चारों विचारधाराओं में संघर्ष होता रहता है और अभी तक हम यह निश्चय नहीं कर सके कि भारत में कौन-सी पद्धति चालू करें ?

संकुचित सांप्रदायिकता

आंतरिक समस्या का दूसरा रूप यह है कि अभी तक हम लोग अपने प्रान्त, अपनी भाषा, अपने धर्म का मोह नहीं छोड़ सके। इसलिए जहां एक ओर हम अपने प्रान्त के हित को राष्ट्र हित से अधिक महत्व देते हैं, वहां दूसरी ओर अपने सम्प्रदाय के लिए देश के हित की बलि करने के लिए तैयार रहते हैं। बंगाली, बिहारी, आंध्र, तामिल, मराठी, गुजराती, पंजाबी आदि अपनी-अपनी भाषाओं के आधार पर देश को खडित करने पर तुल गए हैं। मुसलमान और सिक्खों की साम्प्रदायिकता अभी तक जारी है। इन सब आंतरिक समस्याओं का इलाज केवल एक बात मे है कि हम सब राष्ट्र के समान हित को अपने सब व्यक्तिगत और दलगत हितों से ऊंचा स्थान दें, यही सच्ची राष्ट्रीयता है।

घोर नैतिक पतन

राष्ट्र की एक प्रमुखतम समस्या यह है कि आज सारा राष्ट्र ही नैतिक पतन का शिकार हो चुका है। पिछले महायुद्ध ने हमारे राष्ट्र में जिस अनैतिकता और अनाचार का बीज बो दिया था, आज वह बृहदाकार वृक्ष के रूप में हमारे सामने उपस्थित है। समाज का छोटे-से-छोटा और बड़े-से-बड़ा अंग आज चरित्रहीन हो उठा है। धन लोलुपता और कामुकता ने प्रत्येक स्त्री-पुरुष को ग्रस लिया है। किसान, मजदूर, व्यापारी, उत्पादक और ग्राहक अफ़सर और नौकर सभी का चारित्रिक पतन हो गया है।

शराब, मांस और तम्बाकू का प्रचार लगातार बढ़ता जा रहा है। कभी-कभी ऐसा प्रतीत होता है कि हमारा दुर्बल समाज जो अनैतिकता का शिकार

हो गया है अपनी रक्षा नहीं कर सकेगा। अंग्रेज़ों के चले जाने के बाद भी अंग्रेज़ी सभ्यता और संस्कृति, शिक्षा व पाश्चात्य आदर्शों से हम स्वतंत्र नहीं हो सके। भारत भारत ही नहीं रहा, यह विदेश हो रहा है। इसे फिर से भारत बनाना है।

हमने संक्षेप में राष्ट्र के सम्मुख आई हुई बाहरी और आंतरिक समस्याओं का संक्षिप्त विवेचन किया है। समस्याएं एक अन्धकारपूर्ण चित्र उपस्थित करती हैं। परन्तु हमें राष्ट्र के भविष्य पर विश्वास है। सदियों की पराधीनता का परिणाम इन भयंकर समस्याओं के सिवा और कुछ हो भी नहीं सकता था। आज राष्ट्र स्वतंत्र है। वह अपने भविष्य को स्वयं बना और बिगाड़ सकता है। हमें विश्वास करना चाहिए कि हम शीघ्र ही उठ खड़े होंगे और देश के बाह्य एवं आन्तरिक शत्रुओं पर विजय प्राप्त कर लेंगे।

संयुक्त राष्ट्रसंघ [यू. एन. ओ.]

रूपरेखा

१-युद्ध के विध्वंस के बाद शान्ति की इच्छा।

२—१९२० में प्रथम राष्ट्र संघ की स्थापना—संघ के कार्य—असफलता।

३—द्वितीय महायुद्ध के बाद नया राष्ट्रसंघ—सानफ्रांसिस्को में स्थापना—उद्देश्य और संगठन—पांच संस्थाएं।

४—संघ के सामने नई अन्तर्राष्ट्रीय समस्याएं—संघ को आंशिक सफलता—नये संघ में भी दोष।

५—संघ की सामाजिक सेवाएं और संघ का भविष्य।

आज से करीब २००० वर्ष पूर्व सम्राट अशोक ने कलिंगयुद्ध में जन-विनाश देखकर युद्ध न करने और धर्म-प्रसार द्वारा विश्व-विजय का पुनीत व्रत

लिया था। उसके कुछ समय बाद आने वाले भारतीय शासकों ने उस व्रत को नहीं निभाया। इसी तरह संसार के वर्तमान राजनीतिज्ञों ने भी बीसवीं सदी के प्रथम महायुद्ध के बाद विश्व-शान्ति का नया व्रत लिया था कि हम आपसी विरोध और संघर्ष के प्रश्न तलवारों और बमों द्वारा नहीं, पारस्परिक शान्ति-चर्चा अथवा पंचायत द्वारा तय किया करेंगे।

प्रथम राष्ट्रसंघ

१९२० ई० में उक्त उद्देश्य की पूर्ति के लिए जेनेवा में राष्ट्रसंघ (लीग आफ़ नेशन्स) की स्थापना हुई थी। इस संस्था ने कुछ वर्ष तक अच्छा काम किया। इसके दो मुख्य कार्य थे—एक राजनैतिक विवादों का पारस्परिक संधिचर्चा द्वारा निर्णय और दूसरे अन्तर्राष्ट्रीय रूप से समाजसेवा की व्यवस्था जैसे अफ़ीम और स्त्रियों के व्यापार पर रोक, शिक्षा-प्रसार तथा मजदूरों को सुख-सुविधा आदि। अनेक समस्यायें इसके सामने आईं और हल भी हुईं, किन्तु कुछ समय बाद पारस्परिक स्वार्थ के कारण विकट प्रश्नों का निर्णय ठीक तरह नहीं हो सका। राष्ट्रसंघ में उन्हीं राष्ट्रों का बोलबाला था जो स्वयं बड़े बड़े साम्राज्य हथियाये हुए थे। जब जापान ने चीन के मंचूरिया पर आक्रमण किया, तो वे किस मुंह से उसका विरोध करते? जब इटली ने अबीसीनिया पर आक्रमण किया, तब भी राष्ट्रसंघ कुछ कर न सका। सब बड़े राष्ट्रों में परस्पर अविश्वास पहले की भांति था। संघ के पास अपनी कोई शक्ति न थी, जिससे अपराधी देश को दण्ड दिया जा सकता। जर्मनी ने जब देखा कि राष्ट्र संघ किसी अपराधी को दण्ड नहीं दे सकता, तब उसने सब संधियों को भंगकर के पोलैण्ड पर आक्रमण कर दिया और कुछ देर बाद समस्त विश्व युद्ध की ज्वाला में जलने लगा। राष्ट्रसंघ भी जीवित न रह सका। वह भी इसी ज्वाला में भस्म हो गया।

नये राष्ट्रसंघ की स्थापना

१९३९ के महायुद्ध में संसार ने जिस भीषण विध्वंस व प्रलय के दर्शन किए, वह कल्पनातीत था। युद्ध के विजेता राष्ट्र भी इसकी पुनरावृत्ति नहीं

चाहते थे। युद्धकाल में ही ब्रिटेन, रूस और अमेरिका में जो जो सम्मेलन हुए, उनमें युद्ध विजय की चर्चा के साथ साथ भावी विश्व व्यवस्था पर भी विचार किया जाता रहा। अतलांतक सम्मेलन में आक्रमणकारी देशों द्वारा पराजित देशों को स्वशासन का अधिकार, विश्वशान्ति की स्थापना, स्वराज्य और समानता तथा किसी दूसरे देश के अधिकारों तथा भूमिभागों का अपहरण करना आदि कुछ सिद्धान्तों की घोषणा की गई थी। बलप्रयोग के त्याग करने, आर्थिक प्रगति और सामाजिक सुरक्षा का भी वचन दिया गया था। २४ अक्तूबर १६४४ में इस दिशा में पहला कदम उठाया गया, जबकि वाशिंगटन में डबर्टन ओक्स भवन में एक कान्फ्रेंस की गई। इसमें विश्व राष्ट्रसंघ बनाने का निश्चय किया गया। इसके अनुसार सानफ्रांसिस्को में विविध राष्ट्रों के २०० प्रतिनिधियों, ६०० कर्मचारियों और ३०० कान्फ्रेंस सैक्रेटरियों की कान्फ्रेंस हुई। उद्देश्य यह रखे गये—अंतर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा को कायम रखना, राष्ट्रों में परस्पर मित्र भाव की वृद्धि, आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक और सार्वदेशिक समस्याओं के हल के लिए सब राष्ट्रों का सहयोग और इन सब उद्देश्यों के लिए अंतर्राष्ट्रीय संगठन। इसके साथ ही सब राष्ट्रों के बल प्रयोग छोड़ने, विवादग्रस्त मामलों का संघ द्वारा निर्णय कराने आदि की भी घोषणाएं की गईं।

पांच संस्थाएं

नये संयुक्त राष्ट्रीय संघ के लिए जिसे अंग्रेजी में यू. एन. ओ. के संक्षिप्त नाम से बुलाया जाता है, पांच अलग अलग संस्थायें बनाई गईं—असेम्बली, सुरक्षासमिति, आर्थिक और सामाजिक समिति, ट्रस्टीशिप कौंसिल और अंतर्राष्ट्रीय न्यायालय।

नई समस्याएं

यह नया सं० राष्ट्रसंघ जिस उत्साह के वातावरण में स्थापित हुआ था, उस उत्साह से काम नहीं कर सका। इसका मुख्य कारण था राष्ट्रों की स्वार्थ-भावना। उसके सामने एक से एक कठिन समस्याएं आईं और इसमें सन्देह

नहीं कि वह कुछ सीमा तक सफल भी हुआ है। सबसे अधिक कठिन और पेचीदा प्रश्न सुरक्षा समिति के पास आये, उनमें से कुछ प्रमुख निम्नलिखित हैं। इजराइल में अरबों व यहूदियों का संघर्ष, काश्मीर पर पाकिस्तान का आक्रमण, दक्षिणी अफ्रीका में भारतीयों से दुर्व्यवहार, इण्डोनीशिया की स्वाधीनता, दक्षिणी पूर्वी अफ्रीका का शासन, इरिट्रिया आदि इटली के उपनिवेश, ग्रीस पर समीपवर्ती देशों के आक्रमण, अणुबम पर नियंत्रण, कम्यूनिस्ट चीन की संघ में सदस्यता, कोरिया में गृह-युद्ध, बर्लिन की रूस के द्वारा नाकाबन्दी, ईरान व अंग्रेजों का तेल सम्बन्धी झगड़ा, मिश्र का अंग्रेजों से स्वेज़ नहर सम्बन्धी संघर्ष और अणुबम व शस्त्रास्त्र वृद्धि पर रोक। ये सभी मामले पेचीदे हैं। राष्ट्रसंघ के सदस्य परस्पर स्वार्थ के कारण गुणावगुण की दृष्टि से इन पर विचार नहीं कर सके। आपसी दलबन्दी की दृष्टि से विचार के कारण इनके समाधान में कुछ कठिनता हुई (काश्मीर का प्रश्न इसी कारण उलझा पड़ा है) फिर भी आंशिक सफलता अवश्य मिली है। इजराइल और काश्मीर में विराम संधि हो चुकी है, इण्डोनीशिया का प्रश्न हल हो चुका है, बर्लिन का प्रश्न भी अस्थायी रूप से हल हुआ है। परन्तु सबसे बड़ी सफलता जिस पर राष्ट्रसंघ के अधिकारी गर्व करते हैं, कोरिया में आक्रमणकारी के विरुद्ध रा० संघ का संयुक्त रूप से कदम उठाना है।

संगठन में दोष

वस्तुतः संसार की राजनैतिक समस्यायें ※ बहुत विषम हैं और मानव अभी तक स्वार्थ से ऊपर नहीं उठ सका, इसलिए राष्ट्रसंघ बहुत सफल नहीं हो सका। इस संघ के संगठन में भी कुछ दोष रह गये हैं। एक दोष तो यह है कि राष्ट्रसंघ में पांच देशों को—अमेरिका, ब्रिटेन, रूस, फ्रांस और चीन को बहुत अधिक महत्त्व दे दिया गया है। उन्हें सुरक्षा-समिति का स्थायी सदस्य मान लिया गया है। फिर इन पांचों को प्रत्येक प्रश्न पर अपने निषेध-अधिकार का प्रयोग करके शेष सबका निरादर करने का अधिकार प्राप्त है। दक्षिणी कोरिया,

※ इन समस्याओं का परिगणन पृथक् लेख में पढ़िए।

लंका, अफ़गानिस्तान आदि देश केवल रूस के विरोध के कारण राष्ट्रसंघ के सदस्य नहीं बनाये गये। तीसरा दोष यह है कि इस संघ के पास भी अपने निश्चय को क्रियान्वित करने के लिए सशस्त्र शक्ति नहीं है। इजरायल, पाकिस्तान, दक्षिणी अफ्रीका आदि को संघ अपने निश्चयों के लिए विवश नहीं कर सका। कोरिया के प्रश्न पर भी अमेरिका की विशेष रुचि थी, इसीलिए अधिकांश सेना उसी को देनी पड़ी।

सामाजिक सेवाएं

आज भी संसार की अधिकांश राजनैतिक व आर्थिक समस्यायें हल नहीं हुई, किन्तु इसी कारण संयुक्त राष्ट्र संघ को असफल नहीं कहा जा सकता। अराजनीतिक क्षेत्र में संघ ने कम सफलता नहीं पाई है। सं० राष्ट्रसंघ मानव हितकारी बहुत से कार्य कर रहा है। अन्तर्राष्ट्रीय बाल संकट कोष की स्थापना करके ५० देशों में बच्चों को खाने कपड़े और चिकित्सा सम्बन्धी सुविधायें दी गई हैं। संयुक्त राष्ट्रीय शरणार्थी संगठन के द्वारा १० लाख से अधिक युद्ध पीड़ितों की सहायता की जा चुकी है। विश्व-स्वास्थ्य-संगठन के सहयोग से संसार की ७४ सरकारें अपने-अपने प्रदेशों में रोगों को दूर करने में प्रयत्नशील हैं। संसार भर में दुर्भिक्ष और भूख के विरुद्ध भी ज़ोरदार संघर्ष किया जा रहा है। विविध देशों में अन्नादि के उत्पादन बढ़ाने में यह संगठन सहयोग दे रहा है ट्रैक्टर खाद्य और बीज आदि इसकी ओर से दिये जाते हैं। शिक्षा, विज्ञान एवं संस्कृति संगठन (यूनैस्को) के द्वारा संसार से निरक्षरता को दूर करने में वह प्रयत्नशील है। अल्पविकसित देशों को सहायता देने के लिए एक अन्तर्राष्ट्रीय बैंक की स्थापना की गई है, जो विभिन्न देशों को विकास योजनाओं के लिए ऋण देता है। ट्रस्टी शिप कौंसिल के द्वारा राष्ट्रसंघ अपने अधीनस्थ प्रदेशों में १ करोड़ ७० लाख व्यक्तियों की उन्नति में क्रियाशील है। मानव के मौलिक अधिकारों की घोषणा संघ का एक महान् कार्य है, जिसमें नागरिक की स्वतंत्रता की विस्तार से घोषणा की गई है।

भविष्य

संयुक्तराष्ट्र संघ के प्रधान मंत्री श्री ट्रिग्वेली ने कहा है कि "विश्वशान्ति

को खतरे में डालने वाले प्रायः सभी गंभीर प्रश्न किसी न किसी रूप में संघ के सामने आये हैं और इससे प्रकट है कि शान्ति, सुरक्षा और अपनी जनता की भलाई व उन्नति चाहने वाले सभी राष्ट्र संघ को आशापूर्ण नेत्रों से देखते है।" वस्तुतः राष्ट्रसंघ संसार में शान्ति स्थापित कर सकता है, किन्तु इसके लिए आवश्यक यह है कि आज जिस तरह वह स्वयं शान्ति के बदले रूस व अमेरिका की दलबन्दी का अखाड़ा बन रहा है, वह वैसा स्वरूप बदल ले। यदि संघ के नेताओं ने स्वार्थ पर विजय न पाई, तो प्रथम संघ की भांति इसकी भी दुर्गति की भविष्यवाणी की जाने लगी है। भारत ने विशुद्ध तटस्थता की नीति अपनाई है सम्भव है कि उसके नेतृत्व में एक शक्तिशाली तटस्थ दल का निर्माण हो जाय। और राष्ट्रीय स्वार्थ पर अन्तर्राष्ट्रीयता या विश्वबन्धुत्व की भावना विजय पा ले, तभी राष्ट्रसंघ विश्वशान्ति में सफल हो सकेगा।

विश्व शान्ति का स्वप्न

रूपरेखा

१—भयंकर विनाश के बाद फिर विश्व तीसरे महायुद्ध की तैयारी में—युद्ध से घोर विध्वंस।

२—कारण—मानव की पशुवृत्ति मूल में—पूंजीवाद—साम्राज्यवाद—मशीनरी युग की समाप्ति और स्वर्ग की कामना – फिर हजारों साल पीछे—पर यह असंभव—वैज्ञानिक उन्नति नाश नहीं हो सकती—प्रकृति पर विजय के लिए दौड़-धूप जारी।

३—परन्तु मन पर विजय नहीं—विज्ञान से दैत्य-शक्ति मानव को मिली।

४—विसारक आशावादी—विश्वशान्ति के-प्रयत्नों में असफलता—पर फिर भी मानव ऊंचा उठेगा अवश्य—जंगली से परिवार बिरादरी—नगर की

सीमा लाँघकर देश तक पहुंचा - अब राष्ट्र की सीमा लांघकर देश का नागरिक बनेगा—संभवतः देर लगेगी परन्तु होगा अवश्य—भारत की विदेशनीति शान्ति की प्रेरक।

बीसवीं शताब्दी का अभी पूर्वार्ध ही बीता है कि विश्व तीसरे महान् विध्वंसकारी युद्ध की तैयारियों में जुट गया है। पिछले विश्व-व्यापी युद्ध के भयंकर परिणाम आज तक अपने भयङ्कर रूप में प्रकट हो रहे हैं, किन्तु उन्हें भूलकर मानव फिर नये प्रलयंकर युद्ध की योजनाओं में व्यग्र हो गया है। प्रशान्त महासागर हो या अटलांटिक सागर, पूर्व हो या पश्चिम, विनाशकारी रणताण्डव के लिए समस्त देश उन्मत्त हो गये हैं। ज्यों ज्यों मानव विज्ञान की सहायता से अधिक बल और दानवी शक्ति प्राप्त करता गया है, उसका हृदय भी दानवों जैसा क्रूर और निर्दय होता गया है। पहले युद्ध केवल रण-क्षेत्रों में लड़े जाते थे, किन्तु अब तो निरपराध जनता—हज़ारों दुधमुंहे बालक, स्त्रियाँ और बूढ़े अपने अपने घरों में सोते हुए एक परमाणुबम से नष्ट कर दिये जाते हैं।

पीछे की ओर लौटो

आखिर यह सब क्यों होता है? अधिकांश विचारक कहते हैं कि इस सब के मूल में मानव की पशुवृत्ति—परस्पर ईर्ष्या, द्वेष असन्तोष और अधिक से अधिक पाने का लालच कारण है। जिस दिन मानव जाति इन दुर्गुणों से ऊपर उठ जायगी, उसी दिन संसार स्वर्ग बन जायगा, मानव दानव से देव हो जायगा। मानव की पशुवृत्ति के मूल में कुछ लोग पूंजीवाद को देखते हैं और साम्राज्यवाद का मूल कारण भी पूंजीवाद को मानते हैं। उनकी सम्मति में पूंजीवाद का वध कर दो, संसार स्वर्ग बन जायगा। विचारकों की एक तीसरी श्रेणी भी है। उसका दृढ़ विश्वास है कि पूंजीवाद भी तब तक नष्ट न होगा, जब तक कि उसका मूलकारण मशीनरीवाद बड़े बड़े लोहमय दानव (कारखाने) जिनके आधार पर मनुष्य गर्व करता है, बिलकुल खत्म न कर दिया जाय। जबतक मशीनरी रहेगी, भारी मात्रा में उत्पत्ति का साधन रहेगा, तब

तक स्वयं भगवान् भी मनुष्य को अत्युत्पत्ति के प्रलोभन से न रोक सकेगा। और जब अत्युत्पत्ति हुई, तो फिर माल खपाने के लिए साम्राज्य चाहिए तथा साम्राज्य-विस्तार के लिए पारस्परिक संघर्ष चलेंगे ही। इसलिए आवश्यकता इस बात की है कि संसार फिर हज़ारों बरस पीछे लौट चले, जीवन के वर्तमान संघर्षमय आदर्श व क्रम को हम बदलकर सरल बनायें, भौतिक दृष्टिकोण को छोड़कर आध्यात्मिक आदर्श अपने सामने रखें ग्रामोद्योगों को पुनरुज्जीवित करें और मेहनत करके सादा जीवन बितावें। अपनी आवश्यकताएं कम करने से ही हम अपने उस प्रलोभन को नष्ट कर सकेंगे, जो हमारे हृदय में दूसरे के माल या मुल्क हथियाने की प्रेरणा करता है। इस तरह विचारकों की यह श्रेणी मानव जाति को फिर से कई सौ बरस पीछे ले जाना चाहती है। विज्ञान के बल पर मनुष्य प्रकृति को वश में करके जो अभिमान करने लगा है, उसको भी यह विचारक श्रेणी समाप्त करना चाहती है। इसके अनुसार जब सब गाँव स्वावलम्बी हो जावेंगे, जब सब देश स्वावलम्बी हो जायेंगे, तब सब संघर्ष भी समाप्त हो जायगा।

तब फिर ?

सचमुच वर्तमान संसार और पाश्चात्य संस्कृति के इस विध्वंसकारी रूप को देखकर चिन्तनशील मानव नेताओं के हृदय में वर्तमान संस्कृति के प्रति खेद व तीव्र विरक्ति पैदा होना स्वाभाविक है, लेकिन क्या ऐसा होना संभव भी है ? क्या मनुष्य अपनी सदियों की उन्नति, सदियों के वे आविष्कार जिन पर वह गर्व करता है, भूल जायगा ? क्या सचमुच मनुष्य एक एक देश में करोड़ों अरबों रुपयों से बने हुए कारखाने, रेलगाड़ियां आदि तोड़ फोड़ फैंकेगा ? क्या सचमुच सब यातयात छोड़कर वह अपनी सभ्यता को स्वयं नष्ट कर डालेगा ? क्या वह परस्पर ईर्ष्या द्वेष छोड़कर पशु से सचमुच देव बन जायगा ? इन सब प्रश्नों का उत्तर 'हां' में मिलना कठिन है।

तब फिर इस संसार का क्या होगा ? क्या संसार की गाड़ी ऐसे ही चलती रहेगी ? विध्वंस, रक्तपात और प्रलय का यह चक्र ऐसे ही जारी रहेगा ? क्या

मनुष्य पशु बना रहेगा देव न बन सकेगा ? इस प्रश्न का भी उत्तर 'हां' में नहीं दिया जा सकता। तब फिर होगा क्या ?

मनुष्य सदा से प्रकृति से युद्ध करता आया है। प्रकृति से मानव का संघर्ष ही मानव जाति का इतिहास है। इसी संघर्ष के कारण वह जंगली से आज मनुष्य हो सका है। खेती करना, कपड़े और मकान बनाने आदि सभी प्रकार की उन्नति प्रकृति से संघर्ष करते हुए उसने अपनी जीवन रक्षा के लिए कीं। अपने आराम और सुख के लिए उसने देश-देशान्तरों को छान डाला और काल व स्थान की दूरी को कम करने के लिए उसने रेलगाड़ी, मोटर और हवाई जहाज़ बनाये। आज भी उसे अपनी प्रगति से संतोष नहीं है और वह और भी आगे बढ़ना चाहता है। न जाने विज्ञान की यह दौड़ कहाँ समाप्त होगी ?

लेकिन इतनी उन्नति के साथ वह दूसरी ओर गिर भी गया। उसने प्रकृति को वश मे कर भी लिया, परन्तु वह अपने मन को अपने वश में नहीं रख सका। विज्ञान के महान् साधनों को पाकर उसका पशुत्व और भी अधिक वेग से प्रकट होने लगा। उसने सांसारिक सुख में ही अपना अन्तिम ध्येय देखा। अपना जीवनस्तर बढ़ाने—अपनी आवश्यकताओं की अधिकाधिक सृष्टि कर उन्हें पूर्ण करने में वह लग गया। उसकी वृत्ति बहिर्मुखी होने लगी। मानसिक वासनाओं को वह वश में नहीं कर सका। इसके विपरीत वही उस पर हावी हो गई।

आशा की किरण

तब क्या होगा ? क्या वह अपने मन को वश में नहीं कर सकेगा ? आशावादी विचारक हताश नहीं हुए हैं। बुद्ध, ईसा म. गाँधी आदि महान् नेता समय समय पर अवतार लेकर मानव को शान्त, अहिंसक और दयार्द्र होने का संदेश देते रहे हैं। युद्धों से ऊबकर मनुष्य ने बहुत बार शक्ति के प्रयत्न किये। राष्ट्रसंघ अन्तर्राष्ट्रीय बन्धुत्व की भावना का ही परिणाम है। विश्व-शान्ति के इस प्रयत्न में वह बराबर लड़खड़ा उठता है। स्वार्थ विश्व-प्रेम पर

हावी हो जाता है और फिर विश्व में युद्ध की रणभेरी बज उठती है, किन्तु आशावादी विचारक आज भी विश्वास करता है कि बार बार ठोकरें खाकर मनुष्य शिक्षा पायगा—अवश्य पायगा। एक न एक दिन, चाहे इसमें कुछ देर लगे, उसे यह समझ अवश्य आयगी कि युद्ध नहीं, शान्ति ही से मानव स्थायी उन्नति कर सकता है।

आज की गतिविधि को देखकर भी वह आशावादी है। रूस व अमेरिका ने आज समस्त विश्व को प्रायः दो भागों में विभक्त कर दिया है। दोनों ओर ही असाधारण तैयारियां हो रही हैं, फिर भी वह शान्ति के स्वप्न देखता है। भारत में उसे आशा की किरण दिखाई देती है। आज भारत की विदेशी नीति के दो रूप हैं। एक तो साम्राज्यवाद का विरोध, दूसरे प्रत्येक प्रश्न पर गुणावगुण की दृष्टि से विचार तथा तटस्थता। उसकी यह नीति आज फलवती न हो रही हो किन्तु वह दिन दूर नहीं है, जब संसार के प्रायः सभी राष्ट्र और विशेषकर छोटे राष्ट्र स्वतंत्र होकर साम्राज्यवादी शक्तियों के जाल से न केवल अपने को बचा लेंगे, बल्कि उनके हाथ में खेलने से भी इन्कार कर देंगे। तब उनका प्रभाव नष्ट हो जायगा, साम्राज्य कथावस्तु बन जायेगा और तब सब राष्ट्र और राष्ट्रों की जनता समानता के आधार पर ही परस्पर मिलेगी। ऐसा समय आयगा अवश्य। यह संभव है कि उसमें दस बीस साल लगें या दो चार बार और विध्वंस का ताण्डव देखकर एक दो सदियों बाद मानव शान्ति का पाठ सीखे।

विश्व की विषम समस्याएं

१. संसार में सदा से संघर्ष—परन्तु शक्ति और साधनों की वृद्धि के साथ साथ संघर्ष का रूप व्यापक और विस्तृत होता जा रहा है—आज भी संसार के भिन्न-भिन्न भागों में परस्पर संघर्ष—मूल कारण भौतिक स्वार्थ – अपन

२. कुछ मूल समस्यायें—राष्ट्र संघ दलबन्दी का अखाड़ा—उत्तरी व दक्षिणी कोरिया किस तरह दो देश बने ?—परस्पर युद्ध कम्यूनिस्टों व अमरीका का युद्ध—कम्यूनिस्ट चीन, राष्ट्रसंघ में प्रवेश का प्रश्न—चांगकाई शेक को अमेरिका का समर्थन—चीन और रूस की संधि से अमेरिकन गुट की चिन्ता—चीन का कम्यूनिस्ट बन जाना रूस की बहुत बड़ी विजय—पूर्वी एशिया में रूस का प्रभाव—दक्षिण पूर्वी एशिया में भी आशंका – सब देशों में कम्यूनिस्टों का दृढ़ संगठन—हिन्द चीन में होचिमन का प्रबल दल संघर्ष में व्यस्त। इण्डोनीशिया स्वतन्त्र, परन्तु वहां भी कम्यूनिस्ट सक्रिय हैं।

आस्ट्रेलिया राष्ट्रमण्डल का सदस्य—सामूहिक सुरक्षा की प्रशान्तसंधि के के लिए उत्सुक—ब्रिटेन के सामरिक अड्डों का निर्माण।

भारत स्वतन्त्रता के बाद अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में—दोनों गुट अपनी ओर खींचने में उत्सुक—तटस्थता की नीति से रुष्ट – भारत में कम्यूनिस्ट उपद्रव रूसी संकेत पर—पाकिस्तान से संघर्ष—शान्ति के प्रयत्नों की असफलता—काश्मीर पर आक्रमण—भारत की दृढ़ता—राष्ट्र संघ का भी विरोध—पाकिस्तान से निरन्तर संघर्ष—किसी भी समय उग्ररूप।

पाकिस्तान व अफ़गानिस्तान में संघर्ष—पख्तूनिस्तान (पठानों का स्वतन्त्र राज्य) का पेचीदा सवाल – पठानों में पाकिस्तान से असन्तोष—पठान सरकार की स्थापना—पाकिस्तान अमरीका का समर्थक; इसलिए रूस इससे बहुत मित्रता नहीं कर सकता।

मध्यपूर्व की स्थिति भी आशाजनक नहीं—रूस ईरान की खाड़ी में आने को उत्सुक—ईरान में अंग्रेज़ विरोधी भावना—तेल कम्पनी का राष्ट्रीयकरण संघर्ष में वृद्धि—ईरान के प्रति रूस की सहानुभूति व सद्भावना—ईराक में भी तेल का राष्ट्रीयकरण-प्रस्ताव। इजरायल मे यहूदियों व अरबों में संघर्ष।

मिश्र में स्वेज नहर पर अंग्रेज़ी सेना—मिश्र द्वारा १६३६ की सन्धि की समाप्ति—ब्रिटेन से तीव्र मतभेद—मामला राष्ट्र संघ में—छोटी-छोटी झड़पें

शुरू—किसी भी समय विस्फोट की सम्भावना—सूडान पर मिश्र की अंग्रेज़ों की इच्छा उसे स्वतन्त्र बनाने की।

अफ्रीका महाद्वीप भी समस्याओं का द्वीप—पराजित इटली के उपनिवे का भविष्य—दक्षिणी अफ्रीका में नागरिक अधिकारों की प्राप्ति के ि भारतीयों का संघर्ष—दक्षिणी पश्चिमी अफ्रीका के पुराने जर्मन उपनिवेशों शासन कौन करे ?

समस्त यूरोप ज्वालामुखी के ऊपर—पूर्वी आधा यूरोप रूस की ओ और पश्चिमी यूरोप दूसरी ओर विभक्त जर्मनी पर दोनों गुटों का अधिव पश्चिमी और पूर्वी दो जर्मनी—एकता के नये प्रस्ताव—अटलांटिक पैक्ट पश्चिमी यूरोप की रक्षार्थ संयुक्त सैनिक संगठन—रूस का बलकान राष्ट्रों असाधारण प्रभाव—साम्यवादी यूगोस्लोविया भी रूस के विरुद्ध—फ्रांस इटली में कम्यूनिस्टों के संघर्ष समस्त यूरोप दो गुटों में।

अमेरिका यूरोप व एशिया से बहुत दूर होकर भी दोनों को अपने प्रभ में लाने को उत्सुक—युद्ध में तटस्थता नीति का त्याग और अपनी उत्पाद की दैत्यशक्ति का अनुभव—समस्त विश्व पर शासन की महत्त्वाकांक्षा—अ बमों के कारण उसका दर्प और भी बढ़ गया।

इस तरह समस्त विश्व में अशान्ति की चिगारियाँ—रूस अमरीका व गुटबन्दी—तीसरे विश्व युद्ध को रोकने की तैयारी, पर वह पास आ रहा है विश्व शान्ति के लिए विश्व-बन्धुत्व की आवश्यक भावना।